साहित्यिक निबन्ध

हिन्दी साहित्य की उच्च-कक्षाओं के लिए

लेखक

डॉ० राजकुमार पाण्डेय, एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली

एवं

प्रो० ओमप्रकाश शर्मा, एम० ए०

हिन्दी साहित्य की अनेकों पुस्तकों के लेखक

अनुक्रमणिका

१. साहित्य और संस्कृति १-१०
२. सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् ११-१९
३. कला-स्वरूप और वर्गीकरण २०-३२
४. भाषा-प्रवृत्ति और उत्पत्ति ३३-४७
५. राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएं व समाधान ४८-६४
६. देवनागरी लिपि ६५-७२
७. आदिकालीन साहित्य ७३-८५
८. भक्तिकालीन काव्य ८६-१०१
९. प्रेम-साधक कबीर १०२-११५
१०. सूफी मत और जायसी ११६-१२९
११. मुसलमान कवियों की हिन्दी-सेवा १३०-१४०
१२. रीतिमुक्त काव्य और उसके कवि १४१-१५१
१३. छायावादी काव्य १५२-१६३
१४. प्रगतिवाद १६४-१७५
१५. प्रयोगवादी कविता (नयी कविता) १७६-१८९
१६. हिन्दी गद्य का विकास १९०-२००
१७. हिन्दी गद्य की विविध विधाएं २०१-२१८
१८. हिन्दी नाटक २१९-२३०
१९. हिन्दी निबंध : स्वरूप और विकास २३१-२४८
२०. हिन्दी कहानी २४९-२६१
२१. प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास २६२-२७३
२२. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास २७४-२८४
२३. हिन्दी समालोचना: स्वरूप और विकास २८५-३००
२४. हिन्दी मुक्तक काव्य ३०१-३११
२५. नवीन गीति काव्य ३१२-३२४
२६. हिन्दी के महाकाव्य ३२५-३३९
२७. अठारहवीं शती के प्रमुख प्रबंध ३४०-३५६
२८. रस सम्प्रदाय ३५७-३७६
२९. ध्वनि सम्प्रदाय ३७७-३८८
३०. अलंकार सम्प्रदाय ३८९-४०२
३१. वक्रोक्ति सम्प्रदाय ४०३-४१४
३२. रीति सम्प्रदाय ४१५-४२९
३३. औचित्य सम्प्रदाय ४३०-४३८

१

साहित्य और संस्कृति

१. साहित्य का अर्थ।
२. साहित्य की प्रेरक शक्तियां।
३. साहित्य के लक्षण।
४. संस्कृति से तात्पर्य।
५. संस्कृति और सभ्यता का अन्तर।
६. साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध।
७. उपसंहार।

'साहित्य' शब्द बड़ा व्यापक शब्द है। इसका अर्थ स्पष्ट करना इतना सरल कार्य नहीं है जितना समझ लिया गया है। साहित्य की व्यापकता उसे सीमा में बांधने से इन्कार करती है। साहित्य ने अपनी व्यापकता में अनेक ऐसी विशेषताओं को जन्म दिया है कि उन सबको एक परिभाषा के माध्यम से व्यक्त करना बड़ा कठिन कार्य है।

'साहित्य' शब्द यद्यपि भारतीय है फिर भी उसमें अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द की गहरी छाप है। 'लिटरेचर' शब्द की व्युत्पत्ति 'लैटर' अर्थात् लिखित वर्ण से है इसलिए अपनी व्यापकता के कारण 'साहित्य' शब्द में वह सम्पूर्ण सामग्री आती है जो लिखी जाती है। 'साहित्य' शब्द संस्कृत के 'सहित' शब्द से लिया गया है। 'सहित' का अर्थ है अनेक वस्तुओं का मेल या मिलन। कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि 'सहित' शब्द का अर्थ 'कल्याण' से है। अतः साहित्य के मूल में सम्मिलन और कल्याण दोनों ही भाव हैं। वस्तुतः हम किसी भी अर्थ को ग्रहण करें, बात घूम फिर कर एक ही बिन्दु पर पहुँच जाती है।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि 'साहित्य' में सामाजिक तत्व विद्यमान रहता है। साहित्य का सृजन तभी होता है जबकि उसमें व्यक्ति के साथ समाज जुड़ा होता है। डा० रामअवध द्विवेदी ने लिखा है कि "साहित्य चाहे वह कला के अर्थ में लिया जाय अथवा केवल लिखित सामग्री के रूप में, सदा सामाजिक प्रयोजन रखता है, उसका निर्माण किसी के लिए होता है। साहित्य सदैव विचारों और भावों के वहन का कार्य करता है तथा वह आत्म-निवेदन का साधन है।" पश्चात्य विद्वानों में इस बात को लेकर बड़ी खींचतान हुई है कि कला या साहित्य केवल आत्म-प्रकाशन है अथवा प्रेषण का भी कार्य करता है। भारतीय विद्वानों की भांति पाश्चात्य विद्वानों में से

इन विद्वानों के अतिरिक्त हिन्दी में भी अनेक विद्वानों ने साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अनेक परिभाषाएँ बताई हैं, उनमें से कुछ प्रमुख यह हैं:--

७--महावीरप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "ज्ञानराशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।"

८--श्यामसुन्दरदास ने साहित्य शब्द का प्रयोग दो रूपों में किया है--एक तो छपी हुई रचना के रूप में और दूसरे कलामय पुस्तकों के रूप में।

९--प्रेमचन्द ने साहित्य की बहुत सी परिभाषाओं को देखभाल कर यह निर्णय दिया कि साहित्य जीवन की आलोचना है, चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानी के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

१०--जयशंकर प्रसाद ने साहित्य को काव्य का पर्यायवाची माना और लिखा है कि काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभतियों का नित्य नया रहस्य खोलने में प्रयत्न-शील है।

११--बाबू गुलाबराय ने साहित्य शब्द को संस्कृत शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर समझाने की चेष्टा की है। वे साहित्य शब्द का विग्रह "हितेन सह सहितम् तस्य भावः साहित्यम्" करते हैं।

इन सभी मत-मतान्तरों के आधार पर यह तो स्पष्ट है कि साहित्य शब्द बहुत व्यापक है। यदि इन सभी मतों को ध्यान में रखते हुए कुछ निष्कर्ष दें तो वह कुछ इस प्रकार से हो सकता है--साहित्य जीवन और जगत के सौन्दर्य की भावमई झांकी है जिसमें सौन्दर्य और शिवं का समावेश है। साहित्य मूल रूप से सौन्दर्य का पक्षपाती है किन्तु सौन्दर्य में पक्षधर बनने के साथ साथ वह समाज को नहीं भुला सकता।

साहित्य की मूलभूत प्रेरक शक्तियाँ हड्सन ने चार मानी हैं--(1) Our desire for self expression अर्थात् आत्माभिव्यक्ति की इच्छा (2) Our interest in people and their doings अर्थात् मनुष्य और उनके कार्यों के प्रति रुचि (3) Our interest in the world of reality in which we live and in the world of imagination in which we consure into two existance अर्थात् संसार के प्रति हमारा आकर्षण और कल्पना जगत के निर्माण की प्रगति (4) Our love of Form as form अर्थात् रूप-विधान की कामना। वस्तुतः हड्सन द्वारा बताई गई ये चार बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त साहित्य को प्रेरित करने वाली कुछ और भी शक्तियां हैं-मानव ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, परिष्कृति की ओर चलता जाता है त्यों त्यों वह साहित्य में भी परिमार्जित और उदात्त तत्वों को भी लाता जाता है। रुचि-परिष्कार की यह भावना भी सत्साहित्य की प्रेरिका बनकर आती है। इसके अतिरिक्त साहित्य के निर्माण में तन्मयता का भी विशेष हाथ रहता है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव ने प्राकृतिक-सौन्दर्य के दर्शन करके विस्मय को अपने अन्तर में समेट लिया और विस्मय की इस स्थिति के पश्चात् रमणीय पदार्थों ने उसकी बुद्धि और चेतना को तन्मय कर लिया होगा।

यह कार्य काव्य से संभव है। श्यामसुन्दरदास ने ठीक ही लिखा है कि–'भिन्नभिन्न काव्य-कृतियों का समष्टि-संग्रह ही साहित्य है।' इस प्रकार संग्रह रूप में जो साहित्य है, मूल्य रूप में वही काव्य है। काव्य अथवा साहित्य के लक्षणों को जानने के लिए भारतीय आचार्यों ने विभिन्न सम्प्रदायों के माध्यम से लक्षण बताये हैं। यह निम्नलिखित हैं:—

१. अलंकार मतः—दंडी और भामय इसके अनुयायी थे। इन्होंने अलंकार को काव्य की आत्मा माना था।

२. वक्रोक्ति मतः—आचार्य कुन्तक इसके समर्थक थे। इन्होंने 'वक्रोक्ति-काव्य जीवितय' कहकर इसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया।

३. रीति सिद्धांतः—इस सिद्धान्त का प्रचारक वामन नामक आचार्य था। रीति से इनका अभिप्राय पद रचना की विशेषता से था।

४. ध्वनि सिद्धांतः—आचार्य आनन्दवर्धन ने इस सिद्धान्त की स्थापना करके कहा कि जो कुछ शाब्दिक रूप से वर्णित होता है वही काव्य का लक्ष्य नहीं, अपितु काव्य का एक व्यंजित अर्थ भी होता है। इन्होंने इसके महत्व को भी स्वीकार किया।

५. रस-सिद्धांतः—इस सिद्धांत के प्रतिपादक भरतमुनि माने जाते हैं। इन्होंने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया और कहा कि इसके अभाव में कोई भी काव्य, काव्य नहीं है।

इन सिद्धांतों को देखने से कुछ अलग-अलग विचार सामने आते हैं। वास्तव में साहित्य के लक्षण बताने के लिए उसके दो भेद स्वतः ही कर लेने पड़ते हैं। एक भेद तो शरीर से सम्बन्धित है दूसरा आत्मा से। साहित्य में वाच्य पक्ष की प्रधानता मानने वाले आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकारा है। संस्कृति के आचार्यों के अतिरिक्त हिन्दी के कवि केशवदास 'भूषण विनु निशिजई कविता, वनिता मित्र' कहकर साहित्य की आत्मा अलंकार को स्वीकार किया है। 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता ने अलंकार को प्रधान माना और आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' कहकर रस को सर्वोपरि माना। पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य के चार तत्व बताये—कल्पना तत्व, वुद्धि तत्व, भाव तत्व और शैली तत्व। इन्हीं के आधार पर उन्होंने साहित्य के लक्षण बताये हैं। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि साहित्य वह है जिसमें मनोभावात्मक, कल्पनात्मक, बुद्धयात्मक और रचनात्मक तत्वों का समावेश होता है।

संस्कृतिः—संस्कृति का अंग्रेजी शब्द (Culture) है। इसी से मिलता-जुलता शब्द (Agriculture) अर्थात् कृषि है। कृषि की भी एक संस्कृति होती है। कृषि में जिस प्रकार बीज बोना, उगना, सम्हालना और सुरक्षित रखना होता है उसी प्रकार संस्कृति में संस्कारों के बीज बोये, उगाये और सम्हाले जाते हैं। इतना ही नहीं, जिस प्रकार बीज एक दिन में उगकर बड़ा नहीं हो जाता है, उसी प्रकार संस्कृति भी एक दिन में निर्मित नहीं हो जाती।

संस्कृति शब्द की अनेक परिभाषाएं प्रचलित हैं। कई समुदाय तो यह भी कहते हैं कि समुदाय जब मानव जीवन की क्रियाओं पर दृष्टि निक्षेप करता है तो उसे संस्कृति कहते हैं। नीचे कुछ प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा संस्कृति की परिभाषाओं का उल्लेख किया जा रहा है:—

१. "संस्कृति के क्षेत्र में चेतना और व्यवहार दोनों का विलास रहता है। चेतना क्षेत्र में संस्कृति वह ज्ञान समीरण है जो मानव जीवन की सरिता में क्रियानुराग भावोर्मियों को जन्म देकर युग-तल पर अपने गति-चिन्ह अर्पित करती चली जाती है, जिसका आलिंगन सरस एवं मधुर है, और उसमें झंझा की भयंकरता नहीं होती। चेतना और व्यवहार दोनों से पुष्ट जीवन ही संस्कारमय जीवन होता है। मानवीय निष्ठा और विश्वास का आश्रय लेकर संस्कृति ही धर्म के रूप में प्रकट होती है।"

—डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'

२. "किसी देश या समाज के सुधार या परिष्कार का कार्य एक दिन में नहीं होता, उसके लिए एक दीर्घकाल, सतत प्रयास एवं तीव्र लगन की आवश्यकता होती है। उस समाज के सुधार एवं परिष्कार की एक दीर्घ परम्परा होती है, उस परम्परा में प्रचलित, उन्नत एवं उदात्त विचारों की शृंखला ही किसी देश या समाज की संस्कृति कहलाती है।"

—डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सैना।

संस्कृति और मानव का अभिन्न सम्बन्ध है और उसकी प्राचीनता भी इतनी ही है जितनी मनुष्य की। परन्तु संस्कृति का विकास सहज ही मनुष्य के संस्कारों के साथ होता है। मनुष्य कुछ सहज वृत्तियों को लेकर इस पृथ्वी पर आता है और वे ही सहज वृत्तियां परिवेश को पाकर पनपती हैं। मानव का प्रत्येक कार्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। परिस्थितियों को पाकर सहज वृत्तियों के परिष्कृत होने की इस क्रिया को संस्कार कहते हैं। इन्हीं संस्कारों के द्वारा मानव कर्म बनते हैं। इन्हीं संस्कारों के अनुरूप ही कर्म-पद्धति को जन्म मिलता है। इन्हीं संस्कारों की गठित समष्टि का नाम ही संस्कृति है।

सभ्यता और संस्कृतिः—को कई बार एक ही समझ लिया जाता है, पर यह भ्रम के सिवाय और कुछ नहीं। सभ्यता वह वस्तु है जो हमारे पास है। संस्कृति वह चीज है जो हम स्वयं हैं। कल-कारखाने, मोटर, हवाईजहाज और महल आदि सभ्यता के उपकरण हैं, किन्तु भोजन करने, पोशाक पहनने आदि में हम जिस रुचि का परिचय देते हैं, वह संस्कृति है। प्रत्येक सभ्य व्यक्ति सुसंस्कृत हो, यह आवश्यक नहीं है। क्योंकि संस्कृति का विकास मोटर, महल, पोशाक एवं हवाईजहाज में नहीं, बल्कि मानव हृदय में होता है। सभ्यता के पीछे शहरीपन की गंध है, वह शहरों से निकली कोई चीज़ है परन्तु संस्कृति का सम्बन्ध ग्रामीण जीवन से है। एक शब्द में सभ्यता वाह्य वस्तु है और संस्कृति आन्तरिक शक्ति। यदि सभ्यता शरीर है तो संस्कृति आत्मा। सभ्यता एक पुष्प है तो संस्कृति सुगन्ध है। दिनकर के अनुसार "संस्कृति सुख नहीं,

सदाचार है, वह ताकत नहीं विनम्रता है, संस्कृति विजय नहीं मैत्री है।" सच पूछिये तो 'कल्चर' का सही अनुवाद संस्कार नहीं कृषि होगा जो कृषण अथवा खेत जोतने का पर्याय है। मनुष्य की आत्मा भी खेत के समान है। उसके भीतर हल की जितनी रेखाएं खींची जाती हैं वह उतना ही मुलायम होता है, उर्वर होता जाता है। बस परिस्थितियों की जटिलता के साथ संस्कृति की जटिलता आवश्यक है। जिस देश की परिस्थिति जितनी अच्छी होगी, उसकी संस्कृति भी उतनी ही वैभवपूर्ण होगी। सभ्यता बाह्य आवरण है, पर संस्कृति और आत्मा के तारों में साम्य है। दया, करुणा, विनम्रता और कोमलता सभी सुसंस्कृति के ही तो प्रतीक हैं।

यदि थोड़ा बारीकी से देखा जाय तो सभ्यता संस्कृति प्रकृति से भी भिन्न गुण है; क्रोध आना प्रकृति है परन्तु उसको रोकना संस्कृति का द्योतक है। प्रतिशोध की भावना प्रकृति है और उस जहर को पचाकर अमृत बनाना संस्कृति से ही संभव है। प्रकृति एक सर्पिणी है जिसकी कुण्डली के बीच पड़ी हुई दुनियां बेचैन है और छटपटा रही है, संस्कृति एक ऐसा मंत्र है जो इस बेचैन और छटपटाते संसार को शांति और ऐश्वर्य प्रदान करता है। सभ्यता जब अपनी सीमा पर पहुँची तो एटमबम और मेघाटन बम को जन्म दिया। संस्कृति वह गुण है जिसके विकसित होने पर यह ये संहारक बम गुलाब और चम्पा के फूलों में परिवर्तित हो जायेंगे।

जब तक विज्ञान का पूर्ण उदय नहीं हुआ था, सभ्यता और संस्कृति के बीच आज की यह खाई नहीं थी। सभ्यता शरीर का गुण है और विज्ञान की समस्त कार्य-क्षमता शरीर के लिए है। डा० नगेन्द्र के अनुसार, "*संस्कृत अवस्था का नाम ही संस्कृति है* अर्थात् संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है जहां उसके प्राकृत राग, द्वेषों में परिमार्जन हो जाता है।" इसके साथ-साथ दिनकर ने कहा है यह 'नाच, गान, नाटक और खेल-कूद तक ही सीमित नहीं है पर वह इन सबसे आगे बहुत दूर तक जाती है।"

संस्कृति और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृति और साहित्य की कसौटी मनुष्य है और इसकी आधारशिला मानव-जीवन है। मनुष्यता की अनुभूति स्वार्थ से परे होकर ही अधिक मधुर और सुखदायिनी हो सकती है। संस्कृति और साहित्य इसी मधुरता और आनन्द के प्रेरक हैं। संस्कृति मानव जीवन का ऐश्वर्य है और संस्कृति-चेतना मानव जीवन का आश्रय लेकर प्रकट होती है। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियां परिस्थितियों से टकराकर संस्कार का रूप धारण करती हैं और इन्हीं संस्कारों से मनुष्य के आचार-विचार शुद्ध होते हैं जिनका परिचय लोक-व्यवहार आदि में दृष्टिगत होता है। हम संस्कृत उसी व्यक्ति को कह सकते हैं जो न केवल बाह्य रूप से भद्र कहने योग्य है अपितु मानसिक एवं आत्मिक विकास के कारण सुशील, उदार एवं महात्मा कहलाने योग्य है। संस्कृति अखण्ड और अविभाज्य है। इसके विभिन्न स्तर हो सकते हैं, भेद नहीं, यथा समाज-संस्कृति, युग-संस्कृति। समग्र विश्व की एक सामान्य मानव-संस्कृति है, जिसकी व्यापकता, विशालता का अनुभव होना सरल नह...

मानव समाज में परम्परानुकूलता का बड़ा महत्व है। मानव अपनी जाति में अविभाज्य है, जैसे जीवन। लौकिक सीमाएं मानवता को विभक्त नहीं कर सकतीं और न मानवीय संस्कृति को ही। जिस जाति के संस्कार जितने व्यापक, जितने सामंजस्यपूर्ण होते हैं वह जाति उतनी ही संस्कृत होती है। मनुष्य के संस्कार निरंतर हैं और संस्कृति भी शाश्वत और निरंतर है।

साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध

(१) ऐसा कोई भी कलाकार नहीं होता जो अतीत के सांस्कृतिक मूल्यों को भूल जाय क्योंकि संस्कृति की परम्परा कभी नष्ट नहीं होती है, और यदि वह नष्ट हो जाये तो समूचा मानव साहित्य नष्ट हो जावे। मौलिक मानवीय संस्कारों को लेकर चलने वाले साहित्यकार की रचनाएं देशकाल की सीमाएं तोड़ कर सर्वप्रिय हो जाती हैं। मंगलमय भावना की कौन सराहना नहीं करेगा? इसी कारण कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' ने तथा शेक्सपियर की रचनाओं ने विश्वख्याति प्राप्त की।

(२) साहित्य संस्कृति का इतिहास है। साहित्य वही है जो अनेक मनुष्यों के मानसिक स्तर को ऊंचा करके उन्हें मानव जीवन के सुख-दुख के प्रति संवेदनाशील बनाये। जो साहित्य मनुष्य को इधर-उधर घुमाता फिरता है, वह सच्चा साहित्य नहीं है। इस प्रकार का साहित्य अच्छी संस्कृति भी नहीं बना सकता है। प्रत्येक देश या जाति के श्रेष्ठ कवि या साहित्यकार अपनी जाति के जागरूक प्रहरी होते हैं। देश या जाति की संस्कृति उनकी वाणी में बोलती है।

(३) साहित्य का प्रयोजन आनन्द लाभ कराना है और इसी भांति संस्कृति का लक्ष्य भी मनुष्य को आनन्द लोक में ले जाना है। "प्रत्येक सकुमार कला की भांति काव्य का उद्देश्य भी भावोत्थित आनन्द की विशुद्ध तथा सर्वोच्च सृष्टि करना है।" मनुष्य के संस्कार और परिष्कार नाना धार्मिक साधनाओं और कलात्मक प्रयत्नों के परिणाम हैं। इन सबका लक्ष्य आनन्द ही है और इसीलिए 'सर्वेभवन्त सुखिनः' की प्रार्थना की गई है।

(४) संस्कृति के मूल तत्वों की उदारता देशकाल से बाधित नहीं है। सभ्यता और धर्म में उथल-पुथल हो सकती है पर संस्कृति का मौलिक रूप चिरंतन और स्थाई है। भारतीय संस्कृति इस बात का जीता-जागता उदाहरण है। उसने विदेशी सभ्यताओं से आक्रान्त होकर भी अपने तात्विक गुणों का परित्याग नहीं किया। साहित्य भी देश और काल की सीमा से मुक्त है, क्योंकि उसमें शुद्ध संस्कृति प्रवाहित होती है। युग विशेष को लेकर चलने वाला साहित्य उसके साथ ही समाप्त हो जाता है। वह मानव-साहित्य की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। रीतिकालीन साहित्य उसका उत्तम उदाहरण है।

(५) मनुष्य जब अपने मानवीय विचारों को छोड़ देता है तो वह मानवता के आसन से नीचे गिर जाता है। उसके विचारों में भी विकार उत्पन्न हो जाता है। परिणामस्वरूप साहित्य और संस्कृति दोनों ही विकार-ग्रस्त हो जाते हैं। संस्कृति

राष्ट्रीयता की प्रेरक और पोषक होती हैं। गतिहीन राष्ट्रीयता को गति देना संस्कृति का ही कार्य है और वैसे भी संस्कृति और राष्ट्र दोनों का पोषण साहित्य से होता है। अतः साहित्य व संस्कृति सम्बन्धित हैं। जब संस्कृति-प्रेरक शक्ति किन्हीं विशेष हृदयों में अनुभूति बनकर आती है तब संस्कारों के आधार पर राष्ट्रीय संगठन का निर्माण होने लगता है। इस बात को मानने से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि महात्मा गांधी के हृदय में उद्‌भूत राम-राज्य के संस्कारों ने जनता के हृदयों में राष्ट्रीयता का मंत्र फूंक दिया। गांधीजी के जो संस्कार संस्कृति के प्रेरक थे वे साहित्य के मंद स्तर को तीव्र एवं तरल करने वाले थे।

६–साहित्य और संस्कृति दोनों ही सौंदर्य के पोषक हैं। साहित्य सौन्दर्य के अभाव में नीरस है। उसकी स्थिति धूल में लिपटे हुए उस बच्चे की सी है जो चारों ओर हाथ पैर तो फेंकता है किन्तु कोई उसकी सुनता नहीं। सच ही तो है, सौंदर्य-बोध के अभाव में साहित्य की भी क्या महत्ता रह जाती है। यह बात केवल साहित्य के ही साथ लागू नहीं होती वरन् संस्कृति भी इससे अछूती नहीं है। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि दोनों ही आन्तरिक तत्व हैं।

७–संस्कृति और साहित्य दोनों का मूल आधार समाज अथवा मानव जीवन है इस बात को पूरबी तथा पश्चिमी विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि जीवन और समाज के अभाव में साहित्य खिलवाड़ मात्रा है। अत. इस तर्क के आधार पर तो यह सिद्ध होता है--मानव से विरहित होकर साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती है। संस्कृति का उद्देश्य मानव जीवन को ऊंचा उठाना है--उस ऊंचाई तक ले जाना है जिस पर पहुँच कर परिष्कारों की आवश्यकता तक नहीं रहती है। संस्कृति का मंगल-प्रद सुखद स्वर सामान्य गुणों के कारण व्यक्ति से समाज में होकर आनन्द की ओर बहता है।

८–संस्कृति और साहित्य दोनों ही सामाजिक मर्यादाओं के पोषण-कर्ता हैं। दोनों ही घनिष्ट मित्रों की तरह एक दूसरे का ध्यान रखते हुए अपना कर्तव्य पूरा करते हैं। साहित्य और संस्कृति में जिन मर्यादाओं का पोषण किया जाता है उन्हें धर्म नाम से भी अभिहित किया जाता है। धर्म संस्कृति का ही अंग है। मानव वर्ग और मानव-संस्कृति अभिन्न है। संस्कृति का विरोध साहित्य का ही विरोध है।

९–संस्कृति सामाजिक व्यवहारों की निर्धारणी, भाषा और साहित्य की पोषक-शक्ति है। संस्कृति में पारस्परिकता के संस्कार का बड़ा महत्व है। जिस समाज के व्यक्तियों की वृत्तियां जितनी व्यापक, उदार और समन्वयपूर्ण होती हैं वह समाज उतना ही उन्नत होता है--उन्नत समाज में उन्नत साहित्य की सर्जना होती है।

१०–संस्कृति का सम्बन्ध दूसरे देशों से भाषा के माध्यम से होता है। जब दो संस्कृतियां परस्पर मिलती हैं तो भाषा उनके बीच में मध्यस्थता का कार्य करती है। यही मध्यस्थता साहित्य में भी चलती है। साहित्यकार के भावों को पाठक तक प्रेषित करने के लिए भाषा ही काम आती है। भाषा सांस्कृतिक चेतना का आदि–

स्वरूप है। उसके बिना संस्कृति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जिस प्रकार संस्कृति के विकास-मार्ग में भाषा के परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं उसी प्रकार साहित्य के विकास पथ में भी। आज सुदूर देशों में फैलती हुई पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का मूल स्रोत भाषा ही है।

संस्कृति और साहित्य को जोड़ने का कार्य प्रकृति भी करती है। इतना ही नहीं, धर्म का कार्य भी महत्वपूर्ण है। साहित्य और संस्कृति के बीच धर्म सम्बन्ध सूत्र का कार्य करता है। धर्म की संकीर्णता से साहित्य में भी संकीर्णता आती है। इन सभी तथ्यों से साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

सारांशः—संस्कृति और साहित्य में आदान-प्रदान की शक्ति रहती है। जब दो जातियों की संस्कृति एक दूसरे से मिलती है तो उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान होना आवश्यक है। दोनों की रुचि, व्यवस्था, भाषा और भाव-पद्धति पर प्रभाव पड़ता है। इन्हीं के कारण उनका साहित्य भी प्रभावित होता है। अंग्रेजों के सम्पर्क से जिस प्रकार भारतीय साहित्य और संस्कृति प्रभावित हुए हैं, उसी प्रकार उनके (अंग्रेजी) साहित्य और संस्कृति भी अछूते नहीं रह सके हैं। यदि साहित्य और संस्कृति के इतिहास की खोज की जाय तो उनका आदि-स्थान वेद में ही मिल जायगा। प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं वरन् विकास की दृष्टि से भी भारत का नाम अग्रणी है। भारतीय संस्कृति ने आध्यात्मिक क्षेत्र में बहुत ख्याति पाई है जबकि इतर देशों की संस्कृति ने भौतिकता की परिधि तक ही अपने को सीमित रखा है। भारतीय दर्शन ने जिस अद्वैत तत्व की कल्पना की उसमें निर्वैरता के परे एकता का पाठ है। भारतीय साहित्य की परतन्त्र अवस्था में भी कोई न कोई साहित्य और संस्कृति का पल्ला पकड़े अवश्य मिलता है। भारतीय संस्कृति में चाहे कितना ही विदेशीपन आ जाये परन्तु भारत अपनी आध्यात्मिक शक्ति को नहीं भूल सकता है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना सदैव भारतीय मस्तिष्क में जमी रहेगी क्योंकि मानवता का कल्याण इसीसे संभव है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य और संस्कृति का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों में से किसी एक को भुला देना दूसरी के साथ अन्याय करना है। वास्तव में जिस देश में साहित्य और संस्कृति कदम से कदम मिलाकर चलते हैं, वह देश उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है।

२

सत्यं शिवं सुन्दरम्

१. उत्पत्ति और इतिहास ।
२. सत्यं शिवं सुन्दरम् का सम्बन्ध ।
३. सत्यं शिवं सुन्दरम् का समन्वय ।
४. सत्य और उसके रूप ।
५. कल्पना और कवि सत्य ।
६. साहित्य में शिवम् ।
७. साहित्य में सुन्दरम् ।
८. उपसंहार ।

काव्य में सत्यम् शिवं सुन्दरम्

उत्पति तथा इतिहासः—किसी वस्तु के प्रचार पा जाने पर लोग उसकी उत्पत्ति व इतिहास आदि के बारे में प्रायः उदासीन से हो जाते हैं। नवीनता ही कौतूहल उत्पन्न करती है। जिससे घनिष्ठता होती है उसके कुल और जाति की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। जीवन में प्रचलित लोकोक्तियों के समान साहित्य में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की पदावली प्रयोग में आने लगी है और इसको उपनिषद वाक्य का सा महत्व दिया जाने लगा है। कुछ भारतीय विद्वानों ने इस धारणा को विदेशी बताया है। उनके अनुसार यह वाक्य यूनानी दार्शनिक प्लेटो के 'The truth, the good, the beautiful' का शाब्दिक अनुवाद है। कुछ विद्वान इस धारणा को भारतीय मानते हैं क्योंकि भारतीय वाङ्मय में रवीन्द्र के पिता ने इसका प्रयोग सर्वप्रथम किया था। किन्तु इसके विषय में उनके आधार का अभी तक कोई पता नहीं चला है। राजाराम मोहन राय ने ब्रह्म-समाज की स्थापना में सर्वप्रथम इसी वाक्य का प्रयोग किया था। इसके पश्चात् बंगला साहित्य में इसका प्रयोग हुआ और वहां से हिन्दी साहित्य तक आ पहुँचा। यद्यपि यह आदर्श-वाक्य विदेशी है फिर भी हिन्दी-साहित्य के गले का हार बना हुआ है। कारण स्पष्ट है कि यह भारतीय साहित्य के लिए नवीन नहीं वरन् उसके अनुरूप ही है और भारतीय संस्कृति, धर्म तथा दर्शन से इसका इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि हम इसे अलग नहीं कर सकते। भारतीय वाङ्मय के 'सच्चिदानन्द शब्द में सत्य और आनन्द सुरक्षित हैं। शिवम् और सुन्दरम् का प्रयोग हमें 'किरातार्जुनीयम' ग्रंथ में दृष्टिगोचर होता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के सत्रहवें अध्याय में पद्

को बताया है कि ऐसे वाक्यों का बोलना जो दूसरे के चित्त में उद्वेग उत्पन्न न करे जो सत्य, प्रिय और हितकर हों तथा वेद-शास्त्रों के अनुकूल हों, वाणी का तप कहलाता है-

'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥'

सत्यं प्रिय हितं को भारतीय संस्कृति तथा सत्यं, शिव का द्योतक माना जा सकता है। सत्य और शिव का समन्वय करते हुए कवि रवीन्द्र ने आचार्य क्षितिमोहन सेन के 'दादू' नामक बंगाली ग्रंथ की भूमिका देखते हुए बताया है कि 'सत्य की पूजा सौंदर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।' अस्तु इस शब्दावली का आंशिक रूप भारत में प्राचीनकाल से चला आ रहा है क्योंकि साहित्य शब्द के मूल में भी इसी धारणा को छिपा हुआ पाते हैं। साहित्य शब्द का भारतीय मनीषियों ने 'जो हित सहित हों' का अर्थ लगाया है। काल से प्राप्त आनन्द सुन्दरम् का ही एक रूप प्रतीत होता है और सौंदर्य भी सर्वथा सत्य से रहित नहीं हो सकता। यह तो निश्चित है कि जिस रूप में हम आज इस वाक्य का प्रयोग देखते और करते हैं वह प्राचीन युग में नहीं मिलता। [अतः इस शब्दावली को पश्चिम की देन मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

सत्यं शिवं सुन्दरम् का सम्बन्धः—क्रमशः ज्ञान (Knowledge) भावना (Feeling) और संकल्प (willing) नाम की मनोवृत्तियों और ज्ञानमार्ग, भक्ति मार्ग तथा कर्म मार्ग से है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' विज्ञान, धर्म तथा काव्य का परिचायक सूत्र भी है। हम इसको प्रत्येक में अलग-अलग भी देख सकते हैं--विज्ञान का अर्थ है-सत्य निरावरण सत्य। शिवं उसके लिए गौण है। विज्ञान ने पेनिसिलिन की भी रचना की है और परमाणु तथा अणु बम्बों का भी आविष्कार किया है। सुन्दरम् तो उसके लिए उपेक्षा की वस्तु है। वह मनुष्य को भी प्रकृति के धरातल पर घसीट लाता है और गुण को भी परमाणु के रूप में देखता है। उसके लिए वीभत्स कोई अर्थ नहीं रखता।

धर्म सत्यं में शिवं की प्रतिष्ठा करता है, वह लक्ष्मी का मांगलिक घन्टों से अभिषेक करता है क्योंकि जल-जीवन है, वह कृषि प्राण भारत का प्राण है। जिस प्रकार सरस्वती में सत्यं और सुन्दरम् का समन्वय है उसी प्रकार लक्ष्मी शिवं और सुन्दरम् का सम्मिश्रण है।

साहित्यि शिवं और सत्यं की युगल-मूर्ति को सुन्दरम् का स्वर्ण-वरण पहन कर उसकी उपासना करता है। "तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लेहु हाथ" साहित्यिक के मन में रसात्मक वाक्य का ही मान है।

सत्यं शिवं सुन्दरम् का समन्वय

भारतीय जीवन-दर्शन प्रत्येक परिस्थिति में समन्वयात्मक रहा है। इससे काव्य भी वंचित नहीं रह सकता। काव्य और कला दोनों में ही समन्वय दृष्टिगोचर होता है। दर्शन में भी ज्ञान, कर्म और उपासना का समन्वय मिलता है। ईश्वर के स्वरूप में सत्, चित और आनन्द का समन्वय पाया जाता है और गुणों में भी तीन रूपों-सत,

रज और तम का समावेश किया गया है। भारतीय साहित्य में भी सत्यं शिवं सुन्दरम् की भावना का उदय बहुत पहिले से ही मिलता है। हमारे यहां सरस्वती विद्या की देवी की कल्पना 'वीणा-पुस्तक-धारिणी' के रूप में की गई है। पुस्तक ज्ञान की प्रतीक है। वीणा मनोरंजन, कमल-सौंदर्य, विनयशील आदि की परिचायिका है। भारतीय विद्वान सदैव विद्या तथा साहित्य का ज्ञान, सौंदर्य तथा कल्याण आदि मानते आये हैं। वास्तविकता तो यह है कि ये सभी अनेक होते हुए भी एक है। कवि रवीन्द्र ने ठीक ही कहा है कि 'सत्य और सौंदर्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। सत्य में सौंदर्य का होना और सौंदर्य में शिवत्व का होना अनिवार्य है।"

सत्य और उसके रूप

इतिहास तथा साहित्य का सत्य—साहित्य या काव्य के अन्तर्गत सत्य से क्या अभिप्राय है। वस्तुतः काव्य का सत्य वैज्ञानिक और ऐतिहासिक सत्य से भिन्न है, वैज्ञानिक सदैव इस नियम का पालन करेगा कि दो और दो मिलकर चार होते हैं, परन्तु काव्य के अन्तर्गत ये ५ और ३ भी हो सकते हैं। इतिहासकार की भांति काव्यकार कभी भी तथ्यों का आकलन नहीं करता है। काव्यकार को यह स्वतन्त्रता दी जाती है कि वह सत्य को इतिहास से ग्रहण करे और उसमें अपनी कल्पनाओं का रंग भर के उसे मनोरम बनाये। इतिहास में तिथि और सम्वत् को छोड़ कर और कोई बात सत्य नहीं होती है जबकि साहित्य में तिथियों तथा सम्वतों के सिवाय शेष सब कुछ यथार्थ तथा प्रमाणित होता है। इतिहास मानवेतर प्राणियों अर्थात् राजा-महाराजा आदि बड़े लोगों को लेकर चलता है जबकि साहित्य जनसाधारण की संस्कृति का इतिहास है। सत्य का उद्घाटन करने वाले केवल चार व्यक्ति होते हैं साहित्यकार, वैज्ञानिक, इतिहासकार और दार्शनिक। इनका सत्य अध्यात्म होता है जबकि वैज्ञानिक का सत्य भौतिक जगत। इतिहासकार उन बीती हुई घटनाओं के गढ़े मुर्दे ही उखाड़ पाता है। केवल साहित्यकार ही ऐसा सत्य-प्रेषक है जो उन इतिहासकार के उखड़े हुए मुर्दों में जान डालता है। केवल इतना ही नहीं, उसका परिमार्जन भी करता है। रामधारीसिंह दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य तथा प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' व 'स्कन्दगुप्त' नाटकों को उदाहरण-स्वरूप रखा जा सकता है।

वैज्ञानिक और साहित्यिक सत्य—वैज्ञानिक सत्य केवल भौतिक पदार्थों तक ही सीमित है। वह सर्वत्र हाइड्रोजन, आक्सीजन और हीलियम तथा रेडियम, यूरेनियम, टिटेनियम आदि की ही खोज में रहता है। वैज्ञानिक का सत्य रूखा होता है जबकि साहित्यकार अपनी प्रतिभा से उसे सरल एवं प्रभावोत्पादक बना कर जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करता है। वैज्ञानिक एक पुष्प पर लगे हुए कुछ सुन्दर निशानों को देखकर तुरन्त ही उसकी वंशावलि का अध्ययन करेगा, वह उसकी बुनियाद की ओर बढ़ेगा जबकि एक साहित्यकार उसको देखकर उन्हें मोतियों की, प्रिये द्वारा दिये गये चुम्बन के निशान आदि की उपमाओं से विभूषित करेगा। वैज्ञानिक की दृष्टि में हर चीज का एक फारमूला होता है जो अकाट्य है, चाहे स्थिति कुछ भी हो, प

साहित्यकार का दृष्टिकोण समय के साथ बदलता रहता है। वह एक मत को ही मानदण्ड नहीं बना सकता क्योंकि साहित्यकार को सदैव समाज के साथ-साथ चलना पड़ता है तथा समाज समय के साथ-साथ बदलता रहता है। कवि की भावुकता में ही साहित्य का सत्य निहित है। प्रभाव-प्रवण कवि में प्रकृति का प्रत्येक सुपमामय कण न जाने किस अनुपम तथा अनिर्वचनीय अनुभूति को जागृत कर जाता है। कवि वर्डस्वर्थ (Wordsworth) के शब्दों में "To me the meanest flower that blows can give thoughts that do often lie so deep for tears." कवि की भावुकता के सम्बन्ध में डा० भागीरथ मिश्र कहते हैं कि—"कवि खोजे हुए सत्य के नग्न ढांचे पर रंग एवं रूप भरता है और उसे सरल तथा सजीव बना देता है। यथार्थ के नीरस ठूंठ को वह कल्पनागत आदर्श से पल्लवित, पुष्पित, हरा-भरा एवं लहलहा कर देता है। दार्शनिक के सत्य, वैज्ञानिक के अन्वेषण एवं इतिहास-वेत्ता की खोज को यथार्थ, उपयोगी एवं आकर्षक बनाना कवि का ही काम है। इस पर भी अधिक महत्व का कार्य कवि के लिए है--सत्य को अपने मूल चारुत्व में ग्रहण कर उसको अपने सहज सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त करना।"

कल्पना और कवि-सत्य—अब प्रश्न उठता है कि कवि का सत्य जब वैज्ञानिक, दार्शनिक और इतिहासकार आदि सभी के सत्यों से अलग है तो फिर उसके सत्य का क्या अर्थ है? कवि १ और १ बराबर दो में विश्वास नहीं करता। उसकी राय में एक और एक दो भी हो सकते हैं तथा एक भी रह सकते हैं। सत्य को कुछ सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। कवि फोटो-कैमरा के निष्क्रिय सत्य का उपासक नहीं है परन्तु वह तो मानव हृदय के जीते-जागते सत्य का पुजारी है। उसके लिए विचारों की आन्तरिक और वाह्य संगति ही सत्य है। कवि हृदय की सच्चाई और सरलता को ही महत्व देता है। कवि अपने हृदय को धोखा नहीं दे सकता है। उसकी भावना के सत्य और सौन्दर्य में सहज सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

साहित्यिक सत्य की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता। बाबू गुलाबराय के शब्दों में "कवि संभावना के क्षेत्र से बाहर नहीं जाता है, उसके वर्णित विषय के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह वास्तविक संसार में घटित हुआ हो किन्तु वह असंभव न हो। 'होरी' नाम का किसान किसी गाव शप में रहता हो या न रहता हो किन्तु उसने जो कुछ किया वह वही किया जो साधारणतया उसकी जाति के लोग करते हैं। कहा भी है 'असम्भाव्यं न वक्तव्य प्रत्यक्षमपि दृश्यते'--वह इतिहासों के नामों और तिथियों को महत्व न देता हुआ भी पूर्वापर क्रम से बंधा रहता है। वह अकबर को औरंगजेब का बेटा नहीं बता सकता। वातावरण का भी उसे ध्यान रहता है। हां, ब्यौरे (Detail) की बातों में यह भावोद्घाटन की आवश्यकताओं के अनुकूल मनचाहा उलट-फेर कर लेता है।" कल्पना के द्वारा साहित्य में उर्वरा-शक्ति और रागात्मकता का संचार होता है जिससे साहित्य बना रहता है अन्यथा कविता और विज्ञान में कोई अन्तर ही नहीं है। कवि की कल्पना इतिहास के सत्य में कोई व्याघात नहीं

पहचानी। कवि का ग्रहीत सत्य का एक भाग सम्भाव्य सत्य होता है। भले ही कवि के सत्य में इतिहास का सत्य न मिलता हो फिर भी वह सत्य विश्वसनीय होता है। प्रसाद अपना कामायनी के माध्यम से कितना मर्मपूर्ण सन्देश दे रहे हैं.--

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके यही विडम्बना है जीवन की॥

वस्तुतः मानव जीवन अनेक मार्ग से आप्लावित रहता है, उसमें नाना भाव उत्पन्न और शामिल होते रहते हैं। जो कवि या कलाकार मानव मन का सुन्दरतम् चित्रण करने में सफल होता है और पाठक के मन में इसी प्रकार का भाव जागृत करना है तो यह भी सत्य का एक आधार है। कुछ विद्वान मनोवृत्तियों के चित्रण को काव्य सत्य के रूप में ग्रहण करते हैं।

कवि की निरंकुशता और सत्य--कहा जाता है कि कवि निरंकुश होता है। वह अपनी इच्छानुसार प्रत्येक वस्तु का वर्णन कर सकता है तथा किसी भी मानुषिक अमानुषिक वस्तु को अपनी कविता की विषय-वस्तु बना लेता है। यह सही है, पर स्वतन्त्रता उतनी ही होती है जब तक कि सत्य का रूप नहीं बिगड़ता। कल्पना की स्वतन्त्रता प्रयोग के साथ-साथ कवि के लिए यह भी आवश्यक है कि वह सीमा के भीतर रहे। कवि का वह सत्य कभी सत्य नहीं माना जा सकता जिसमें राम और लक्ष्मण कोट पैन्ट तथा सीता और उर्मिला चुस्त सलवार पहनती हों या बाबर को अकबर का बेटा बताया जाय। कवि की निरंकुशता का तात्पर्य उच्छृंखलता नहीं है बल्कि अनावश्यक दमन से मुक्ति है। कवि के सत्य में ऐहिक तथा आमुष्मिक सुख का कलात्मक समन्वय होता है। कुछ आलोचक कहते हैं कि कवि की कल्पना में सौंदर्य का आजाना तो आवश्यक है किन्तु सत्य का समावेश जरूरी नहीं। किन्तु कल्पना-जन्य सौन्दर्य में सत्य की सत्ता अपेक्षित है। अंग्रेजी कवि कीट्स के शब्दों में "Beauty is truth; Truth is beauty." "That is all ye know on earth and all ye need to know" अर्थात् सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है। यही मनुष्य जानता है और यही जानने की आवश्यकता है।

साहित्य और सामयिक सत्य--साहित्य समाज का दर्पण है। इसके अनुसार साहित्यकार सब कुछ समाज से ग्रहण करता है तथा उसे परिमार्जित कर पुनः समाज को लौटा देता है क्योंकि साहित्य सदैव समाज के साथ चलता है। यदि कवि या साहित्यकार ने समाज से पीछे रह कर कार्य किया तो उसके साहित्य की तनिक भी पूछ नहीं है। कवि को अपने समय के जीवन को अपने साहित्य में चित्रित करना चाहिए। कला के क्षेत्र में सामयिक सत्य की दूरी का तात्पर्य समस्य सत्यों से दूरी है।

सचाई तो यह है कि साहित्य में सत्यं, शिवं और सुन्दरम में तनिक भी विरोध नहीं है। कवि का सत्य हमारे समाज का बल है। वह हमारी प्रवृत्तियों का परिष्कार करता है, उनको अपने सहज अमृत से सींचकर विकसित करता है और आनन्दपूर्वक जीवन-यापन की कला बताता है।

साहित्य में शिवं—जहां तक काव्य के शिवत्व का प्रश्न है उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि उसके अन्तर्गत काव्य एवं कला का प्रयोजन उभर कर पाठक के समक्ष आजाता है। इस विषय पर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के मत एक नहीं हैं। पाश्चात्य विद्वान नीति एवं आचार को काव्य में विशेष महत्व नहीं देते। वे केवल 'कला कला के लिए' की उक्ति का समर्थन करते हैं। इसके विपरीत वे लोग जो काव्य और शिवत्व को अलग अलग मानते हैं अन्य-पथ का अनुसरण कर रहे हैं। वास्तव में साहित्य शब्द ही लोक-मंगल की अभिव्यंजना करता है। लोक-मंगल और कल्याण की भावना से रहित साहित्य कभी भी साहित्य की श्रेणी में नहीं ठहर सकता। साहित्य से लोक-मंगल तथा कल्याण का बहिष्कार करना मानव-जीवन का तिरस्कार करना है। जो लोग 'कला कला के लिए' के पोषक हैं वे साहित्य के उत्तर-दायित्व को नहीं जानते क्योंकि साहित्य में समाज का स्पष्ट रूप झलकता है। यदि साहित्य समाज के मंगल और कल्याण को लेकर नहीं चलेगा तो फिर उसे साहित्य ही कैसे कहा जा सकता है। वह तो श्रेष्ठ साहित्य तभी कहलाने का अधिकारी हो सकता है जबकि लोक-मंगल तथा कल्याणकारी सामग्री के सम्पुटित रूप को स्थान दे। साहित्य का उद्देश्य मनुष्य को ऊपर देखने की प्रेरणा प्रदान करना है, जीवन के प्रति आस्था, विश्वास तथा आशा उत्पन्न करना। साहित्य के लिए कोरा यथार्थवाद अनिष्ट कर है और कोरा आदर्शवाद भी ठीक नहीं है। इस सम्बन्ध में मुन्शी प्रेमचन्द तथा मैथिली-शरण गुप्त के विचार अवलोकनीय तथा माननीय हैं। यथार्थवाद जहां हमारी आंखें खोलता है, आदर्शवाद वहां उनमें स्वर्ग लाता है, कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं होता बल्कि उसकी व्याख्या और निर्माण करना भी है। यदि हमने वहीं कह दिया जो देखा है तो फिर कला की विशेषता क्या हुई। यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देता है। हमें संसार के प्रति अरुचि हो जाती है, साथ ही जीवन भी इससे अछूता नहीं रहता। इसलिए यथार्थवाद के साथ-साथ आदर्शवाद के लिए भी कलात्मक संकेत होना चाहिए। साहित्य की पूर्णता के लिए आदर्श और यथार्थ दोनों का संतुलित रूप में होना आवश्यक है, तभी लोक-कल्याण हो सकेगा। "भेद में अभेद यही सत्य का आदर्श है और वही शिव का मापदण्ड है। भेद में अभेद की एकता ही समष्टि-एकता है। विकास का भी यही आदर्श है--विशेषताओं की पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ अधिक से अधिक सहयोग और संगठन। जो साहित्य हमको इन आदर्शों की ओर अग्रसर करता है वह शिवं का ही विधायक है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी ने तीनों के अविरोध सेवन का ही उपदेश भ्रातृ-भक्तिपरायण भरत को दिया--

'कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥
कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतांवरः ।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे ॥'

—वाल्मीकि रामायण (अयोध्याकाण्ड, । १००।६२,६३)

"अर्थात् क्या तुम अर्थ से धर्म में और धर्म से अर्थ में तथा प्रीति, लोभ और काम से धर्म में वाधा तो नहीं डालते ? और क्या तुम अपना समय बांटकर धर्म, अर्थ और काम का सेवन करते हो।" वावू गुलावराय के उपर्युक्त शब्दों से काफी हद तक शिवं का महत्व स्पष्ट हो जाता है। साहित्यकार संसार के दुःख को अपना दुःख, संसार के हास्य को अपना हास्य एवं संसार की सुखात्मक तथा दुःखात्मक अनुभूतियों को अपनी अनुभूतियां मानने लगता है तो मानव जीवन के कर्त्तव्य पथ पर आकर वही सत्य शिव वन जाता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी--राम ने धनुषवाण हाथ में लेकर दुष्ट रावण का संहार किया, लेकिन इस स्थल पर राम ने क्रोध व्यक्त किया और वंश तथा सेना सहित उसे नष्ट कर दिया। इतने पर भी राम का रूप कल्याणकारी है। इस भावना में राम की समस्त समाज का कल्याण करने वाली भावना प्रकट हो रही है--

जव जव होइ धरम की हानि, वाढ़हि अधम असुर अभिमानी।
तव तव धरि प्रभु मनुज सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

वस्तुतः साहित्यकार का कार्य भूले भटके मानव-समाज को कल्याण मार्ग पर लाना है। संसार के कल्याण की भावना से अनुप्राणित कविता वास्तव में शिवत्व का सुन्दरतम उदाहरण है।

साहित्य में सुन्दरम्ः—साहित्य में सत्यं और शिवं को देखने के पश्चात् अव हमें सुन्दरम् के रूप को भी देख लेना चाहिए। इसी सौन्दर्य को कीट्स (Keats) ने 'Beauty is truth, Truth is beauty' कहा है। आचार्य शुक्ल के अनुसार हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। सौन्दर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो, वही सुन्दर है। अपनी इच्छा के अनुकूल होते हुए भी कोई वस्तु सुन्दर या असुन्दर वन जाती है।

सत्यं, शिवं और सुन्दरम् वास्तव में अखण्ड हैं। जो सुन्दर है वह अवश्य सत्य है और जो सत्यं तथा सुन्दरम् से पूर्ण है वह शिवं भी अवश्य है। रवीन्द्र सत्यं और सुन्दरम् को एक मानते थे। पर कुछ आलोचकों के अनुसार रवीन्द्र किसी अलौकिक सत्य का मनन करते रहे हैं पर हमारी राय में रवीन्द्र का सत्य, शिवं तथा सुन्दरम् से अनुप्राणित है। सुन्दर वस्तु एक और अखण्ड होती है। यह सभी अनुभव करते हैं। मनुष्य प्रकृति से सौन्दर्य प्रेमी है। सौन्दर्य की खोज में जब उसे सत्य भी मिल जाता है तो यह उसकी परम प्रसन्नता का समय होता है। इसी सौन्दर्यप्रियता की प्रवृत्ति ने अनेक कलाओं को जन्म दिया है जिनमें अपना अलग होते हुए भी एक ही सौन्दर्य है। सौन्दर्य एक और अखण्ड है तथा उसे विशेष अनुभव के रूप में ग्रहण करना भी मुश्किल है। सौन्दर्य की अखण्डता अनुभवकर्ताओं के दृष्टिकोण के साथ खण्डित हो जाती है। इसी दृष्टिकोण के कारण जो वस्तु एक के लिए सुन्दर है वही दूसरे के लिए असुन्दर हो सकती है। इस तथ्य का प्रमाण हम व्यावहारिक रूप में ही पाते हैं। इसके लिए हमें कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं होगी--मान लीजिए कि आपके यहां कोई उत्सव

है और खुशियां मनाई जा रही हैं लेकिन आपके पड़ोसी के यहां जवान बेटे की मृत्यु हो गई है। वह शोक सागर में निमग्न है। तब देखिये जो खुशियां आपके लिए सुन्दर हैं वही पड़ौसी के लिए असुन्दर हैं। हिन्दी के कवि बिहारी ने इसका कितना सुन्दर उदाहरण दिया है--

सीतल तारु सुवास की घटै न महिमा मूरु।
पीन सवारें ज्यों तज्यौं सोरा जानि कपूर॥

बिहारी का दूसरा दोहा देखिये जिससे सौंदर्य का ही स्पष्टीकरण होता है--

लिखन बैठी जाकी छवी गहि गहि गरव गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

बिहारी के तीसरे दोहे को देखिये--

'समैं समैं सुन्दर सवै, रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होई॥'

अंग्रेजी के कवि कालरिज ने भी यही बात कही है, 'रमणी हम तुझ में वही पाते हैं, जो तुझे देते हैं'-O Lady ! We receive but what we give !

सौन्दर्य साहित्य का शाश्वत गुण है। सुन्दरम् के अभाव में साहित्य शून्यवत है। सौन्दर्य ही कवि का बल और गुण है। सौन्दर्य एक शक्ति होती है जो अपनी ओर आकर्षित करती है। इसी सौन्दर्य के बल पर कवि समाज में सम्माननीय और युग-दृष्टा कहा जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि कोरे सौन्दर्य से साहित्य अनिष्टकर बन जाता है। यदि साहित्य में परियों और लौकिक सौन्दर्य का चित्रण किया गया तो लोगों का जीवन और उसकी सामग्री के प्रति दृष्टिकोण बदल जायगा और एक उपेक्षित भाव उनके मस्तिष्क में घर कर जायगा। पर स्मरण रहे कि सच्चा साहित्य कभी उपेक्षित भाव की सृष्टि नहीं होने देगा। कभी २ ऐसा सुना जाता है कि सौदर्य के द्वारा सत्य की हत्या हो जाती है परन्तु यह धारणा भ्रामक है क्योंकि सौदर्य तो सत्य में एक निखार लाता है तथा उस पर छींटे छिड़कता है जिनसे आनन्द की गंध आती है। सौंदर्य की महत्ता और सार्थकता सत्य को स्पष्ट और आकर्षक बनाने में है। यदि कलावादी की कला इस पर आधारित है, 'कला कला के लिए है' तो वह सौंदर्य को कला के रूप में मान कर साहित्य में अवांछनीय चेष्टाएं भी कर सकता है। परन्तु सौन्दर्य मंगलमय है, सत्य है इसलिए एक कलाकार, जो साहित्य को जीवन के लिए मानता है, के लिए यह सम्भव नहीं कि वह आकाश-कुसुमों को साहित्य में चित्रित करे और यदि वह ऐसा करता है तो समाज में उसका कोई स्थान नहीं है। साहित्य में बुद्धि तत्व की भी आवश्यकता होती है। इसी के द्वारा कवि दार्शनिक समस्याओं को सौन्दर्यमय बना कर सरल रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। साहित्य में बुद्धि तत्व और सौन्दर्य का उचित प्रयोग होना चाहिए ताकि साहित्य खिलवाड़ मात्र न रह सके। समाज का दायित्व कवि पर है। यह उसकी कल्पना पर आधारित है कि वह समाज के किस अंग को कैसा बना कर उसे सबके सामने लाता है। जनसाधारण

उसे उसी रूप में ग्रहण करेंगे जिस रूप में कवि या साहित्यकार उन्हें देगा । कवि को सामयिक और संतुलित रहना चाहिए । जब कवि कल्पना की चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो उसका काव्य अतिशयोक्ति पूर्ण बन जाता है । भक्ति काल के कवियों में जायसी ने बड़ी अतिरंजना का प्रदर्शन किया है । ऐसी स्थिति में पाठक इन लोगों से खीज़ उठता है । बिहारी ने भी अपने काव्य में बहुत अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया है । यथा--

> इत आवति चलि जात उत, चलि छः सातक हाथ ।
> चढ़ी हिन्डोरे सी रहे, लगी उसाससु साथ ॥

इसी दोहे को लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिहारी की नायिका की स्थिति घड़ी के पेन्डुलम के समान बताई है । यद्यपि उक्त दोहे में कवि ने सूक्ष्म कल्पना का परिचय दिया है । परन्तु इससे कवि की महानता की अपेक्षा अदूरदर्शिता ही प्रगट होती है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार:--

"कुछ रूप रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं । हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौंदर्य की अनुभूति है····जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी ।"

अंग्रेजी कवि शैले (Shelley) ने सौन्दर्य को इस प्रकार बताया है:—

'A going out our own nature and an identification of ourselves with the beautiful which exists in thought, action or person, not our own.' । सत्यं शिवं सुन्दरम् के स्पष्टीकरण के पश्चात् इसके प्रयोजन पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है । भारतीय कलाकारों तथा मनीषियों ने कला को सदैव से ही नीति-शिक्षक माना है और पाश्चात्य विद्वान इस तथ्य की अवहेलना करके सत्यं, शिवं की आत्मा कुचल डालते हैं । वस्तुतः कला का जीवन, आत्मा एवं भावना से घनिष्ट सम्बन्ध है । कुछ विद्वानों ने कला को उपयोगितावादी सिद्ध किया है जिनमें महात्मा गांधी और टाल्सटाय का नाम उल्लेखनीय है । मनुष्य की आनन्दमयी प्रवृत्ति की शान्ति के लिए ज्ञान पिपासा हेतु सत्य, इच्छा या क्रियात्मक तृप्ति के लिए शिवं की आवश्यकता है । सत्यं शिवं और सुन्दरम् में कोई भी किसी प्रकार का विभाजन नहीं किया जा सकता है । कला का महत्व उस फूल की भांति है जिसे उसके स्रष्टा ने खिला दिया है पर उस पुष्प का व्यक्तित्व इच्छुक व्यक्तियों की इच्छा पर ही निर्भर है । कोई उसकी सुगन्धि पसंद करता है तो कोई उसे तोड़ कर कोट के बटन होल में लगाना चाहता है । यदि कथा की स्थिति पर भी विचार किया जाय तो यह भी स्पष्ट हो जायगा कि कला का महत्व जीवन के लिए है या कला के लिए । कला का उद्देश्य आनन्द को खोजना होता है और आनन्द में लोक-कल्याण निहित रहता है अतः कला जीवन के लिए है ।

३

कला--स्वरूप और वर्गीकरण

१. सामान्य परिचय।
२. भारतीय साहित्य और कला।
३. पाश्चात्य विद्वान और कला।
४. आचार्य शुक्ल का मत।
५. अज्ञेय का मत।
६. कला का प्रयोजन।
७. कलाओं का वर्गीकरण।
८. श्रेष्ठ कला।
९. उपसंहार
[अ] उपयोगी कलाएं।
[ब] ललित कलाएं।

कला: स्वरूप और वर्गीकरण:—मानव की कामनाएं सदैव विकास-पथ पर चलती रहती है तथा साथ ही मानव को सोचने को बाध्य कर देती हैं। चेतना-सम्पन्न प्राणी होने के कारण मानव के मन पर बाह्य संसार की अनेक शक्तियां अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं। बाह्य सौंदर्य का यह घनीभूत केन्द्रण मानव के मन में अभिव्यक्ति का प्रसार बढ़ाता है। अभिव्यक्ति की इसी भावना से कला का जन्म होता है। वास्तव में कला चतुर्दिक वातावरण से ही जन्म लेती है और विकास पाती है। डा० हरद्वारीलाल शर्मा का कहना है कि सच्ची बात को सीधे प्रकार से कहना ही कला है, शर्त यह है कि बात सच्ची हो और प्रकार सीधा। सच्ची बात से तात्पर्य कलाकार की सच्ची अनुभूति से है और सच्चे और सीधे प्रकार से तात्पर्य अभिव्यंजक तत्व से। संक्षेप में कला की सम्भावना के लिए अभिव्यंग्य तत्व की भांति अभिव्यंजना के साधन एवं मार्ग भी मिलने चाहिए। जहां ये दोनों मिले कि कला की सृष्टि हुई। कला के कलेवर में सच्ची बात और सीधा प्रकार दोनों ही अंग, आत्मा और शरीर को भांति जुड़े रहते हैं।

काव्य मीमांसाकार का अर्थ की दृष्टि में मानवी प्रतिभा के दो रूप ठहरते हैं--भावयित्री और कारयित्री। किशोर काल में कल्पना इनसे और मिल जाती है, वास्तव में इन तीनों प्रतिभाओं के मेल से ही कला का जन्म होता है। पहिले जो कला बाह्य सौंदर्य-प्रधान होती है, वही आगे चल कर आन्तरिक सौंदर्य से युक्त हो जाती है।

भारतीय साहित्य और कलाः—भारतीय साहित्य में कला का विवेचन बहुत कम हुआ है। संस्कृत के आचार्यों में भामाह ने कला के सम्बन्ध में एक दूसरे प्रकार से विचार किया है और उसने काव्य के चार विभाग किये हैं:--(१) देव चरित (२) उत्पादय (३) कलाश्रय और (४) शास्त्राश्रय। इस विभाजन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं--एक तो यह कि वह कला को काव्य से भिन्न मानता था; दूसरी यह कि वह कला सम्बन्धी बातें काव्य का विषय भी बन सकती थी।

शैवागमों में कला का दूसरा ही रूप दिखाई देता है। वहां पर छतीस तत्वों में से कला की भी स्वीकृति प्राप्त है अतः संस्कृत साहित्य में कला का विवेचन दो क्षेत्रों में हुआ है--एक तो काम क्षेत्र में और दूसरे दर्शन क्षेत्र में। कला विषयक रवीन्द्र के विचार भी बड़े महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। उन्होंने ज्ञान के दो पक्ष माने हैं--कला और विज्ञान। इन दोनों के भेद को स्पष्ट करते हुये उन्होंने लिखा है--"In the art man reveals himself and not his object. His objects have there place in books of information and science." तात्पर्य यह है कि कला में मानव वाह्य वस्तुओं को नहीं, स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करता है। उसके वाह्य विषयों का वर्णन सूचना-प्रधान ग्रंथों में तथा विज्ञान के ग्रंथों में किया गया है। स्पष्ट ही रवीन्द्र कला के क्षेत्र में आत्मानुभूति को विशेष महत्व देते थे। कुछ लोग ऐसे हैं जो कला का उद्देश्य केवल सौंदर्य-विधान मानते हैं। किन्तु रवीन्द्र की दृष्टि में सौंदर्य विधान कला का एक साधन-मात्र है साध्य नहीं। उन्होंने अपने निबन्ध में लिखा है कि कला का कार्य मानव के लिए सत्य और सौंदर्य की एक सजीव सृष्टि करना होता है।

पाश्चात्य विद्वान और कलाः—पाश्चात्य विद्वानों ने कला के सम्बन्ध में बड़े विस्तार से विचार किया है। अरस्तू के अनुसार कला का मूल मानव की अनुकरण करने की प्रवृति में निहित है और उस अनुकरण का विषय मौलिकता की दृष्टि से प्रकृति है। दांते ने भी अपनी पुस्तक 'डिवायन कामेडिया' में लिखा है कि कला का सम्बन्ध प्रकृति और ईश्वर से है, किन्तु कला प्रवृति न केवल प्रकृति के अनुकरण में ही सीमित है और न केवल ईश्वर के अनुमोदन में ही। मानव का 'स्व' पूर्णता को अपने अन्दर समाहित करके सर्वोच्च स्थान को अधिकृत करता है। इस स्थान के सम्बन्ध में चण्डीदास की यह पंक्ति बड़ी महत्वपूर्ण है--'सावार ऊपर मानप सत्य, ताहार ऊपर नाई।' एक बात यह भी है कि कला एक श्रेष्ठ वस्तु है और अनुकरण की भावना हीनता का परिचय देती है। ऐसी स्थिति में कला का उत्स अनुकरण से सम्भव नहीं जान पड़ता है। कुछ अन्य प्रमुख विद्वानों का मत इस प्रकार है:--

रस्किनः—रस्किन ने कला के विषय में लिखा है कि प्रत्येक महान कला ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति है--"All great art is the expression of man's great delight in God's work and not his own." इससे जो स्पष्ट होता है वह यह है कि रस्किन कला को अभिव्यंजना-शक्ति मानता था, दूसरे यह अभिव्यंजना अनुभूतिमूलक आह्लाद की होती है। इसके

भी ध्यान देने की चीज है कि उसने मानव-कृति को उतना महत्व नहीं दिया जितना ईश्वरीय कृति को।

कांट:—कांट ने कला को निर्लिप्त सन्तुष्टि (Disinterested Satisfaction) की परिभाषा दी है। निर्लिप्त संतुष्टि से कांट का अभिप्राय वासनाओं के आन्दोलन से अप्रभावित रह कर कला में प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापन एवं सामयिक उपयोगितावादी लक्ष्यों की पूर्ति का साधन न बनने से था। कांट ने सामाजिक जीवन एवं दर्शन में कला की महान भूमिका के महत्व को भी कहीं अस्वीकार नहीं किया। कांट में ही कला का आदर्शवादी चिन्तन सर्वप्रथम तर्कयुक्त, श्रृंखलाबद्ध एवं सुनियोजित सैद्धान्तिक पीठिका पर स्थापित मिलता है। कांट ने कला को आध्यात्मिक ऊंचाइयों पर प्रतिष्ठित किया और कहा कि कलात्मक सौंदर्य द्वारा प्रकृति की अन्तर्निहित प्रतीक शक्ति के समान उच्चतर तथ्यों का उद्घाटन होता है। कांट ने कला में आनन्द गुण को स्वीकारते हुए कहा कि जो सुन्दर है वह उदार और उदात्त है। कांट के मतानुसार कला का प्रयोजन उपदेशात्मक नहीं होना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष प्रयोजन और उपयोगितावादी नियमों में बंधकर कला अपने अन्तरंग मूल्यों की रक्षा नहीं कर सकती।

हीगेल:—कांट, फिख्टे तथा शैलिंग की तरह हीगेल ने भी कहा है कि कला संवेदना को आध्यात्मिक और आध्यात्मिक को संवेदनीय बनाती है तथा कला में समष्टिगत तत्वों के रूप में भाव एवं रूप के पूर्ण एकीकरण द्वाराअभिव्यक्त होनी चाहिए हीगेल की कला-विषयक युक्ति-प्रत्यय की संवेदनापरक अनुरूपता है "The Sensues Semblance of the Idea."

शोपेनहावर:—शोपेनहावर ने कला की उत्पत्ति के कारणों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि उपयोगी कला का जन्म आवश्यकता के कारण होता है। वह मानव बुद्धि की उत्पत्ति होती है। ललित-कला का जन्म वैभव के कारण होता है। यह सिद्ध करता है कि शोपेनहावर कला को बहुत कुछ बुद्धिमूलक सृष्टि मानता है।

फ्रायड:—फ्रायड की चिन्तन-पद्धति इनसे सर्वथा भिन्न है। उसने कला को सैक्स या वासना के दृष्टिकोण से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वह कला द्वारा मानव की दमित वासनाओं का उन्नयन मानता है। उसके अनुसार "मानव के अनुचेतन मन की प्रवृत्तियों के मूल में उसकी अतृप्त वासना या मौन-प्रवृत्ति काम करती है।"

श्लेगल:—श्लेगल ने कला के रूप पर विचार न करके केवल यह कहा है कि कला में पवित्रता का विशेष स्थान है। उसने लिखा है—"All higher arts are divine and are essentially chaste."

जेम्स:—जेम्स ने कला के स्वरूप पर कुछ स्पष्टता से प्रकाश डाला है। उसकी दृष्टि में कला न केवल कृति की बिम्ब-प्रतिबिम्ब प्रतिकृति ही नहीं वरन् उससे कुछ ऊंची वस्तु है। 'सच्चा कलाकार अपनी कलाकृति प्रकृति के रूप में ज्यों का त्यों व्यक्त करते हुए प्रकृति के अन्तर्जगत में प्रवेश कर उसके प्रच्छन्न सौंदर्य की अनुभूति कर उसकी प्रतिष्ठा भी करता है।'

टॉलस्टाय:—टालस्टाय ने कला-सृजन की प्रेरणा को केवल सौंदर्य-बोध की वंदिनी ही नहीं माना है उनकी सृष्टि में कला की प्रेरणा भावना संप्रेषण की इच्छा में निहित है। शब्द विचारों के वाहक होते हैं और कला भावना की वाहिका। कला निर्माण के मूल में अनुभूतियों की संप्रेषणेच्छा विद्यमान रहती है। कला के स्वरूप को टालस्टाय ने विधि-निषेधों के सहारे आगे और स्पष्ट करने की चेष्टा की है--"कला जैसा कि आध्यात्मवादी कहते हैं, ईश्वर या सौंदर्य के किसी रहस्यपूर्ण भाव की अभिव्यक्ति नहीं है, वह तत्ववेत्ताओं के कथनानुसार अपने एकत्रीभूत ओज के बाहुल्य का उपभोग कराने वाली क्रीड़ा में नहीं है तथा उसे हम आनन्द भी नहीं कह सकते। वास्तव में उसका कार्य मनुष्यों को एक ही भाव में परस्पर बांधना है तथा व्यक्ति और मानव की हित कामना करना है।"

क्रोचे का दृष्टिकोण कला उद्भावना के सम्बन्ध में कुछ अधिक गौरवपूर्ण है। एक शब्द में मानव 'अभिव्यक्ति' को ही कला मानता है। कला के क्षेत्र में मार्क्स के विचार व्यावहारिक हैं। कलाकार की चेतना को मार्क्स ने सामाजिक जीवन की देन स्वीकार किया है।

प्रश्न यह है कि क्या अभिव्यक्ति ही कला है? नहीं, अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही कला है। कला का सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध उस वस्तु से है जो मानव मन पर पड़े प्रतिबिम्ब की भावात्मक अभिव्यक्ति करती है। रवि बाबू ने कला मूल सौंदर्य-भावना को ही माना है। श्री जयशंकरप्रसाद ने कला को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया।

आचार्य शुक्ल:—आचार्य शुक्ल ने एक ही अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कला का लक्ष्य माना है। इसलिए शुक्लजी ने अभिव्यंजना और उसकी प्रेषणीयता को ही कला माना है।

यूरोपीय आलोचक इलियट के विचारों की भारतीय चिंतक अज्ञेय पर गहरी छाप है। इन दोनों की परिभाषाओं में भी समानता दिखाई पड़ती है। "कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।"

अज्ञेय:—अज्ञेय की कला-सम्बन्धी स्थापना में सामाजिक दायित्व के प्रति पंगुता और पलायन की भावना मिलेगी जिसमें एक ही ऐसा प्राणी नहीं है जो हीन भावना से मुक्त हो। इलियट कला को भावों का उन्मोचन, भावों से मुक्त और व्यक्तित्व की अभिव्यंजना से न मानकर व्यक्तित्व मोक्ष मानता है।

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि कला के मूल में सौंदर्य की भावना है और जीवन की प्रेरणा है। कुछ लोग तो केवल भाव की अभिव्यंजना को ही कला मानते हैं और दूसरे स्वयं प्रकाश ज्ञान की अभिव्यक्ति को। एक तीसरा वर्ग अ[illegible] की अनुभूति को महत्व देता है। सच्चाई यह है कि कला में अभिव्यक्ति, सौंदर्य

वस्तुओं का मेल है। कला में अनुभूति की सच्चाई और अभिव्यक्ति की कुशलता देखने को मिलती है।

कला की इन उपर्युक्त सम्मतियों को ध्यान में रखने के बाद सहसा यह प्रश्न खड़ा होता है कि कला का प्रयोजन क्या है ? इस सम्बन्ध में विद्वानों के दो दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। पहला दृष्टिकोण कला को जीवन की प्रतिच्छवि मानता है और दूसरा दृष्टिकोण कला की जीवन से स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है तथा संकेत देता है कि कला जीवन से हट कर आनन्द का प्रसार है। कलाकार कला का सृजन इसलिए करता है कि वह अनुभूतियों के अन्तर्गत आनन्द को प्राप्त करता है तथा आनन्द को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। इस प्रकार कला के प्रयोजन को लेकर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सामने आते हैं। इन विभिन्न दृष्टिकोणों का सविस्तार वर्णन नीचे किया जा रहा है:--

कला का प्रयोजनः—इन दो दृष्टिकोणों को परखने के पश्चात् अब इसी प्रकार का एक प्रश्न और हमारे सामने आता है कि 'क्या कला जीवन के लिए' या 'कला के लिए' है। इस प्रश्न का सम्बन्ध कला के प्रयोजन से है। कला का लक्ष्य क्या हो अथवा उसका प्रयोजन किस बात में निहित है, यह एक विवाद का प्रश्न है। यह तो स्पष्ट ही कर दिया गया है कि यूरोपीय देशों में साहित्य को कला के अन्तर्गत माना गया है। अतः वहां 'साहित्य के प्रयोजन' और 'कला के प्रयोजन' को मिलाकर एक स्वीकार किया गया है। कला के प्रायः ९ प्रयोजन माने जाते हैं:--

(क) Art for art sake--कला कला के लिए।
(ख) Art for life's sake--कला जीवन के लिए।
(ग) Art as an escape into life--कला जीवन में प्रवेश के लिए।
(घ) Art as an escape from life--कला जीवन से पलायन के लिये।
(ङ) Art for service sake--कला सेवा के लिये।
(च) Art for self-realisation--कला आत्मानुभूति के लिये।
(छ) Art for joy--कला आनन्द के लिये।
(ज) Art for reereation--कला मनोरंजन के लिए।
(झ) Art for recreative necessity--कला सृजन के लिए।

इन उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर यह निष्कर्ष बड़ी आसानी से निकाला जा सकता है कि कला के लक्ष्य अथवा प्रयोजन को लेकर लोगों में दो प्रकार के मत रहे हैं--'कला जीवन के लिए' और 'कला कला के लिए।'

भारत में भी कला अथवा साहित्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में कुछ विचार हुए हैं और उनमें जो बातें कही गई हैं उनके आधार पर भी यह निष्कर्ष ग्राह्य हो सकता कि 'कला का सम्बन्ध थोड़ा बहुत जीवन से है और थोड़ा बहुत यश, धन और उपदे आदि से भी सम्बन्धित है।' भारतीय आचार्यों में अधिकांशतः इसी मत के पक्षपाती कि कला किसी रूप में जीवन से जुड़ी हुई है। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि

स्पष्ट लिखा है कि काव्य के अध्ययन से मानव का धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक विकास होता है। रुद्रट ने काव्य के समस्त मनोभावनाओं की पूर्ति पर बल दिया है। भामह ने अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सबकी प्राप्ति काव्य से ही बतलाई है। आचार्य मम्मट की यह उक्ति तो कला का जीवन से ही सम्बन्ध जोड़ती है :—

"काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिवृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।"

कला कला के निमित्तः—इस सिद्धांत को १६वीं शताब्दी के अन्तर्गत फ्रांसीसी साहित्य में महत्व दिया गया था। इसके प्रमुख प्रवर्तकों में आस्कर वाइल्ड का नाम लिया जा सकता है। बोदलेयर ने कहा है कि "Poetry has no end beyond itself" अर्थात् काव्य का स्वभिन्न कोई भी प्रयोजन नहीं है। "कविता पढ़ लीजिए, उससे मनोरंजन कीजिए और फिर उसे भूल जाइये। रात्रि के देखे हुये मधुर स्वप्न के समान आपने उसका आनन्द भोगा परन्तु वास्तविक जगत में यह स्वप्न न आपके किसी काम का है और न जगत के किसी काम का।" इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए 'मारिस' ने कहा था 'हम किसी दुराचारी को सत्पथ पर लाने का श्रम क्यों उठायें ? हमारे लिए तो बस इतना ही पर्याप्त है कि हमारी कविताकामिनी आनन्द-पूर्वक अपने सुन्दर और चमकीले पंखों को कल्पना सौंदर्य के गजदन्तों पर फड़फड़ाती रहे।' स्पष्ट ही यह कह कर मारिस ने सदाचार और दुराचार यानी एक शब्द में जीवन को कला के क्षेत्र से बाहर कर दिया।

'कला कला के लिए है' इसका तात्पर्य बिल्कुल सीधा और स्पष्ट है। कलावादी विद्वान कला के माध्यम से कोई भी उपदेश, कोई नीति-युक्त वार्ता और न जीवन की किसी सच्चाई को प्रसारित करना चाहते हैं, वरन् इसके विपरीत कला के माध्यम से केवल सौंदर्य का सृजन और उपभोग करना चाहते हैं। सहृदयों के हृदय में कविता (कला) रस का संचार करे, वे क्षण भर के लिए कविता पढ़ कर दीन दुनियां को भुला बैठें—यही कला का प्रयोजन है। 'कला कला के लिए' सिद्धांत के पक्ष पर विद्वानों के मत इस प्रकार हैं:—

१. **जे.ई. स्पिनगार्नः**—जे. ई. स्पिनगार्न ने लिखा है कि "जो व्यक्ति शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार अथवा दुराचार ढूंढते हैं उनका यह प्रयत्न ऐसा ही है जैसे कोई रेखा-गणित के समत्रिकोणत्रिभुज को सदाचार पूर्ण कहे और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचार पूर्ण।" स्पष्ट है कि अमेरिकन आलोचक कला को नैतिक शासन में जकड़ना पसन्द नहीं करते हैं। आगे तो उन्होंने यहां तक कह दिया है कि "कला की नैतिक दृष्टि से परीक्षा करना एक अन्धी परम्परा है।"

२. **आस्कर वाइल्डः**—आस्कर वाइल्ड का मत है कि किसी भी कलाकार को यह विस्मृत नहीं करना चाहिए कि कला और आचार के क्षेत्र अलग-अलग हैं।

३. **ब्रेडलेः**—ब्रेडले का मत है कि 'कला की प्रवृत्ति बाह्य जगत से साम्य स्थापित करने या उसकी अनुकृति उपस्थित करने की नहीं होती, उसका अपना एक स्वतन्त्र, पूर्ण और निरपेक्ष जगत् होता है।'

४. इलियटः—आधुनिक समय के प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि इलियट ने लिखा है कि "शब्दों के भयानक दुष्प्रयोग के बिना यह कहना असम्भव है कि कविता नीति की शिक्षा, राजनीति मार्ग-दर्शन अथवा धार्मिकता या उनकी समकक्ष कुछ और है।" इन विचारों के साथ ही साथ कुछ विचारधाराएं ऐसी भी रही हैं जो कला को कल्पना-विलीन मानते हैं। फ्राइड़ और क्रोचे के सिद्धान्त इसी प्रकार के रहे हैं।

५. कलावादियों की दृष्टि में सत्यम् और शिवम् काव्य से बाहर की वस्तुएं हैं। कला का भावना से गहरा सम्बन्ध है। उसमें आत्मभाव की प्रधानता रहती है। यथार्थवाद के पोषकों की धारणा कुछ इस प्रकार है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि मानव की मूल प्रवृत्तियां हैं। उसकी सदाचार सम्बन्धी उदात्त वृतियां सभ्यता प्रसूत हैं, अतः दृढ़ मूल नहीं। ऐसी स्थिति में आवश्यक यह है कि मनुष्य की प्राकृतिक वृत्तियां ही उसकी कलाकृति में आकार ग्रहण करें।

६. क्रोचेः—क्रोचे का मत भी 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का पोषक है। उसकी अभिव्यंजना जीवन से एकदम पृथक है। इसी भांति फ्राइड़ के मतानुसार काव्य या साहित्य मानव की अतृप्त वासनाओं की नग्न अभिव्यक्ति मात्र है।

यूरोप के ही कलाकारों ने इस कलावाद का विरोध किया है, उसकी चर्चा करना भी इसी प्रसंग में आवश्यक प्रतीत होता है। मैथ्यू आर्नल्ड इस मत के घोर विरोधी हैं। उन्होंने उस कला को कला ही नहीं स्वीकार किया है जो जीवन के प्रति विद्रोही है अथवा उदासीन है। शैली ने भी काव्यानन्द को कलावादियों के आनन्द से भिन्न माना है। प्रत्येक वस्तु के दो रूप हो सकते हैं—एक तो स्वादपूर्ण तथा दूसरा सन्तोषपूर्ण। जो काव्य केवल स्वाद देता है और सन्तोष नहीं देता है, वह काव्य नहीं है। क्रिश्चियाना रोजेटी की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:—

"I plucked pink apples from apple tree, and wove them all that evening in my hair. Then in due season when I went to see, I found no apple there."

"किसी फलप्रद वृक्ष के प्रारम्भिक फलोद्गम से ही अपना शृंगार करके जो व्यक्ति मनोरंजन कर लेता है, निश्चय ही फल-प्राप्ति के समय उसे निराशा होती है। काव्य को क्षुद्र मनोरंजन का साधन बनाकर जो व्यक्ति तृप्त हो जाता है, जीवन के कठोर आघातों में सहनशीलता की शक्ति देने वाली जीवनव्यापिनी काव्योपयोगिता को वह अवश्य कुछ बना देता है।"

'कला कला के लिए' सिद्धान्त पर पाश्चात्य अनुकरण पर हमारे यहां भी विचार हुआ है। भारत में कला का प्रयोजन बहुत ऊंचा माना गया है। प्राचीन ऋषि लोग कला को केवल जीवन और संभोग की ही वस्तु नहीं समझते थे बल्कि कला का लक्ष्य ब्रह्मानुभूति भी था।

"विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे यमात्मा सा परा कला।"

आधुनिक साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव की अधिकता ने लोगों को और कला के पारखी विद्वानों को भी अपने प्रभाव में समेट लिया है। इसी प्रभाव की स्वीकृति स्वरूप इलाचन्द्र जोशी के ये वाक्य देखे जा सकते हैं--"विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का प्रकाश है। उसके भीतर नीति तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं है, उसके अलौकिक माया चक्र में से हमारे हृदय की तंत्री आनन्द की झन्कार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।" वास्तव में जीवन के संघर्षों से भागने वाला व्यक्ति अरण्य के झुरमुटों को काट भी कैसे सकता है। प्रसाद का करुणा कलित हृदय भी किसी मोहक भुलावे के लिए व्यग्र है और कहता है--

"ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी--
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्चल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के पोषकों की धारणाएं क्या हैं। वास्तव में कला का प्रयोजन क्या है इस बात का निर्णय देने के लिए अभी दूसरे पक्ष पर भी विचार कर लेना आवश्यक होता है।

कला जीवन के लिए:--साहित्य के अन्तर्गत जितना महत्व इस सिद्धान्त को प्राप्त है उतना ही 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त की महत्ता है। 'कला जीवन के लिए' सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना तो भारत में ही रही है, किन्तु इसका प्रचलन सभी जगह रहा है। इस सिद्धान्त के पोषकों की सबसे बड़ी दलील है कि उपयोगिता के अभाव में किसी भी वस्तु का कोई महत्व नहीं है। उपयोगी वस्तु वही होगी जो जीवन से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित होगी। ऐसी स्थिति में कला को जीवन के लिए बताना सर्वथा उचित ही है।

(४) मार्क्सवादी साहित्य कला सम्बन्धी विचारधारा भी 'कला जीवन के लिए' वाले सिद्धान्त से सम्बन्ध रखती है।

(५) लेनिन कला में उपयोगी तत्वों को महत्व देता था। इब्सन आदि ने भी इसी बात को ही स्वीकार किया। "सुनीति संगत प्रवृत्ति ही मानव जीवन की मूलभित्ति है। मानव का ऐसा कोई भी अनुष्ठान नहीं जिसमें नैतिक प्रभाव विद्यमान न हो।"

कला को जीवन की अभिव्यक्ति मानने वाले अथवा उसमें प्रेरित कोई कला मानने वालों ने कलावादियों के सिद्धान्त को एकांगी ठहराया है और बताया है कि:—

(१) कलावादी सिद्धान्त एकांकी है, जो कला में ही मानव जीवन का उच्चतम उत्कर्ष का अनुभव और प्रतिपादन करता है।

(२) वह कला और जीवन का सम्बन्ध विच्छेद करता है।

(३) इस सिद्धान्त ने काव्य को 'रूप के लिए रूप' बना दिया है।

भारतीय आचार्यों ने कला और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों ने काव्य के प्रयोजनों में कला और जीवन के महत्व को स्वीकार किया है। मम्मट का श्लोक पिछले पृष्ठों में उद्धृत किया जा चुका है। 'औचित्य विचार चर्चा' में भी कला के 'हृदय सम्बन्धी' और 'सत्य प्रत्यय' वाले गुणों की संस्कृति इसी सम्बन्ध को निश्चित करती है।

कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जो कला को 'कामार्थ संश्रय' कह कर उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हैं। उपनिषदों में जिस सत्य, शिव का उल्लेख है वह जो न से जुड़ा हुआ है और साहित्यसार की ये पंक्तियां—'काव्य स्वार्थाय अन्यार्थाय च' भी इसी भाव की द्योतक हैं।

'कला कला के लिए है अथवा जीवन के लिए है' इस प्रश्न का समाधान यदि हिन्दी साहित्य से करें तो स्पष्ट होगा कि तुलसी का काव्य कला को जीवन के लिए ही स्वीकारता है। उनकी रचनाएं 'स्वान्तः सुखाय' होकर भी बहुजन हिताय हैं। दूसरे, साहित्य या काव्य वही श्रेष्ठ है जिसे विद्वान आदर की दृष्टि से देखें:—

"जो प्रबन्ध बुध नहीं आदरही।
सो श्रम वादि बाल कवि करही॥"

आधुनिक हिन्दी साहित्य में कला को जीवन के लिए मानने वालों में आच शुक्ल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे चिन्तामणि में एक स्थल पर लिखते हैं। "मन को अनुरंजित करना कला नहीं है; उसे सुख और शान्ति पहुँचाना ही कला क अन्तिम लक्ष्य मान लिया जाये तो कविता भी विलास की सामग्री हो जायेगी।"

श्री मैथलीशरण ने भी कला को जीवन के लिए स्वीकार किया है। लिखते हैं:—

"मानते हैं जो कला के अर्थ ही।
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही॥

वह तुम्हारे और तुम उसके लिये।
चाहिए पारस्परिक ही प्रिये॥"

'वह तुम्हारे लिए है और तुम उसके लिए हो' यह पंक्ति कला की श्रेष्ठता जीवन से सम्बन्धित होने में ही मानती है। प्रसाद जैसे छायावादी कवि जो मोहक भुलावों में सांस लेता था, वह भी एक स्थान पर कला और जीवन की पारस्परिकता को भुला नहीं सका है:—

"चुन चुन ले रे कन कन से जगती की सजग व्यथाएं।
रह जायेगी कहने को जन-रंजन कहरी कथाएं॥"

निष्कर्ष:—उपर्युक्त पंक्तियों में हमने दोनों पक्षों का विवेचन किया है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कला का उद्देश्य सत्य की उपलब्धि है, आनन्द की उपलब्धि है किन्तु मनन जीवन का लक्ष्य है। ईश्वर सत्य स्वरूप है अतः वह आनन्द रूपी भी है। इसी के साथ यह भी सर्वमान्य है कि सत्य और आनन्द के मिलन से शिवम् की सृष्टि होती है। अतः सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता है। निश्चय ही जिस कला में सौंदर्य है वह उपयोगी भी होती ही है अतः कला जीवन से भिन्न होती है।

दूसरी बात यह है कि कलाकार जो कुछ भी अभिव्यक्ति करता है वह यद्यपि वैयक्तिक ही प्रतीत होती है। किन्तु उसमें भी समाज का स्वर अवश्य होता है। प्रयोग-वादी कविता पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह जीवन से दूर अति वैयक्तिक है किन्तु यह सब होते हुए भी यह माने बिना काम नहीं चलता कि इस धारा की कविता में व्यक्ति के साथ ही समाज और सामाजिकता या जीवन अभिव्यक्त हुआ है। अतः यह कहना चाहिए कि कलाकार आनन्द के प्रसार के लिए कविता या साहित्य का सृजन तो करता है किन्तु उसकी पृष्ठभूमि जीवनगत् विचार होते हैं या स्वतः ही आ जाते हैं। ये दोनों सिद्धान्त अलग रह कर जी नहीं सकते हैं क्योंकि दोनों ही अपने अपने क्षेत्र में प्रतिवादी प्रतीत होते हैं। कलाकार न तो केवल आनन्द के सहारे ही जी सकता है और न केवल आनन्द के अभाव में ही अपना गुजारा कर सकता है। अतः साहित्य वही है जो सौंदर्य के प्रसार के साथ-साथ जीवन की समस्याओं की ओर संकेत करे—चाहे वह संकेत अप्रत्यक्ष ही हो।

कीड़े पड़ जायें। वह 'तोष' दे सके किन्तु ऐसा तोष जो फिर भूख न लगे। जो काव्य या साहित्य इस 'स्वादु' और तोष को दे सकता है, वही सर्वश्रेष्ठ साहित्य है।

कलाओं का वर्गीकरण:--कला के विवेचन के उपरान्त जैसे ही हमारी दृष्टि कलाओं के वर्गीकरण की ओर जाती है वैसे ही हमारे मस्तिष्क में ये वाक्य गूंजने लगते हैं कि 'कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है।' इस उक्ति के मस्तिष्क में आते ही दूसरा विचार मस्तिष्क में उठता है कि यदि कला अखण्ड सत्ता है तो विभाजन हो ही नहीं सकता। क्रोचे के मत में कला का तात्विक, दार्शनिक व कलात्मक विभाजन सम्भव ही नहीं। हां, व्यावहारिक दृष्टि से कला का विभाजन हो सकता है। एक ही वस्तु का प्रभाव प्रत्येक मानव पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। ऐसी स्थिति में व्यक्त प्रकारों के आधार पर ही कलाओं का विभाजन किया गया है।

कला का जो विभाजन किया गया है वह शुद्ध रूप से व्यावहारिक है और इस कला के अनिवार्य उपकरणों के माध्यम से कलाकार अपने हृदय पर पड़े प्रभावों से उत्पन्न भावों को व्यक्त करता है। प्रायः कलाओं के दो वर्ग माने जाते हैं--उपयोगी कला और ललित कला। इस प्रकार के विभाजन का आधार बाह्य उपकरण है। व्यावहारिक दृष्टि से इस प्रकार का विभाजन उचित ही प्रतीत होता है। हम देखते हैं कि जीवन में अनेक वस्तुएं ऐसी हैं जो उपयोगी हैं और महत्वपूर्ण हैं, साथ ही सौंदर्य विधायक भी हैं। वस्तु के ये ही दो रूप वास्तव में व्यावहारिक दृष्टि से कला के दो रूप हैं।

वास्तव में जो वस्तुएं उपयोगी हैं इसलिए सौंदर्य से युक्त हैं और जो सौंदर्य से पूर्ण हैं वे उपयोगी तो हैं ही। ललित कला में लालित्य है किन्तु उपयोगिता की भी कमी नहीं है और उधर उपयोगी कलाओं में भी सौंदर्य या लालित्य है। उपयोगी कलाओं के अन्तर्गत वे सब कलाएं आती हैं जिनका हमारे दैनिक जीवन में समावेश भी होता है--लुहार, बढ़ई, सुनार, कुम्हार, जुलाहा आदि के कार्य इसी प्रकार के हैं।

इस विभाजन की उपयुक्तता का मानदण्ड यही है कि कला को इसके अन्तर्गत शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से परखा गया है। इसके अतिरिक्त कला का विभाजन उसके भौतिक आधारों के आधार पर किया गया है। कला के दो पक्ष होते हैं—अनुभूति पक्ष और कला पक्ष। कला पक्ष रूप पक्ष के अन्तर्गत आता है और इसे रूप पक्ष का नाम भी दिया जा सकता है। अनुभूति पक्ष के अन्तर्गत वे अनुभूतियां आती हैं जो कलाकार को अनुप्राणित करती हैं। कला पक्ष के मार्गों में वे मार्ग हैं जिनमें बाह्य तत्वों की स्वीकृति है और भाव पक्ष में आत्मा की स्वीकृति है। इसको इस प्रकार भी बताया गया है—'कला की सफल अभिव्यंजना' और 'कला की असफल अभिव्यंजना।' कुछ कलाएं ऐसी भी होती हैं जिनमें अनुभूति और कला का तुल्य योग होता है। जिन कलाओं में भाव या विचार या अनुभूति और अभिव्यक्ति मेल से चलती है उनको सफल कलाओं की संज्ञा दी जाती है। दूसरी वे कलाएं होती हैं जिनकी स्थिति इनके विपरीत

होती है तथा ये वे कलाएं होती हैं जिनमें कलाकार की अनुभूति में प्रौढ़ता नहीं होती है तथा साथ ही अनुभूति की प्रौढ़ता के अभाव में अभिव्यक्ति में भी कच्चापन आ जाता है।

विद्वानों के एक वर्ग ने कलाओं का वर्गीकरण उसके दो प्रधान पक्षों--अनुभूति और रूप के आधार पर किया है। इस दृष्टि से कलाओं के निम्नलिखित चार भेद हो सकते हैं:—

(१) अनुभूति की कमी पर रूप की विशेषता। (२) अनुभूति की तीव्रता पर रूप की कमी। (३) अनुभूति और रूप दोनों की न्यूनता। (४) अनुभूति तथा रूप का समन्वय।

इस विभाजन के अतिरिक्त और भी कई प्रकारों से कलाओं का वर्गीकरण किया जा सकता है। कुछ विद्वानों ने प्राचीन और आधुनिक कला नाम से कलाओं का विभाजन किया है तो कुछ ने धार्मिक और लौकिक कला नाम से।

कलाओं का यह विभाजन तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है। क्रोचे का यह कथन ही अधिक सारगर्भित प्रतीत होता है जिसमें कहा गया है कि 'कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है', भिन्नता केवल अभिव्यंजना प्रणालियों को लेकर हो तो बात दूसरी है। उपयोगी कलाएं मानव के दैनिक-जीवन की आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखती हैं और दूसरी ललित कलाएं मानसिक विकास के साथ-साथ अलौकिक आनन्द भी प्रदान करती हैं। अतः इन सब विभाजनों में शुद्ध व्यावहारिक आधार पर किया गया उपयोगी और ललितकलाओं वाला विभाजन ही सही और सार्थक प्रतीत होता है। हां, यह विभाजन योरुप की ही देन माना जा सकता है। हीगेल ने ललितकला के पांच भेदों का उल्लेख किया है। वे ये हैं—वस्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत, और काव्य। यह वर्गीकरण उपकरणों की दृष्टि से किया गया है।

डा० श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' में इसी 'हीगेल' के विभाजन को ही स्वीकार किया है। उन्होंने ललितकलाओं को प्रतीकात्मक, शास्त्रीय और रोमानी वर्गों में विभाजन न करके दूसरे प्रकार से किया है तथा हीगेल ही भांति समस्त कलाओं में काव्य-कला को ही श्रेष्ठ बतलाया है। उन्होंने हीगेल के आधार पर ही ललितकलाओं का विभाजन दो रूपों में किया है--(१) वे कलाएं जो नेत्रों द्वारा मानसिक तृप्ति देती हैं, जैसे वस्तु, मूर्ति और चित्रकला। (२) वे कलाएं जो कानों द्वारा मानसिक तृप्ति देती हैं। इस श्रेणी में संगीत और काव्य कला को स्थान प्राप्त है। अर्थ की रमणीयता के कारण काव्य कला में जो सौंदर्य का प्रसार है, वह अन्य कलाओं में नहीं।

ललितकलाओं की विशेषताएं:—डा० श्यामसुन्दरदास ने ललितकलाओं की निम्नलिखित विशेषताएं बतलाई हैं:-

(ग) ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं, जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुनने वाले के मन से सम्बन्ध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचा कर उसे प्रभावित करता है, अर्थात् सुनने या देखने वाले का मन अपने मन के सदृश्य कर देता है। सम्भवतः इसी आधार प वे मानते हैं कि "ललितकला मानसिक दृष्टि में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण है।"

उपयोगी कलाएं:—संसार में अनेक वस्तुएं हैं। मनुष्य सबको देखता है। उन से कुछ तो ऐसी हैं जो उसके अनुरूप हैं या उन्हें अपने अनुरूप ढालने का प्रयत्न करत है। इसके ढालने में उसका उपयोगितावादी दृष्टिकोण प्रधान रहता है। 'अनुरूप ढाल का यह प्रयत्न' ही उपयोगी कला की जननी है। मनुष्य जितने प्रकार के ढंग अप स्वार्थ के अनुरूप जुटाता है, उतने ही प्रकार की उपयोगी कलाएं हो सकती हैं। इस अन्तर्गत तमाम कारीगरी के कार्यों का समावेश होता है।

जयशंकरप्रसाद काव्य को कला नहीं मानते थे। उन्होंने हीगेल के कर सिद्धान्त का विरोध किया और इस विभाजन को अशुद्ध माना क्योंकि प्राचीन भारत शास्त्रकारों ने काव्य की गणना विद्याओं में और कला की गणना उपविद्या में की है जो काव्य की प्रकृति को देखते हुए अधिक समीचीन है। उन्होंने लिखा है—"आत की संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है और जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प औ विज्ञान से नहीं है। यह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक धारा है। विश्लेषणात्मक त और विकल्प के आरोप मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्म रूप में अभिव्यक्त होती है वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय पक्ष—प्रेय औ श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" आचार्य शुक्ल ने भी एक तरह से प्रसाद के मत समर्थन करके ही काव्य को कला नहीं माना है। बाबू गुलाबराय ने काव्य को क माना है तथा उनका कथन है कि "काव्य की विवेचना चित्र, संगीत और ललि कलाओं से भिन्न नहीं की जा सकती क्योंकि ये सब कलाएं केवल एक दूसरे से सम्बन्धि ही नहीं वरन् एक दूसरे पर प्रभाव डालने वाली हैं।" श्री रवीन्द्रसहाय वर्मा ने लि है कि 'हीगेलीय परिभाषा के अनुसार ललितकला को हम आयडिया (भाव) अभिव्यक्ति का साधन समझते हैं, तो काव्य की गणना ललितकलाओं के साथ करने आपत्ति नहीं होनी चाहिए।'

श्रेष्ठ कला:—अब केवल इन कलाओं में श्रेष्ठ कला के निर्णय का प्रश्न र जाता है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि 'काव्य-कला' को जो गौर प्राप्त है वह अन्य किसी कला को नहीं। काव्य-कला का आधार भाषा है। इसक अनुभूति नेत्रेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय द्वारा होती है। चित्र-कला और संगीत कलाओं क नाम भी इस प्रसंग में लिया जाता है। काव्य-कला की सर्वश्रेष्ठ कलात्मकता अथव विशेषता का कारण मूर्ति-विधान करना है। सभी कलाओं से समन्वित और प्रभावि

[काव्]य कला ही श्रेष्ठ है। भामह के ये शब्द कि 'महाकवि की कविता में कोई भी [ऐस]ा शब्द नहीं जो उसका अंग भूत बन कर उसमें समाविष्ट नहीं।' अतः काव्य कला [इन] सभी कारणों और विशेषताओं से युक्त होने कारण सर्वाधिक गौरव की [अ]धिकारिणी है।

४
भाषा प्रवृत्ति और उत्पत्ति

१. प्रस्तावना
२. भाषा–परिभाषाएं
३. भाषा–विशेषताएं
४. भाषा-विभाषा और बोली का अन्तर
५. भाषा विषयक तथ्यों का विवेचन
६. भाषा की उत्पत्ति-सिद्धान्त और निष्कर्ष
७. उपसंहार

१. प्रस्तावना—मनुष्य एकांकी जीवनयापन नहीं कर सकता है। उसे दूसरों [से स]म्पर्क बढ़ाना पड़ता है और स्वभावतः अकेले व्यक्ति का जीवन चलना भी सम्भव [नह]ीं है क्योंकि उसे कई बार अनेक आवश्यकताएं होती हैं और उन आवश्यकताओं की [पूर्]ति के लिये मनुष्य को दूसरों की ओर देखना पड़ता है। इससे मनुष्य की सामाजिकता [सिद्]ध होती है। इसके साथ ही साथ जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है वह यह कि [मा]नव परस्पर जब अपने भावों और विचारों का आदान प्रदान करता है तो उसके [लि]ये मनुष्य को कोई न कोई भाषा अपनानी पड़ती है। भाषा विचारों की वाहिका है। [इस]के बिना किसी व्यक्ति काम नहीं चल सकता है। जब भाषा नहीं थी तब मनुष्य [अप]नी अभिव्यक्ति के लिये कुछ निश्चित् संकेतों को अपनाता था। संकेतों का यह [प्रय]ोग ही उस समय भाषा का काम देता था। धीरे-धीरे मनुष्य की अभिव्यक्ति में [स्पष्]टता आती गई और एक समय आया जबकि उसे स्वर का सहारा मिला।

आज हमारे पास भाषा है और जोरदार भाषा है जिसका उपयोग करके हम [अप]ना काम चलाते हैं। भाषा के विविध रूप हो सकते हैं। कई बार अपने मनोभावों [क]ो हम केवल सिर हिलाकर, करतल ध्वनि से, गहरी दृष्टि से ही व्यक्त कर देते हैं। [आ]ज भाषा का समुचित विकास हो गया है फिर भी कई बार हमें भाषा के स्थान पर [संक]ेतों से काम लेना पड़ता है तथा संकेतों का वह प्रयोग कई बार भाषा से अधिक [अभ]िव्यक्ति प्रदान करता है। भाषा के साधनों के भोलानाथ तिवारी ने कई वर्ग [कि]ये हैं:—

(१) पहले वर्ग में वे साधन आते हैं जिनके द्वारा अभिव्यक्ति विचारों का स्पर्श होता है जैसे चोरों का हाथ हिलाना।

(२) दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे साधन आते हैं जिनके विचारों को समझने लिये आंख की आवश्यकता होती है जैसे हल्दी बांटना, स्काउटों को हरी झण्डी दि या हाथ दिखा कर संकेत करना।

(३) इस वर्ग के अन्तर्गत सर्वाधिक प्रचलित तथा महत्त्वपूर्ण साधन आ जिनके भावों का ग्रहण कान द्वारा होता है। इनका सम्बन्ध ध्वनि-से होता है। व ध्वनि, चुटकी बजाना, तार बाबू की टरो टक्कू या गरगट करना, या बोलना इसी वर्ग के विचार-विनिमय के साधन हैं।

व्यापक अर्थ में तो ये तीनों ही प्रकार भाषा के अन्तर्गत आते हैं किन्तु व अर्थ की अपेक्षा भाषा का अर्थ संकुचित अर्थ में ही लेना चाहिए।

२. **परिभाषायें**—विद्वानों की परिभाषाएँ घूम-फिर कर एक ही विन पहुँचती हैं। सामान्यतः भाषा का अर्थ यों कर सकते हैं—"प्रत्येक मनुष्य की वह या व्यापार जिसके द्वारा ध्वनि के माध्यम से वह अपने भाव और विचार व्यक्त है, भाषा कहलाती है।"

डा० मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है—"भाषा मनुष्य की उस चेष्टा या व को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से किये गये वर्णा या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।"

डा० बाबूराम शर्मा का मत है कि "एक प्राणी अपने किसी अवयव दूसरे प्राणी पर कुछ व्यक्त कर देता है" यही विस्तृत अर्थ में भाषा है।

डा० श्यामसुन्दरदास ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार की है—"मनुष मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान व लिये व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं।"

अंग्रेजी ने भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत भाषा की परिभाषाएँ इस प्रकार दी गई

(1) "The common definition of speech is the use of culate sound symbols for the expression of thought."

(A. G. Gardiner's Speech of Langu

(2) "Language is expression of human thought by m of speech, sound or articulate sounds."

पहली परिभाषा को ध्यानपूर्वक देखें तो स्पष्ट होता है कि भाषा विचार अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र है जिसमें ध्वनियों का व्यवहार किया जाता है। भाव को व्यक्त करने वाली दूसरी परिभाषा है। 'भाषा को व्यक्त ध्वनि-संकेतों के मानवीय विचारों की अभिव्यक्ति' कहना भी पहली परिभाषा का ही थोड़ा परिव रूप है।'

इन परिभाषाओं के अन्तर्गत भाषा के सम्बन्ध में दो बातों को लेकर बड़ी चर्चा चलती रहती है। भाषा का एक अर्थ है व्यापक रूप में और दूसरा अर्थ है संकुचित रूप में। बाबूराम सक्सेना ने लिखा है कि "भाषा शब्द का प्रयोग कभी व्यापक अर्थ में होता है और कभी संकुचित में। मूक भाषा, पशु-पक्षियों की भाषा अथवा संस्कृत के टीकाकारों द्वारा 'इति भाषायाम्' द्वारा अभिप्रेत भाषा में सर्वत्र एक ही भाव छुपा हुआ है— 'वह साधन जिसके द्वारा एक प्राणी दूसरे प्राणी पर अपने विचार, भाव या इच्छा प्रकट करता है।" डा० बाबूराम सक्सेना के इस कथन से भाषा का व्यापक अर्थ ही प्रकट होता है। डा० सक्सेना ने इस व्यापक अर्थ को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'बेकार की डाट खाकर शिशु जब मां की ओर टुकर-टुकर निहारता है और कुछ बोलता नहीं, तब क्या मां उस बच्चे के अन्त-स्थल की बात नहीं समझ पाती? अथवा जब विमुख होकर द्वार पर से भिखारी लौटने लगता है तो उसकी आकृति से जो भाव प्रकट होता है, वह किस सहृदय से छिपा रहता है? इसी प्रकार यदि गूँगा मुँह के पास हाथ लेजाकर चुल्लू बनाता है अथवा पेट पर हाथ फेरता है तो देखने वाले को उसकी प्यास या भूख का अन्दाज हो ही जाता है। पेड़ की सघन छाया में बैठे हुए पक्षियों में से यदि किसी को दूर से आती हुई बिल्ली दिखाई देती है तो उस पक्षी के शब्द करते ही उसके सारे साथी तुरन्त उड़कर पेड़ पर क्यों बैठ जाते हैं यदि उनको उस शब्द द्वारा भय की सूचना न मिलती हो?....कवि की प्रतिभा इससे भी वृहत्त अर्थ में भाषा समझ सकती है उसे अप्राणी भी परस्पर भाव व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। तुलसीदास ने वर्षाकाल में ताल-तलैयों के परस्पर स्नेह का जो आदान-प्रदान देखा, वह साधारण जन को बुद्धि नहीं देख सकी थी। सुमित्रानन्दन पंत को उदधि का गान सुनाई पड़ा। महादेवी वर्मा का गगन तो-स्वप्न-लोक की मधुर कहानी कहता सुनाता अपने आप, और उनकी प्रतिभा को 'नीरव तारों से बोली किरणों की अलकें' ऐसा स्पष्ट दिखाई देती हैं।"

इस कथन से भाषा की व्यापकता सिद्ध होती है किन्तु भाषा-विज्ञान में 'भाषा का यह व्यापक अर्थ नहीं लिया जा सकता है। भाषा-विज्ञान में भाषा का संकुचित अर्थ ही लिया जा सकता है। मनुष्य की अपनी भाषा के उच्चारण के दौरान कुछ ऐसी ध्वनियां भी काम करती हैं जो निरर्थक होती हैं और जिनसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता है। कुछ ध्वनियां केवल अनुभव की जा सकती हैं जैसे पशुओं को हांकने के लिए टर टर टर की ध्वनि। इस प्रकार की और भी ध्वनियां भाषा-विज्ञान से बाहर हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत उन्हीं भाषा-विषयक ध्वनियों का विवेचन किया जा सकता है जिनका विवेचन, विश्लेषण असम्भव है। जिन भाषाओं में हम अपने विचारों और भावों की अभिव्यक्ति कर सकते हैं वहीं भाषा को संकुचित अर्थ में लिया जा सकता है। भाषा का व्यापकतम अर्थ भाषा विज्ञान के क्षेत्र में किसी भांति भी स्वीकारा नहीं जा सकता है।

३. विशेषताएं—विद्वानों द्वारा भाषा की दी हुई अनेक परिभाषाओं से भाषा

की कुछ विशेषताएँ सामने आती हैं। उन सभी विशेषताओं के साथ भाषा की कुछ भी विशेषताएँ हैं जिन्हें हम यों प्रकट कर सकते हैं—

(१) भाषा वही सार्थक है जो वक्ता के विचारों या भावों को श्रोता या तक सही सही अर्थ में प्रेषित करदे।

(२) भाषा निश्चित प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप निकली उच्चारणों की समष्टि है जो विचार-विमर्श में सहायक होती है। भाषा के अन्तर्गत वे ध्वनियां आती हैं जिनको हम संकेत से समझते हैं।

(३) भाषा में एक सुव्यवस्था होती है। जिस भाषा में यह व्यवस्थित होती है उसको हम भाषा नहीं मान सकते हैं। यह तो अपने-आप ही स्पष्ट बात है। पूर्वकाल में भाषा बड़ी अविकसित थी और इसी कारण उसमें अव्यवस्था के रूप दिख देते थे। हमारी सभ्यता और जीवन की विकसित गतिविधियों के साथ भाषा में वि हुआ है।

(४) एक भाषा का प्रयोग किसी विशिष्ट वर्ग में होता है। उसी विशिष्ट के अन्तर्गत वह भाषा समझी और बोली जाती है।

(५) भाषा वही है जो अध्ययन और विश्लेषण की कसौटी पर खरी उतरे भाषा-विज्ञान की कुछ अपनी सीमाओं के कारण भाषा की विशेषताओं में इसका प्र स्थान है। इसको स्पष्ट शब्दों में यों कहा जा सकता है कि उच्चारणोपयोगी अव से निकली कोई ध्वनि ऐसी होती है जो अध्ययन और विश्लेषण के उपयुक्त नहीं ठह है तो उसे हम भाषा नहीं मान सकते हैं। 'चुम्बन' एक ऐसी ही ध्वनि है जो सम तो किसी भी स्थान पर जा सकती है किन्तु उसका न तो अध्ययन ही सम्भव है न विश्लेषण। इस प्रकार यह भाषा के क्षेत्र में प्रवेश पाने के अधिकारी नहीं है।

(६) भाषा में प्रयुक्त ध्वनि समष्टियां या शब्द सार्थक तो हो सकते हैं कि उनका भावों या विचारों से कोई सहजात सम्बन्ध नहीं बैठता है। आधुनिक विद्वानों बर्नर्डन, ब्लॉक, ट्रेगर तथा स्टुर्टेवेन्ट आदि ने इसे भाषा का 'माना हुआ' ध्वनि-प्रत बताया है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी शब्द या ध्वनि-समष्टि में जो अर्थ सम्मि लित है वह परम्परा से चला आया है इसलिए मान लिया गया है। यदि यह सम्ब स्वाभाविक या नियमित होता है तो सभी भाषाओं के अन्तर्गत इसी प्रकार की समानत मिलनी चाहिए। अंग्रेज 'व, आ, ट, अ, र' (वाटर) के योग को पानी समझता त इसका हिन्दी पर्याय भी यही होता। वह प, आ, न, ई, (पानी) का योग न होता इस पर कुछ लोगों ने शंका उठाई है। इस शंका का आधार ध्वन्यात्मक (onomoto poetic) शब्द है। इन शंका करने वालों की धारणा है कि यदि अन्य नहीं तो कम से कम ध्वन्यात्मक शब्दों में अर्थ का सम्बन्ध अवश्य ध्वनि से है। डा० भोलानाथ तिवारी ने लिखा है कि "इसमें सन्देह नहीं कि ध्वन्यात्मक (लड़ तड़, धड़ धड़, भौं भौं आदि)

शब्दों में अर्थ का कुछ न कुछ सम्बन्ध ध्वनि से अवश्य है किन्तु वह इतना अधिक नहीं जितना प्रायः लोग मानते हैं। यदि यह सम्बन्ध पूर्ण होता तो सभी भाषाओं में 'तड़तड़ाहट' को 'तड़तड़ाहट' ही कहते। कुत्ते सारे संसार में प्रायः एक से ही भौंकते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनके भौंकने की ध्वनि के लिए प्रयुक्त शब्द सारी भाषाओं में एक या एक-से होने चाहिए किन्तु तथ्य यह है कि इसके लिए विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों में बहुत अन्तर है। हिन्दी में भौं-भौं, अंग्रेजी में bom-bom, फ्रांसीसी में gnof-gnof, जापानी में wan-wan, गुजराती में भस-भस तथा तमिल में क़ोल-क़ोल आदि। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही ध्वनि के लिये ये विभिन्न भाषाओं में थोड़े बहुत अनुकरण का सहारा लेते हुए बिना खास नियम या पूर्ण व्यवस्था के मान लिए गए हैं। यही स्थिति सभी प्रकार के शब्दों के बारे में है। यदि शब्द या भाषा प्रयुक्त ये सार्थक ध्वनि समष्टियां यों ही मानी हुई या इच्छिक (Arbitrary) न होतीं तो संसार की सभी भाषायें लगभग एक-सी होतीं।"

४. भाषा, विभाषा और बोली का अन्तर :—

बोली उपबोली:—बोली और विभाषा को लेकर पर्याप्त चर्चा चलती रहती है। बोली भाषा नहीं है वरन् भाषा का वह रूप है जो सीमित क्षेत्र में बोला जाता है या घर में बोली जाने वाली भाषा को बोली कहा जा सकता है। हिन्दी के कुछ लोगों ने भाषा के इस रूप के लिए कहा है कि इसे उपबोली भी कहा जा सकता है। उपबोली के लिए 'पेटवा' शब्द भी कहा गया है। इसकी चार विशेषतायें मानी गई हैं—(क) यह बोली से अपेक्षाकृत छोटा, स्थानीय रूप है, (ख) यह असाहित्यिक होती है, (ग) यह अग्राह्य होती है, (घ) यह अपेक्षाकृत निम्न स्तर के लोगों की भाषा होती है।

कई बार देखा जाता है कि उपबोली जब किसी दूसरी बोली से मिलती-जुलती दिखाई देती है तो उसे बोली कह कर ही काम चलाया जाता है। अवधी और ब्रज पूर्वकाल में बोली ही थीं जो आगे विकसित होकर विभाषा के रूप में बदल गईं। एक ही भाषा में कई बोलियां हो सकती हैं। इसी कारण यह बात कही जाती है कि बोली का क्षेत्र संकुचित और छोटा होता है। बोली की परिभाषा डा० भोलानाथ तिवारी ने इस प्रकार दी है "बोली किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं जो ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होता है, किन्तु इनता भिन्न नहीं कि अन्य रूपों के बोलने वाले उसे समझ न सकें, साथ ही जिसके अपने क्षेत्र में कहीं भी बोलने वालों के उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरों आदि में कोई बहुत स्पष्ट और महत्वपूर्ण भिन्नता नहीं होती।"

वस्तुतः घरों में बोला जाने वाला रूप बोली होता है। उदाहरणार्थ ब्रज-भाषा के क्षेत्र में जो भाषा घरों में बोली जाती है, उसे ही बोली कहना चाहिए।

विभाषा:—विभाषा बोली का विकसित रूप है। जब कोई बोली अपना क्षेत्र विस्तृत कर परमार्जित तथा शिष्ट रूप में आ जाती है तथा एक बड़े प्रान्त की बोली बन जाती है, तब उसे विभाषा का रूप प्राप्त होता है। बोली जब विभाषा का रूप धारण करती है तो उसके पीछे किसी साहित्यकार का हाथ होता है। ब्रज के घरों में बोले जानी वाली बोली जब सूर जैसे कवियों के हाथों पड़ी तो वह साहित्य में अवतरित हो गई और विभाषा नामधारी बनी। अवधी का भी यही हाल रहा। यह भी बोली से विभाषा बनी है। इसको विभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय तुलसीदासजी को रहा है। खड़ी बोली का इतिहास भी इसी प्रकार का रहा है। पहले पहल यह दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों में बोली जाती थी और धीरे धीरे यह विकसित होती गई और परमार्जित रूप में यह हमारे सामने आई। यह विभाषा ही अनेक बार भाषा का रूप धारण कर लेती है। धार्मिक श्रेष्ठता से कई बार बोली को महत्व मिल जाता है। राम और कृष्ण के प्रदेशों को जो महत्व मिला है उसके मूल में धार्मिक भावना काम कर रही है। इन दोनों 'ब्रज और अवधी' को औरों की अपेक्षा अधिक सम्मान मिला है। ब्रज का नाम तो ब्रजभाषा ही बन गया। बोलियों के महत्व का कारण क्या है और वे क्यों भाषाओं में बदल जाती हैं इसके सम्बन्ध में विचार करने पर यही तथ्य सामने आते हैं:—

(क) धार्मिक श्रेष्ठता से बोली महत्व पाती है।

(ख) बोलने वालों की महत्ता भी बोली को महत्व देती है।

(ग) राजनीति का आश्रय पाकर भी कई बार बोलियां विभाषा और यहां तक कि राजभाषा का पद भी पा लेती हैं।

(घ) साहित्यकारों की प्रेरणा से भी बोली विभाषा का रूप धारण कर लेती है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि बोली ही विभाषा बनती है और विभाषा का विकसित रूप ही भाषा और राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर लेता है।

५. भाषा विषयक तथ्यों का विवेचन:—

१. क्या भाषा पैत्रिक सम्पत्ति है?—कुछ विद्वानों की धारणा है कि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति है। जिस प्रकार पिता का उत्तराधिकार पुत्र को सहज ही प्राप्त हो जाता है ठीक उसी प्रकार पिता से स्वाभाविक रूप में भाषा पुत्र को प्राप्त हो जाती है किन्तु यह धारणा निर्मूल है। उदाहरण स्वरूप यदि कोई बालक हिन्दुस्तान में पैदा होता है और यदि हम उसे विदेश में रख दें, वहीं उसका पालन-पोषण हो तो क्या वह हिन्दी भाषा सीख सकेगा? निश्चय ही वह हिन्दी नहीं सीख सकेगा, कारण स्पष्ट है, यदि लड़का विदेश में रह कर भी यदि हिन्दी भाषा ही बोले तो यह माना जा सकता है कि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति होती है। कहा जाता है कि कुछ समय पूर्व लखनऊ के अस्पताल में एक ऐसा लड़का लाया गया था जो कुछ भी नहीं बोल सकता था। कारण खोजने

पर पता चला कि उसे बचपन में ही भेड़िया उठा ले गया था तथा तभी से वह भेड़िये के सम्पर्क में रहा अतः उसके लिए मानवीय भाषा बोलना सम्भव न हो सका। यदि भाषा को पैत्रिक सम्पत्ति मान लें तो स्पष्ट ही यह बात कही जा सकती है कि यह मत निर्मूल और निराधार है और भेड़िये द्वारा उडाये गये लड़के को भी मानवीय भाषा बोलनी चाहिए थी, उसने भेड़िये की सी आदतें क्यों सीखीं ? अतः स्पष्ट है कि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति नहीं है।

२. **भाषा अर्जित सम्पत्ति है**—भाषा न तो पुत्र को पिता से प्राप्त होती है और न वह दैवी-शक्ति से ही प्राप्त होती है वरन् वह तो अर्जित सम्पत्ति है। व्यक्ति हो या छोटा बालक, सभी वातावरण में रह कर ही तदनुरूप भाषा का अर्जन करते हैं। बड़े से बड़े व्यक्तियों को ही देखिये, उनकी भाषा कैसी भी क्यों न रही हो वे वर्तमान जीवन में जिस वातावरण में रहते हैं उस भाषा का प्रभाव उन पर अवश्य पड़ता है। ऐसी स्थिति में भाषा अर्जित सम्पत्ति ही ठहरती है वह पैत्रिक कभी भी नहीं हो सकती है। भेड़िये द्वारा उठाये गये बच्चे के प्रसंग से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि भाषा का अर्जन वातावरण से होता है। सचाई तो यह है कि भाषा ही क्यों, मनुष्य के जीवन में समूचे रूप में वातावरण का प्रभाव पड़ता है। अतः भाषा अर्जित सम्पत्ति है, पैत्रिक नहीं।

३. **भाषा चिरपरिवर्तनशील है**—भाषा की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने स्वरूप को बदलती रहती है। परिवर्तन की यह क्रिया लोक-नित की नंगर सवारी पर चढ़ कर होती है। भाषा क्योंकि अभिव्यक्ति का साधन है और अभिव्यक्ति के समय भाषा का मौखिक रूप ही प्रधान होता है। मौखिक रूप में भाषा उच्चारण-सम्बन्धी भिन्नता के कारण परिवर्तन की राह पर अग्रसर होती रहती है। भाषा को कोई भी व्यक्ति हो, अनुकरण से सीखता है। अनुकरण की प्रक्रिया सदैव सही और उचित ही हो, यह कभी सम्भव ही नहीं दीखता है। दो व्यक्तियों की भाषा में उच्चारण-सम्बन्धी अन्तर तो होता ही है, अभिव्यक्ति-विषयक अन्तर भी होता है। ऐसी स्थिति में भाषा की परिवर्तनशीलता स्वतः सिद्ध है। भाषा के दो आधार होते हैं—शारीरिक और मानसिक। परिवर्तन के समय ये दोनों ही प्रक्रियाएँ काम करती हैं। अनुकरण-कर्त्ता की स्थिति सदैव एक सी नहीं रहती है चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक। अनुकरण की स्थिति में हुई भिन्नता भाषा को बदलती रहती है। भाषा की परिवर्तन-शीलता में कुछ बाह्य प्रभाव भी सहायक होते हैं। उच्चारण की भिन्नता, अनुकरण की अपूर्णता तथा बाह्य प्रभावों के कारण भाषा चिरपरिवर्तनशील कही जाती है।

४. **भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं**—किसी वस्तु का पूर्ण निर्माण उसका अन्तिम स्वरूप कहलाता है। अन्तिम स्वरूप पाकर वह वस्तु आगे विकास नहीं कर सकती है। भाषा के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। भाषा चाहे वह कोई भी किसी भी प्रदेश या देश की क्यों न हो अपने अन्तिम स्वरूप में हमारे सामने नहीं आ सकती

। इसका एक-मात्र कारण भाषा की चिरपरिवर्तनशील प्रवृत्ति है। भाषा, जिसे हम चिरपरिवर्तनशील कहते हैं वह तो जीवित भाषा है किन्तु जो भाषाएं मृत हैं उनके सम्बन्ध में वह सूत्र लागू नहीं होता है कि "भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं होता है।" भाषा में सदैव कुछ न कुछ विकास होता रहता है और विकास की यह प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म और शीघ्र होती है कि कई बार तो पता भी नहीं चल पाता है, किन्तु कालान्तर में यह अनुभव होने लगता है। भाषा वही है जो विकसित होती रहती है। जिस भाषा का विकास-मार्ग अवरूद्ध होता जाता है वह स्थिरता को प्राप्त होती है और इस प्रकार जीवित धर्म को छोड़ देती है। संस्कृत भाषा कुछ ऐसी ही भाषा है जिसने विकास-पथ को छोड़ दिया और आज भी जिस रूप में में है वह उसका वही पुराना और परम्परावादी रूप है। अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में यह बात नहीं है।

५. भाषा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है:—सभी भाषाओं के सम्बन्ध में यह नियम लागू होता है कि "भाषा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर उन्मुख होती है।" इसका प्रधान कारण मनुष्य के स्वभाव में छिपा है। मनुष्य कम से कम श्रम करके अधिक और पूर्ण लाभ उठाना चाहता है। भाषा के विषय में भी मानव की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही 'विमलेश' को 'विम्भी' और 'उर्मिला' को 'उभि' तथा 'शारदा' को 'सद्दा' कहकर वह पुकारता है। पुरुषों के नामों के सम्बन्ध में भी यही बात है—'ओउम् प्रकाश' को 'ओमी' या ओम्, 'हरीशंकर' को हरी, सत्येन्द्र को सतेन्द्र और आगे चलकर 'सत्तो' या 'सत्ति' कहकर पुकारा जाता है। यह परिवर्तन ही भाषा की इस प्रवृत्ति का परिचायक है। व्याकरण के रूपों में यही प्रवृत्ति देखी जाती है। भाषा वास्तव में पानी की वह धारा है जो ऊंचाई या कठिनता से नीचाई या सरलता की ओर बहती रहती है।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि आज हिन्दी ने कठिन मार्ग को अपना लिया है। मेरी समझ में यह बात नहीं है। कविता और गद्य की भाषा दोनों में हम इसी प्रवृत्ति को पाते हैं जिसमें भाषा सरलता की ओर अग्रसर होती रहती है। आज हम अपने जीवन में अंग्रेजी, उर्दू और हिन्दी के शब्दों के सम्मिलित स्वरूप को पाते हैं और क्योंकि इन सभी भाषाओं ने हमारे जीवन और मनोभावों को प्रभावित कर रखा है अतः इनका प्रयोग बड़ा सरल और व्यावहारिक दृष्टि से युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इस प्रयोग को कोई कठिनता कहे तो यह उसकी भूल है; क्योंकि आज साधारण से साधारण व्यक्ति भी हिन्दीतर भाषाओं के शब्दों को जानता है और इसलिए उनको कठिन कैसे स्वीकार किया जा सकता है। हां, कुछ नये गढे शब्द जैसे 'एथ्या', 'दीर्घा', 'लोहपथगामिनी' और 'धूम्र शकट विश्राम स्थल' अवश्य कठिनता के द्योतक हैं और मेरी दृष्टि में ये कठिनता के साथ-साथ कृत्रिमता का अधिक आभास देते हैं। इन शब्दों का हिन्दी से कोई सरोकार नहीं है क्योंकि हिन्दी ने इनके स्थान पर 'सड़क, गैलरी, रेल और स्टेशन' आदि शब्दों को बड़ी उदारता से अपना लिया है। मनुष्य की स्वाभाविक

प्रवृत्ति में ये भेड़िये से खूंखार शब्द कभी भी महत्व और गौरव के भागीदार नहीं हो सकते हैं।

६. भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाती है:—भाषा अपने प्राचीन रूप में स्थूल थी। उसमें अभिव्यक्ति की वह सूक्ष्मता और लाक्षणिकता नहीं थी जो आज विद्यमान है। भावों और विचारों की वाहिका भाषा अपने स्थूल रूप के कारण अभिव्यक्ति के क्षेत्र में बड़ी लद्धड़ और स्थूल थी। समय के साथ भाषा ने भी नयी वेश-भूषा पहनी है और आज वह अधिक परिमार्जित और संशोधित रूप में हमारे सामने है। भाषा की परिवर्तनशीलता और विकास की जो स्थितियां हैं, उनमें से गुजर कर भाषा ने प्रौढ़ता प्राप्त करली है। कभी तो बात बड़े भद्दे रूप में कही जाती थी, वही आज बड़े शिष्ट और संगत ढंग से कही जा सकती है। यह भाषा की प्रौढ़ता की ही परिचायका है। समय ने कितना अन्तर ला दिया है—बात वही है केवल कहने का ढंग बदल गया है। अतः सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ भाषा में भी सूक्ष्मता में आ गई है। स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने में प्रयोग भी बड़े सहायक होते हैं। आज हिन्दी का जो स्वरूप है वह कल की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, प्रौढ़ और परिमार्जित है आगे चल और भी निखार ले आयेगा।

७. भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है:—आज से पूर्व कुछ लोगों की धारणा थी कि भाषा वियोग से संयोग या विश्लेषण से संश्लेषण की ओर जाती है किन्तु आज इसके विपरीत मत प्रचलित है। यह मत है 'आज भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है या जाया करती है।' उदाहरणार्थ संस्कृत संयोगावस्था की भाषा है और हिन्दी वियोगावस्था की। संस्कृत में 'रामः गच्छति' और हिन्दी में 'राम जाता है।' संयोग का अर्थ है ऐसी स्थिति जैसे संस्कृत का वाक्य और वियोग का अर्थ है हिन्दी का वाक्य। संस्कृत में केवल गच्छति से काम चल जाता था जबकि हिन्दी में विश्लेषण आ गया और 'जाता है' का प्रयोग होने लगा।

८. भाषा आद्यंत सामाजिक वस्तु है:—अनेक तर्कों से यह सिद्ध है कि भाषा पैत्रिक देन न होकर अर्जित सम्पत्ति है और यह मान लेने पर कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है यह बात अपने आप ही स्पष्ट है कि भाषा का यह अर्जन मनुष्य समाज या वातावरण से करता है। समाज के बिना भाषा का कोई मूल्य ही नहीं है क्योंकि भाषा का प्रयोग मनुष्य समाज में रह कर ही अपने विचारों के अभिव्यंजन के लिए करता है। समाज से अलग रहकर जब व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता है तो फिर समाज के व्यक्ति से अलग भाषा कैसे रह सकती है। भाषा का अर्जन समाज में और उसका विकास भी समाज में ही होता है। इन विचार-बिन्दुओं से भाषा आद्यंत सामाजिक वस्तु ठहरती है।

९. भाषा की उत्पत्ति:—मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज में रहकर वह जिस भाषा को अपनाता है वह क्या है, कैसे उत्पन्न हुई, इस सम्बन्ध में सोचता ही

नहीं किन्तु यह बात उन्हीं लोगों के सम्बन्ध में कही जा सकती है जो शिक्षित नहीं हैं या जो थोड़े बहुत शिक्षित होकर भी इस ओर से उदासीन हैं। हां, भाषा-विज्ञान के अध्येता होने के कारण भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के मन में यह प्रश्न उठना कि 'भाषा कैसे उत्पन्न हुई' स्वाभाविक है। जब कभी इस प्रश्न पर हम गम्भीरता से विचार करते हैं तो उससे ही जुड़े हुए कई प्रश्न एकसाथ मस्तिष्क में कौंध जाते हैं कि मनुष्य ने पहले-पहले कैसे बोलना सीखा होगा। भाषा-विज्ञानियों ने इस सम्बन्ध में दो मार्ग अपनाये हैं—प्रत्यक्ष मार्ग और परोक्ष मार्ग।

प्रत्यक्ष मार्गः—सबसे पहले कुछ विद्वानों ने दुनियां के झंझटों को ठुकराते हुए यह मत प्रतिपादित किया कि 'भाषा ईश्वर-प्रदत्त है' और इस आधार पर यह कहा कि भाषा उसे दैवी-शक्ति से प्राप्त हुई है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि मनुष्य की उत्पत्ति के साथ जैसे उसे कुछ आवश्यकताएं होती हैं और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ईश्वर ने जैसे साधन जुटाये हैं उसी प्रकार मनुष्य की उत्पत्ति के साथ उसे भाषा भी प्रदान की है।

१. यहां पर यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर की प्रदत्त यह भाषा कौनसी थी जिसको सबसे पहिले मानव ने बोलना सीखा था। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वेदों की भाषा ही सबसे पहली मानव-भाषा है जिसे ईश्वर ने मनुष्य को दिया है। संसार के अन्य धर्मों के मानने वाले भी इसमें विश्वास करते हैं किन्तु वे अपने-अपने धर्मों की भाषा को ही प्रथम भाषा मानते हैं और कहते हैं कि उसी मूल भाषा से संसार की अन्य भाषाओं की सृष्टि हुई है। उदाहरणार्थ हिन्दुओं को ही लें तो यह स्पष्ट होगा कि संस्कृत को ही अपनी प्रथम भाषा स्वीकार करते हैं। संस्कृत को देववाणी मानकर वे इस प्रकार की बात कहते हैं। ईसाई ये बात मानते हैं कि उनका प्राचीन विधान 'Old Testament' नामक ग्रंथ जिस भाषा में है वह संसार की सबसे बड़ी भाषा है। इस्लाम धर्म के मानने वाले अपने ग्रन्थ 'कुरान' की भाषा को ही पहली भाषा स्वीकारते हैं। बौद्ध-धर्मावलम्बियों की धारणा है कि संसार की पहली भाषा 'पाली' है जो ईश्वर-प्रदत्त है।

कुछ विद्वान जिनमें पंतजलि का मत है कि ईश्वर से पूर्व कोई गुरु नहीं था, वही अनन्त काल से आदि गुरु के रूप में चला आ रहा है अतः देववाणी संस्कृत ही आदिम भाषा है। 'कच्चायन' पाली व्याकरण के रचयिता का कथन है–'मागधी भाषा सारी भाषाओं का मूल है।' इसी की पुष्टि में मैक्समूलर ने अपनी रचना 'Lectures on the Science of Language' में कहा है कि 'यदि माता–पिता अपनी भाषा बच्चे को न सिखलाएं तो वह स्वाभाविक रूप में मागधी ही बोलेगा।' महाभाष्यकार उबर और महीधर के अनुसार अपौरुषय वेदों में ईश्वर ने संस्कृत भाषा द्वारा अपने रूप की स्वयं व्याख्या की है। यथा—

"हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापहितं मुखं।
योऽसौ आदित्ये पुरुषः सो साऽवहम्॥"

समीक्षाः—वास्तव में यह तर्कसंगत नहीं है क्योंकि यह कोई तर्क नहीं है कि ईश्वर ने जैसे मनुष्य को पैदा किया वैसे ही भाषा को भी। यह बात हम पिछले प्रश्न में कह चुके हैं कि भाषा पैत्रिक सम्पत्ति नहीं है वह तो अर्जित सम्पत्ति है और आद्यंत समाज की वस्तु है। ऐसी स्थिति में यह सिद्ध स्वतः ही हो जाता है कि भाषा वातावरण के अनुकूल ही बनती है। कुछ भाषाओं में जिन्हें आदिम भाषा माना गया है, उनमें संस्कृत का प्रथम स्थान है किन्तु संस्कृत को दैवी भाषा मानना सर्वथा तर्कसंगत नहीं है क्योंकि ईश्वर ने—'हिरण्यमयेन' से अपने रूप की व्याख्या की है, उन्हीं ऋचाओं की सृष्टि करके कुत्सित वासना को जन्म न देते और न 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासि बाहू' आदि ऋचाओं में मानव-मानव में जाति भेद की व्याख्या करते। इसके साथ ही मिश्र के राजा सोमोटिक्स ने हाल पैदा हुए दो बच्चों को मनुष्य से दूर पोषित होने की व्यवस्था की और परिणाम यह निकला कि वे कोई भाषा नहीं बोल सके, केवल 'बेकोस' शब्द का उच्चारण करके ही रह गये जिसका अर्थ रोटी होता है। खोज करने पर पता चला कि वे बच्चे इस शब्द को इसलिए सीख गये कि रोटी देने वाला इसका उच्चारण करता था। इसके साथ ही एक बात और कही जा सकती है कि यदि भाषा ईश्वर-प्रदत्त होती और दैवी। शक्ति का प्रसाद होती तो उसके सभी नियम चाहे वे व्याकरण के हों या भाषा के, निश्चित होते, उनमें परिशोधन और परिवर्तन करने की आवश्यकता ही क्या थी। इन विचार विन्दुओं से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा ईश्वर-प्रदत्त नहीं है।

(३) धातु-सिद्धान्त या डिंगडॅंगवाद:—कहा जाता है कि मैक्समूलर ने भाषा के सम्बन्ध में एक निश्चित मत का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार मनुष्य के विचारों और भाषा का नित्य तथा अटूट सम्बन्ध होने से मानव सृष्टि के आरम्भ में ही मनुष्यों के विचार स्वभाव से ही भाषा के मूल तत्व, स्वरूप कुछ धातुओं द्वारा प्रकट हो गये, फिर धीरे-धीरे उन धातुओं के आधार पर भाषा का विकास हुआ। मैक्समूलर ने लिखा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में जब मनुष्य किसी वस्तु को देखता था तो अपनी 'लिमाविका शक्ति' के आधार पर उसके मुख से अनायास ही ध्वनि निकलती होगी। इस प्रकार अनेक ध्वनियों ने मिलकर भाषा का रूप ग्रहण किया।

मैक्समूलर ने लिखा है कि "प्रायः सारी प्रकृति में यह नियम पाया जाता है कि प्रत्येक वस्तु टकराने से शब्द करती है। यह शब्द या झन्कार प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार की होती है। तांवा, पीतल आदि धातुओं के स्वरूप को थोड़ा वहुत हम उसके कम्पन से या आघात करने पर उनके उत्तर या प्रतिध्वनि से पहिचान सकते हैं।"

समीक्षा—यह सिद्धान्त भी निरर्थक है क्योंकि संसार की सभी भाषाएँ न तो धातु-मूलक हैं और न यही माना जा सकता है कि प्रारम्भिक मानव समाज में इस प्रकार की धातुओं को उत्पन्न करने की अप्रतिम क्षमता थी। भाषा का प्रारम्भ मनोभावाभि-व्यंजक शब्दों से होता है न कि वर्णात्मक शब्दों से।

(४) अनुकरणमूलक वाद:—भाषा की उत्पत्ति के सम्वन्ध में प्रचलित सिद्धान्तों में अनुकरण-मूलकता का सिद्धान्त भी महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के मानने वालों की मान्यता है कि मानव ने प्रारम्भ में पशु-पक्षियों की ध्वनियों को सुन कर उनका अनुकरण किया और इस प्रकार वह शब्द स्वप्न में प्रवृत्त रहा। 'काका' भौं-भौं आदि ध्वनियां इसी प्रवृत्ति की परिचायिका हैं। पेड से पत्ते गिरने की जो ध्वनि पत् होती है उसी के ही अनुकरण पर पत्ता शब्द बना। अनुकरण मूलक सिद्धान्त के प्रवर्तक हर्डर ने लिखा है कि "आदि-काल में मनुष्य जड़ तथा चेतन प्रकृति की प्राकृतिक ध्वनियों का अनुकरण करता रहा होगा और वाद में ये ही ध्वनियां उन पदार्थों और जीवों की प्रतीक वन गई होंगी।"

समीक्षा—यद्यपि इस मत के हलके में संकेत भारतीय विचारकों ने भी दिये हैं। यास्क ने इस प्रवृत्ति का उल्लेख 'शव्दानुकृति' कह कर किया है। किन्तु मैक्समूलर इस सिद्धान्त के कटु आलोचक हैं। उनकी दृष्टि में ये शव्द 'कृत्रिम फूलों की भाँति निःसंतान होते हैं।' सचाई यह है कि यह सिद्धान्त भी अनुमानाधारित अधिक है, प्रमाणाधारित नहीं, क्योंकि न तो संसार की सभी भाषाओं के शव्द अनुकरण जन्य हैं और न यह माना जा सकता है कि मानव ने पशु-पक्षियों की ध्वनि का अनुकरण किया। यह तो किन्हीं अंशों में स्वीकार किया जा सकता है कि वहुत से शव्द अनुकरण पर वन जाया करते हैं किन्तु यह वात कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकती है कि भाषा के सारे शव्द ही अनुकरण पर या अनुरणन पर वने हैं। निष्कर्षतः यह तो मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी

चाहिए कि भाषा में ऐसे अनुकरणमूलक शब्द होते हैं किन्तु सर्वथा नहीं।

(५) **मनोभावाभिव्यंजकतावाद का सिद्धान्तः**—भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो पांचवा प्रचलित सिद्धान्त है, वह भाषा की उत्पत्ति, मनोभावों की अभिव्यंजना पर अधिक बल देता है और स्वीकार करता है कि भाषा इसी से स्फुटित हुई है। प्रायः यह कहा जाता है कि मनुष्य में भय, शोक, क्रोध-आदि के आवेश–जन्य मनोभाव स्वतः किसी न किसी ध्वनि से पैदा हुए हैं। ये ही ध्वनियां धीरे-धीरे भाषा बन गई हैं। आज हम प्रायः देखते हैं कि भाषा मनोभावों की अभिव्यक्ति करती है। कांडरलिक, जैस्पर्सन और विकासवाद के जनक डार्विन आदि विद्वानों की मान्यता है कि "मनुष्य ही क्या, पशुओं तक में यह नियम पाया जाता है कि हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि मनोभावों तथा छींकना, खांसना, फुकारना आदि अनैच्छिक क्रियाओं के आवेग के समय उनके मुँह से आह, उह तथा छींह फूँह आदि कुछ स्वाभाविक ध्वनियां सहज ही निकल पड़ती हैं।"

समीक्षा—इस सिद्धान्त को भी आंशिक रूप से ही स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि कुछ ही शब्दों का समाधान यह सिद्धान्त देता है। सम्पूर्ण भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त कदापि लागू नहीं हो सकता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि आवेश–जन्य शब्दों की प्रत्येक भाषा में सीमा होती है और कहा जा सकता है कि—

१. सभी जातियों और देशों के निवासियों के विस्मयादिबोधक शब्दों में एकरूपता होती है।

२. प्रत्येक भाषा में ये अति सीमित होते हैं।

३ इन शब्दों के अतिरिक्त और भी इतने शब्द हैं जिनका महत्व इनकी तुलना में अधिक है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस सिद्धान्त को भी आंशिक रूप से समझा और स्वीकार किया जा सकता है। पूर्णता की दृष्टि से यह भी समीचीन नहीं है।

(६) **श्रम परिहरणमूलकतावादः**—इस सिद्धान्त को यो हे हो वाद भी कहा जाता है। इस मत के समर्थक नायर का कथन है कि "जब मनुष्य शरीर से कोई कठिन परिश्रम करता है तो श्वास का वेग बढ़ जाता है-और यह स्वाभाविक भी है। इस श्वास वेग से जो श्रमजन्य-थकान महसूस होती है उसे दूर करने के लिये कुछ ध्वनियां स्वतः ही स्फुटित हो उठती हैं। धोबी कपड़ा धोते समय छी हो, ओछी और मल्लाह थकान मिटाने के लिये 'यो हे हो' का उच्चारण करता है। इसी प्रकार बूरा कूटने वाले बूरा कूटते समय हिः हिः शब्द करते हैं।

समीक्षा—यह सिद्धान्त तो किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं हो सकता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि इन ध्वनियों की निरर्थकता स्वतः सिद्ध है तथा इतना ही नहीं, भाषा में इनका कोई महत्व ही स्वीकृत नहीं होता है।

(७) **विकासवाद का सिद्धान्तः**—भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो उपर्युक्त सिद्धान्त बताये गये हैं उन सभी का खण्डन करते हुए कुछ विद्वानों ने विकासवाद

के समन्वित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस मत के समर्थक की मान्यता है कि पशु-पक्षियों के समान आदि-मानव भी निरर्थक ध्वनियों का प्रयोग करता होगा। स्वीट जैसे भाषाविद् और भाषा-वैज्ञानिकों की मान्यता है कि उन्हीं निरर्थक ध्वनियों से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ है। स्वीट महोदय ने अपने मत को अनुकरण, मनोभावाभिव्यंजकता तथा वो हे हो वाद के समन्वय के बाद स्थिर किया है। जो विद्वान इस समन्वित विकासवाद को मानते हैं वे इसके साथ यह कहते हैं कि कोयल, कोक, घुग्घू जैसे अनेक शब्दों का जन्म अनुकरण की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है। 'पानी,' पापा, और मामा आदि शब्दों का आविर्भाव प्रतीक रूप में हुआ है। साथ ही कुछ अन्य शब्द भी इनके साथ विकसित होते गये और इस प्रकार भाषा का जन्म हुआ। अनेक शब्दों और ध्वनियों की उत्पत्ति मानसिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति के लिये होती रही। "एक ध्वनि के अर्थ को सम्बन्धित करके कुछ अन्तर के साथ दूसरा शब्द और इसी प्रकार तीसरा शब्द यों अनेक शब्द बनते रहे।" वस्तुतः विकास की यह प्रक्रिया कोई नई नहीं है अपितु अनादिकाल से चली आ रही है। इसी प्रकार की प्रक्रिया में विभिन्न भाषाएँ और बोलियां विकसित हुई हैं। अनुकरण, मनोभावाभिव्यंजक तथा प्रतीकात्मक शब्दों का संसार की सभी भाषाओं में जो साम्य परिलक्षित होता है उससे मानव की आदिम भाषा की प्रारम्भिक समानता का पता सहज ही लगाया जा सकता है।

अनुकरण आदि के समन्वित रूप के अतिरिक्त औपचारिकता की प्रवृत्ति ने भी भाषा के शब्द-कोष में वृद्धि की है। 'उपचार' का अर्थ कुछ इस प्रकार किया जा सकता है–'ज्ञात द्वारा अज्ञात की व्याख्या करना।' इसके अन्तर्गत सादृश्य का नियम बहुत काम करता है। बच्चों के उदाहरण से यह बात प्रायः स्पष्ट हो जाती है क्योंकि बच्चे प्रायः अज्ञात वस्तुओं के नाम, ज्ञात के आधार पर इसी सादृश्य की प्रवृत्ति के सहारे रख लेते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि "अंग्रेजी का 'Pipe' शब्द आज नल के अर्थ में आता है। पहिले 'पाइप' गडरिये के बाजे के लिये आता था। बाइबिल के अनुवाद तक में 'पाइप' वाद्य के अर्थ में आया है पर अब इसका अर्थ बिल्कुल बदल गया है। 'पशु' संस्कृत की पशु धातु से बना है जिसका अर्थ है बँधना, फँसना। लैटिन रूप 'पेंकस' भी पशु कहलाया, जिससे 'पैकुनिमा' बना, जो किसी प्रकार की सम्पत्ति का द्योतक है। उसी से आज का अंग्रेजी शब्द साम्पत्तिक बना है पर उसी पैक्यूनिया से पेक्यूलियम बना, जिसका अर्थ निजी सम्पत्ति है। इसी प्रकार 'रम' धातु का ऋग्वेद में 'ठिकाना आना'–अथवा 'स्थिर करना' बना। शनैः शनैः इसका औपचारिक अर्थ 'आनन्द देना' होने लगा। आज तो 'रमण' और 'मनोरम' आदि शब्दों में 'रम' का वह पुराना स्थिर होने वाला अर्थ नहीं है। स्थिरता से विश्राम का सुख मिलता है।" अतः स्पष्ट है कि इस प्रकार के औपचारिक शब्दों से भाषा का विकास हुआ और उत्पत्ति में सहायता मिली। इन उदाहरणों को हम संस्कृत और हिन्दी में भी पूर्णतया पा सकते हैं।

समीक्षा—भाषा की उत्पत्ति विषयक अब तक जिन सिद्धान्तों का ऊपर विवेचन

किया गया है उनमें सभी में यही सिद्धान्त 'विकासवाद का समन्वित रूप' अधिक प्रमुख तथा महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त अन्य सिद्धान्तों में एकांगिता है और वे किसी भी स्थिति में भाषा में उत्पत्ति के सिद्धान्तों में प्रमुखता नहीं पा सकते हैं, सचमुच ही यह बात मान्य हो सकती है कि मानव भाषा के विकास की यह प्रक्रिया ही शब्द-कोष की वृद्धि में सहायक हुई है। शब्दों से आरम्भ में वाक्य का काम लिया जाता है किन्तु जैसे-जैसे भाषा का विकास होता जाता है त्यों २ वाक्य का रूप विस्तार पाता जाता है। संकेतों को प्रारम्भ में जो स्थान प्राप्त था वह भी शनैः शनैः लुप्त होता गया। ध्वनियों के काट-छांट तथा शब्दों के रूप में सुधार की प्रक्रिया भी विकासवाद के सिद्धान्त पर खरी उतर जाती है। सच पूछा जाय तो यह बात बड़ी आसानी से कही जा सकती है कि व्याकरण का निर्माण भी विकास की एक स्थिति या दिशा की सूचना देता है। अतः हमारी दृष्टि में समन्वित विकासवाद का सिद्धान्त ही भाषा-उत्पत्ति के प्रश्न को सुलझाने में सहायक हो सकता है।

परोक्ष मार्गः—अभी तक भाषा-उत्पत्ति विषयक जिन सिद्धान्तों की विवेचना की गई थी वे प्रत्यक्ष मार्ग के अन्तर्गत आते थे। परोक्ष मार्ग पर विचार करने से विद्वानों ने जो तथ्य सामने रखे हैं वे निम्नलिखित हैं:—

(१) **शिशु की भाषा:**—शिशु उत्पन्न होते ही जिस भाषा का प्रयोग करता है वह क्या है? स्पष्ट ही वह पहिले रोता है और भाषा का कोई भी रूप उसके सामने नहीं होता। सहसा यह प्रश्न मन में उठता है कि बच्चा किस प्रकार भाषा सीखता है। इसका स्पष्ट उत्तर है--अनुकरण द्वारा। वस्तुतः बच्चा अपने आस-पड़ोस के वातावरण से वह अनुकरण करता है और अपना काम चलाता है। अतः अनुकरण की प्रवृत्ति भी भाषा-उत्पत्ति का एक कारण माना जा सकता है।

(२) **असभ्य जातियों की भाषा:**—कुछ लोगों की मान्यता है कि असभ्य जातियां जिस भाषा का प्रयोग करती हैं वह भाषा आदिम होती है। अतः उससे सभ्य जातियों की भाषा की तुलना करके भाषोत्पत्ति का कारण जाना जा सकता है। यह बात कुछ महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती है।

(३) **ऐतिहासिक अध्ययन:**—ऐतिहासिक अध्ययन भी इस क्षेत्र में कुछ मदद कर सकता है। ऐतिहासिक अध्ययन से भाषा का प्रारम्भिक रूप का पता लग सकता है। जैस्पर्सन की बात कुछ व्यावहारिक प्रतीत अवश्य होती है। उसकी मान्यता है कि बच्चे स्वभावतः 'मामा', 'पापा', 'म-मी', 'बाबा', आदि का जो उच्चारण करते हैं उसमें वे बुद्धि से समझ-सोच कर ऐसा थोड़े ही करते हैं वरन् जो उच्चारण वे आसानी से कर सकते हैं वे ही बोलते हैं। इतना ही नहीं बच्चे पहिले-पहल उन्हीं शब्दों को उच्चारित करते हैं जो होठ की सहायता से बोले जाते हैं क्योंकि मां का दूध पीने से बच्चे के होठ ही पहिले क्रियाशील होते हैं। खैर, निष्कर्ष रूप से यही कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद का समन्वित सिद्धान्त ही मान्य है क्योंकि अन्य सिद्धान्तों में पूर्णता नहीं है।

५

राष्ट्र-भाषा हिन्दी : समस्याएं व समाधान

१. प्रस्तावना ।
२. संवैधानिक पृष्ठभूमि ।
३. हिन्दी के महत्व में आठ स्थितियां ।
४. हिन्दी के प्रमुख अंग ।
५. हिन्दी का शब्द-भण्डार ।
६. सर्वनाम, कारक, विभक्त, विशेषण और वाक्य-विन्यास ।
७. हिन्दी की लिपि ।
८. समस्याएं और समाधान ।
९. हिन्दी के विरोधकर्त्ताओं के तर्क ।
१०. विविध समस्याएं ।

सन् १९४७ में भारत जब स्वतन्त्र हुआ तो दूरदर्शी संविधान–निर्माताओं ने राष्ट्रीय–एकता की दृष्टि से 'हिन्दी' को राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्रदान किया, लेकिन उस समय संविधान में निश्चित अवधि तक अंग्रेजी भाषा के प्रयोग का भी प्राविधान रखा गया । भारत के भाग्य–विधाताओं का विचार था कि उस निश्चित अवधि तक हिन्दी का प्रसार और प्रचार किया जायेगा तथा धीरे-धीरे अंग्रेजी को अंग्रेजों की भांति ही पदच्युत कर दिया जायेगा । आज देश को स्वतन्त्र हुए १८–१९ वर्ष हो गये लेकिन फिर भी हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद के योग्य नहीं समझी गई और उसके साथ ही अंग्रेजी पहले की भांति ही सहभाषा के रूप में प्रयुक्त हो रही है । अभी ऐसा कोई नियम तो नहीं बना है लेकिन विश्वस्त सूत्रों से यह स्पष्ट हो चुका है कि वर्तमान सरकार इसी क्रम को अनिश्चित काल तक के लिए स्थिर करने जा रही है । अर्थात् जब तक हिन्दी पूर्ण रूप से समर्थ न हो जाये तब तक अंग्रेजी का प्रयोग बराबर होता रहेगा । राष्ट्र-भाषा की समस्या को लेकर हिन्दी-विरोधी आन्दोलन दक्षिण भारत के इतिहास में एक कलंक, एक धब्बे के रूप में उभर कर सामने आये, यह तथ्य किसी से भी छिपा हुआ नहीं है । यह सब क्यों हुआ ? इसे जानने के लिए हमें राष्ट्रभाषा हिन्दी की संवैधानिक, राजनीतिक एवं भाषा की पृष्ठभूमि को स्पष्ट रूप में समझ लेना आवश्यक है क्योंकि तभी हम हिन्दी की समस्याओं और उनके समाधानों पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करने की स्थिति में हो सकते हैं ।

संवैधानिक पृष्ठभूमि:—राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में संविधान–निर्माताओं ने सितम्बर सन् १९४९ में विचार-विमर्श किया था । १३ सितम्बर सन् १९४९ को श्री

फ्रेन्क ऐन्स्पेनी ने कहा था "मैं महसूस करता हूँ कि कई कारणों से अंग्रेजी देश की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती।" पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी यही मत व्यक्त किया कि "कोई भी देश एक विदेशी भाषा के आधार पर बड़ा नहीं बन सकता। आखिर क्यों ? इसलिए कि एक विदेशी भाषा जनता की भाषा नहीं बन सकती। इसने (अंग्रेजी ने) हम अंग्रेजी जानने वालों और अंग्रेजी नहीं जानने वालों के बीच एक खाई बना दी है। यह देश की प्रगति के लिए घातक है। हम आज निश्चय ही इस तरह की बात बर्दाश्त नहीं कर सकते। हम यहां बर्दाश्त नहीं कर सकते कि एक तरफ तो अंग्रेजी पढ़ा लिखा उच्च वर्ग रहे और दूसरी तरफ अंग्रेजी नहीं जानने वाला विशाल जन-समूह हो। इसलिए हमारी अपनी भाषा होनी ही चाहिये।"

और जब अपनी भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रश्न आया तो बहुमत से ही नहीं, सर्व-सम्मत्ति से हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया गया। इसके साथ ही सन् १९६५ तक का समय निश्चित किया गया कि तब तक अंग्रेजी को धीरे-धीरे निकाल बाहर किया जायेगा और हिन्दी को समृद्ध और समर्थ बनाकर सारे देश की भाषा के रूप में ग्रहण कर लिया जायेगा। संविधान में यह भी अंकित किया गया कि हिन्दी १९६५ तक किस रूप में विकसित हो ताकि सारा देश उसे ग्रहण करने में कोई आपत्ति महसूस नहीं करे। संविधान में लिखा है कि--"वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रयुक्त हो........।........अपनी सहजता को अवरुद्ध किये बिना उसे अपनी समृद्धि के लिए हिन्दुस्तानी तथा आठवीं अनुसूची में उल्लिखित अन्य १४ भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले रूपों, शैलियों, और अभिव्यक्तियों को समविष्ट करना होगा। जहां आवश्यक या वांछनीय होगा वहां इसे अपने शब्द-भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौण रूप से अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने होंगे।"

मतभेद इस प्रश्न पर भी हुआ पं०। नेहरू, मौलाना आजाद आदि नेता लोग हिन्दुस्तानी के पक्ष में थे, किन्तु अन्य बहुत से विद्वान तथा अहिन्दी क्षेत्रों के नेता संस्कृतनिष्ठ भाषा के पक्ष में थे। कुछ लोगों ने संस्कृत को राष्ट्र भाषा बनाने का भी सुझाव दिया था। किन्तु दूसरे वर्ग के लोगों का मत मान्य रहा। क्योंकि यह हिन्दी का वह स्वरूप था जो किसी भी प्रदेश की हिन्दी से पृथक था और सामाजिक दृष्टि से वह समस्त भारत की हिन्दी के रूप की कल्पना पर आधारित था। १४ सितम्बर सन् १९४९ को शंकरराव देव ने संविधान सभा में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा था-"मैं अपने मित्रों को यह याद दिलाना चाहूंगा कि यदि उनका यह विचार है कि हमने उनकी भाषा को स्वीकार कर लिया है और उसका उसके सांचे के अनुरूप निर्माण कर रहे हैं, तो वे एक भ्रान्ति में हैं।........हमें यह स्पष्ट निश्चित हो जाना चाहिए कि हम किसी विशेष संस्कृति या भाषा को स्वीकार नहीं कर रहे हैं...यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया जाना चाहिये कि यह संविधान-सभा राज्य के लिए, संघ के लिए एक ऐसी भाषा का चुनाव कर रही है, जो किसी भी समूह या क्षेत्र से सम्बद्ध नहीं है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान में उत्तर-प्रदेश या किसी अन्य प्रदे में प्रयुक्त हिन्दी नहीं है। वह तो ऐसी हिन्दी है जिसे देश की विभिन्न संस्कृति और भाषाओं के अनुकूल स्वयं को ढालना है। यह हिन्दी का वही रूप है जिस प अपने प्रदेश की भाषा और संस्कृति की छाप रहती है। किन्तु मूल रूप में वह है हिन्द ही। क्योंकि उसका वाक्य विन्यास, स्वर-व्यंजन और लिपि इसी हिन्दी की होगी जिस यह प्रस्तुत निबन्ध लिखा जा रहा है।

अब इस संवैधानिक पृष्ठभूमि पर खरा उतरने के पश्चात् कुछ अन्य दृष्टियों भी हिन्दी को परखना आवश्यक है ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि हिन्दी संवैधानि दृष्टि से ही नहीं, अन्य दृष्टियों से भी उसकी स्थिति ऐसी है, या वह ऐसी स्थिति में कि उसे राष्ट्रभाषा कहा जा सकता है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने बड़े व्यापक धरातल प हिन्दी के महत्व की स्थापना करते हुए ऐसी आठ स्थितियों या कारणों पर प्रका डाला है--

१. **बोलने वालों की संख्या**:--यह कहने की आवश्यकता तो नहीं कि भारतव में बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से सभी भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी बोलने वा अधिक हैं। सम्पूर्ण भारत में एक दक्षिणी भाग ही ऐसा माना जाता है कि व हिन्दी बोलने वालों की संख्या कम है। किन्तु विद्वानों ने गणना और अपने स्वयं अनुभवों से यह सिद्ध कर दिया है कि दक्षिण भारत में भी अंग्रेजी की अपेक्षा हि अधिक प्रचलित है। भारत की सम्पूर्ण जनसंख्या का केवल दो प्रतिशत भाग अंग्रे जानता है। शेष में से अधिकांश हिन्दी भाषी या किसी प्रादेशिक भाषा के बोलने वा हैं। श्री सत्यार्थी ने विश्व की प्रमुख भाषाओं के बोलने वालों के जो आंकड़े प्रस्तुत वि हैं, उनमें हिन्दी का कौनसा स्थान है, वह भली भांति स्पष्ट हो जाता है। उनके मत नुसार "चीनी भाषा बोलने वालों की संख्या ६० करोड़ है, हिन्दी बोलने वालों २० करोड़, अंग्रेजी की २५ करोड़, रूसी की १८ करोड़ तथा जर्मनी, जापानी बोल वालों की संख्या १० करोड़ है।" इससे सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी बोलने वालों संख्या की दृष्टि से भारत की अन्य भाषाओं में ही नहीं, विश्व की भाषाओं में भी अपन प्रमुख स्थान रखती है।

२. **सीमा-विस्तार**:—सीमा-विस्तार से तात्पर्य भाषा को समझने, बोलने वाले प्रदेशों से है। इस दृष्टि से भारत की अन्य भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी का सीमा-विस्तार अधिक व्यापक है। वैसे इस दृष्टि से अन्य भाषाओं में अंग्रेजी का स्थान सर्वोच्च है और उसका कारण राजनीति के गर्भ में है, शासन-विस्तार में है या कहना चाहिये कि वरवस थोपे जाने में है। क्योंकि अंग्रेजों ने विश्व के बड़े भाग पर शासन किया था अतः जहां भी ये लोग गये, अंग्रेजी स्वतः ही वहां पहुँच गयी। लेकिन भारत में अंग्रेजी की हिन्दी की तुलना में क्या स्थिति है, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

धर्मयुग के माध्यम से यह जानकर आश्चर्ययुक्त हर्ष होता है कि हिन्दी-विरोधी दक्षिण भारत में भी कुली-वर्ग तक हिन्दी बोलता है। वहां व्यापार में भी हिन्दी के माध्यम से कोई असुविधा नहीं होती।

इसके अतिरिक्त हिन्दी के सीमा–विस्तार पर यदि उदारतापूर्वक विचार किया जाय तो हम देखते हैं कि अण्डमान, नेपाल, भूटान, सिक्किम, पाकिस्तान, बर्मा, लंका, ब्रिटिश गायना, वेस्ट इन्डीस, मारीशस, दक्षिणी एवं पूर्वी अफ्रीका, मलाया, सिंगापुर, इन्डोनेशिया, अफगानिस्तान, रूस, जर्मनी आदि देशों और द्वीपों में भी हिन्दी अपना अस्तित्व बनाये हुए है और प्रसार पाती जा रही है।

३. **व्यावसायिक स्थिति:**—भारत में ऐसा कोई प्रदेश नहीं, जहां हिन्दी के माध्यम से व्यापार न होता हो। सत्यार्थीजी लिखते हैं—"बंगाल की जूट मिलों से लेकर आसाम के चाय बागानों तक हिन्दी ही व्यवसाय की भाषा है। आप अहमदाबाद में हों या बम्बई में, मदुरई में हो या मैसूर में, अन्तर्प्रान्तीय व्यवसाय के लिए हिन्दी के अतिरिक्त अन्य किसी माध्यम से काम नहीं चल सकता।" और उत्तरप्रदेश, राजस्थान, पंजाब, बिहार, हिमाचल-प्रदेश तथा मध्य-प्रदेश की तो बात ही क्या शेष रहती है।

४. **औद्योगिक-स्थिति:**—यही औद्योगिक स्थिति है। भारत में उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक हिन्दी–व्यापी मजदूर उद्योगों के कर्णधार बने हुए हैं। उन्हीं के कारण उद्योग सम्बन्धी व्यवहार प्रायः हिन्दी के माध्यम से ही सम्पन्न किया जाता है।

५. **वैज्ञानिक स्थिति:**—यह सच है कि हिन्दी अभी वैज्ञानिक स्थिति को सम्हालने में समर्थ नहीं हुई है। इसके स्पष्टतः दो प्रमुख कारण हैं—

१. मुसलमान और अंग्रेजों का शासन।

२. भारत सरकार की दोषपूर्ण नीति और व्यवहार।

जब तक भारत परतन्त्र रहा सारा, काम शासक-वर्ग की भाषा में होता रहा। इसलिए हिन्दी प्रथम विकास नहीं कर पायी। और जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो भारत सरकार ने संविधान के अनुकूल आचरण नहीं किया। यही कारण है कि हिन्दी वैज्ञानिक स्थिति को नहीं सम्हाल सकी। और जिस नीति पर आज भी हमारी सरकार चल रही है उससे भी हमें यह आशा नहीं है कि हिन्दी कभी भी निकट भविष्य में इस योग्य हो भी सकेगी। विश्व में ऐसे अनेक देश हैं, जिन्होंने स्वतन्त्र होते ही अपनी भाषा को एकदम अपना लिया और आज वे इस दृष्टि से शक्ति–सम्पन्न होती जा रही हैं।

६. **सांस्कृतिक एवं साहित्यिक स्थिति:**—इस दृष्टि से हिन्दी अत्यन्त समृद्ध और समर्थ भाषा है। भारतीय संस्कृति का ऐसा कोई सा भी तत्व नहीं, उसका कोई भी पहलु नहीं जिसे हिन्दी ने अपना आवरण न दिया हो। और जब हिन्दी ने संस्कृति को आच्छादित कर लिया है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि हिन्दी में साहित्य की कमी है या उत्कृष्ट कृतियों का अभाव है। भारत की हिन्दी ही एक-मात्र ऐसी भाषा है जिसके साहित्य को विदेशों में सर्वाधिक अनुवाद के द्वारा या मूल रूप में ग्रहण किया जा रहा है। प्रसाद, प्रेमचन्द के अतिरिक्त और भी अनेक कृतिकारों तथा उनकी कृतियां को आज विदेशी लोग अध्ययन की वस्तु समझते हैं। ? क्योंकि हिन्दी-साहित्य में

भारत का सम्पूर्ण यथार्थ, संस्कृति, इतिहास, धर्म, राजनीति, आदर्श यानी सम्पूर्ण भारत की आत्मा और उसके शरीर की अभिव्यक्ति हुई है।

७. **साक्षरताः**—हिन्दी की जो स्थिति विज्ञान के क्षेत्र में है उससे थोड़ी ही कम साक्षरता के क्षेत्र में है और इसके वही उपयुक्त दो कारण हैं। लेकिन अब धीरे-धीरे हिन्दी भाषी क्षेत्रों में तथा अन्य क्षेत्रों में साक्षरता बढ़ती जा रही है। वैसे भी इसे हिन्दी की निर्बलता नहीं कहा जा सकता। यह तो इतिहास और नेताओं के अज्ञान का दुष्परिणाम है कि हिन्दी साक्षरता की दृष्टि से पिछड़ी हुई भाषा रह गई। फिर भी अन्य भाषाओं की तुलना में यह कमजोर सिद्ध नहीं होती। लेकिन राष्ट्रभाषा के लिए जिस शक्ति की अनिवार्यता होती है वह अभी इसमें दिखाई नहीं देती, धीरे-धीरे आती जा रही है।

८. **राजनीतिक-स्थितिः**–हिन्दी की राजनीतिक स्थिति भी सुदृढ़ नहीं है। इसके कई कारण हैं —

१. केन्द्रीय सरकार का राजकाज अंग्रेजी में होता है।

२. अन्य राज्य-सरकारें अहिन्दी राज्यों से अंग्रेजी में ही व्यवहार करती हैं।

३. हमारे बड़े-बड़े प्रशासनिक अधिकारी अंग्रेजी-भाषी हैं।

४. हिन्दी के प्रति जन-साधारण में एक हीन भाव उत्पन्न हो गया है।

५. विदेशों से अंग्रेजी में पत्र–व्यवहार किया जाता है।

६. साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषय उच्च कक्षाओं में अंग्रेजी के माध्यम से पढाये जाते हैं।

७. राज-नियम तथा बड़ी-बड़ी परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने के लिए अंग्रेजी को माध्यम बनाया हुआ है।

८. बड़े-बड़े कामों को अंग्रेजी के द्वारा सम्पन्न करने के लोग आदी हो चुके हैं।

लेकिन अब धीरे-धीरे यह स्थिति सुधरती जा रही है और हिन्दी को भी इन कामों के लिए स्थान दिया जाने लगा है। आशा है एक दिन सम्पूर्ण राज-काज हिन्दी के माध्यम से होने लगेगा।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी राष्ट्र भाषा बनने की पूर्ण योग्यता और शक्ति रखती है। इन योग्यताओं के अतिरिक्त हिन्दी के आंतरिक स्वरूप पर कुछ प्रश्न-वाचक चिन्ह लगाये गये हैं। अतः हिन्दी की समस्याओं और उनके समाधानों पर प्रकाश डालने के पूर्व हमें हिन्दी के आन्तरिक स्वरूप पर विचार कर लेना चाहिये। हिन्दी-विरोधी वर्ग को हिन्दी के अनुकूल बनाने के लिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हम उसके सामने हिन्दी के उस स्वरूप पर–जिसे वह जटिल समझता है या अग्राह्य, या दोषपूर्ण मानता है—भली-भांति प्रकाश डालते हुए बताये कि हिन्दी एक सरलतम और वैज्ञानिक भाषा है। इस दृष्टि से हम हिन्दी के चार प्रमुख अंगों पर विचार करना उचित समझते हैं—

१. **ध्वनिः**—हिन्दी ध्वनियों की दृष्टि से निम्नलिखित विशेषताओं से युक्त है—

१. हिन्दी ध्वनियों की सबसे बड़ी विशेषता जो उसे वैज्ञानिकता प्रदान करती है, ह है लेखानुकूल उच्चारण। इसका अर्थ यह है कि हिन्दी में जो कुछ लिखा जाता है ही बोला जाता है। वैसे लेखन और उच्चारण में एकदम साम्य नहीं हो सकता योंकि वाणी की अनेक भंगिमाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें सही रूप में लिखना असम्भव है। फिर भी अन्य भाषाओं और विशेषकर हिन्दी का एकमात्र प्रतिद्वन्द्विनी अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी अधिक वैज्ञानिक भाषा है। अंग्रेजी में 'Go' 'गो' पढ़ा जाता है और Do डू'। हिन्दी में ऐसा नहीं है।

२. ध्वनियों की सुनिश्चितता हिन्दी की दूसरी विशेषता है। इसमें एक ध्वनि का सर्वत्र एक ही उच्चारण होता है तथा उसको व्यक्त करने के लिए भी एक ही संकेत-चिन्ह प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी इस दृष्टि से महा भ्रष्ट भाषा है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में 'क' लिखने के लिए 'K', 'C' 'CK' 'Q' आदि का प्रयोग होता है। इसी प्रकार दीर्घ 'ई' के लिए 'i', 'ea' 'ie' 'e', 'ee', 'ei', 'ey', 'eo' आदि प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

३. ध्वनि की दृष्टि से हिन्दी की तीसरी विशेषता यह कि इसमें 'मौन ध्वनि' (Silent) का प्रयोग नहीं होता। अर्थात् शब्द में ऐसी कोई ध्वनि नहीं होती जिसका संकेत चिन्ह तो प्रयुक्त हुआ है लेकिन वह बोला नहीं जाता है। इससे तीन लाभ होते हैं—१. व्यर्थ में स्थान खराब नहीं होता। २. लिखने में समय नष्ट नहीं होता। ३. मस्तिष्क पर कोई बोझ-सा चढ़ा नहीं रहता। अंग्रेजी के Though शब्द के छः अक्षरों से केवल एक ध्वनि निकलती है 'दो' इसी प्रकार Judge में 'डी' का तथा Debt में 'बी' का कोई उपयोग नहीं है।

४. हिन्दी की ध्वनियां स्पष्ट और सरलतम हैं। प्रत्येक वर्ण के बोलने का स्थान सुनिश्चित है। अंग्रेजी में तो वर्ण प्रयुक्त होकर भी ध्वनि की दृष्टि से निरर्थक होता है, तो फिर उसकी तो बात ही छोड़िये। वैसे आपने स्वयं अनुभव किया होगा कि जब कोई शुद्ध अंग्रेजी बोलता है तो मुखाकृति तथा स्वर भंगिमा में एक ही ध्वनि के उच्चारण के लिए वैभिन्नय दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी इस दोष से मुक्त है।

५. हिन्दी ध्वनियों का वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है। अर्थात् स्वरों का पृथक अस्तित्व फिर वर्गाक्षरों का पृथक, तथा इसके बाद अन्तस्थ और ऊष्मों का विवेचन भाषा वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। इस ढंग का विवेचन अन्य किसी भी भाषा का नहीं किया जा सकता।

२. शब्द:—हिन्दी का शब्द-भण्डार अन्य भाषाओं से अधिक है। हिन्दी विरोधी और अंग्रेजी परस्त लोगों की इस धारणा का कि शब्द-भण्डार की दृष्टि से अंग्रेजी हिन्दी की अपेक्षा अधिक समृद्ध है, खण्डन करते हुए और इसे सफेद झूठ की संज्ञा देते हुए दक्षिण के एक प्रकाण्ड विद्वान् डा० नी० र० वहाड़ पांडे ने २० जून १९६५ के 'धर्मयुग' में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था कि हिन्दी ही नहीं "वस्तुतः........

भारतीय भाषाओं की (जो मुक्त रूप से संस्कृत-शब्द ग्रहण करती है) शब्द ... अंग्रेजी की शब्द राशि से इतनी अधिक बड़ी है कि दोनों की तुलना भी नहीं की ... सकती।" उन्होंने हिन्दी को संस्कृत-शब्द ग्रहण करने वाली भाषा बताते हुए ... कि संस्कृत में १७०० से २००० धातुएँ हैं जिनसे असंख्य शब्दों का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए गम् (जाना) धातु से १. गति २. गन्तक ३. गम्य ४. ... ५. गनक ६. जंगम ७. जिगमिषा ८. गमक ९. गम्यमान १०. गमिष्यन् ११. ... १२. गमथ १३. गत्वर १४. गमनिका आदि शब्द बनते हैं। अंग्रेजी में उन शब्दों ... कोई एक धातु नहीं है। वहां इनके लिए विभिन्न शब्दों का अपव्यय करना पड़ता है ... संस्कृत में ८० प्रत्यय हैं, जो धातु में मिलकर शब्दों का निर्माण करते हैं। "यहां केव... उन्हीं रूपों का उल्लेख किया गया है, जिनका अंग्रेजी में स्वतन्त्र शब्दों के रूप ... अनुवाद होता है।"

फिर इनमें से प्रत्येक शब्द उपसर्गों के योग से बीस विभिन्न शब्दों को ज... देता है क्योंकि उपसर्ग २० होते हैं। उदाहरण के लिए 'गति' शब्द को ही लीजिये ... उपसर्गों के योग से यह शब्द निम्नलिखित शब्दों को बनाता है:—

१. प्रगति २. परागति ३. परिगति ४. प्रतिगति ५. अनुगति ६. अधिग... ७. अपगति ८. अतिगति ९. आगति १०. अवगति ११. उपगति १२. उद्... १३. सुगति १४. संगति १५. निगति १६. निर्गति १७. विगति १८. दुर्गति १९. प्र... गति २० अभिगति।

डा० पाण्डे ने आगे लिखा है "संस्कृत में १७०० से २००० धातुएँ हैं। उ... इस प्रकार लगभग ४७६००० शब्दों का निर्माण होगा। पर यही सब कुछ नहीं ... संस्कृत में एक पदीय शब्दों के अतिरिक्त समस्त पदों का भी प्रयोग होता है। उदाह... के लिए 'गति' शब्द भ्रंश, भ्रम, रोध, सातत्य आदि शब्दों से गतिभ्रंश, गतिभ्रम ... जैसे कई समास युक्त पदों को जन्म दे देता है।

इसके अतिरिक्त समस्त पद में घटक शब्दों के क्रम को बदल देने से समस्त ... और उसका अर्थ दोनों बदल जाते हैं—उदाहरण के लिए 'हस्तसिद्ध' का अर्थ है '... द्वारा निर्मित' जबकि 'सिद्धहस्त' का अर्थ होगा 'सिद्धता प्राप्त कुशलहस्त'। इस प्र... १७०० धातुओं से निर्मित २३८०० मौलिक शब्द विभिन्न संयोजन द्वारा ८४९६२४ ... (अर्थात् ८४ करोड़ से अधिक) शब्दों का निर्माण करेंगे।"

इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा के शब्द-भण्डार पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने बता... है—"अंग्रेजी के पांच लाख शब्दों में से अधिकांश मृतप्राय हो गये हैं। उनका प्रच... आधुनिक अंग्रेजी में प्रयोग नहीं होता और आधुनिक अंग्रेजी का दक्ष विद्वान भी ... भाषा को नहीं समझ सकता, जिसमें इस प्रक्रम की शब्दावली का उदारतापूर्वक प्र... किया गया हो।"

सम्पूर्ण रूप से यदि हिन्दी के शब्द-भण्डार पर विचार किया जाय तो हम दे... हैं कि हिन्दी में चार प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते हैं—

१. तत्सम ।

२. तद्भव ।

३. देशज ।

४. विदेशी ।

इनमें से संस्कृत भाषा के तत्सम शब्दों की संख्या ८० प्रतिशत और कहीं-कहीं इससे भी अधिक है। विदेशी शब्दों में अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं के शब्द हैं। इससे यह स्पष्ट है कि शब्द भण्डार की दृष्टि से हिन्दी का स्थान बहुत ऊँचा है।

अंग्रेजी ही नहीं, भारतीय भाषाओं में भी हिन्दी सर्वोच्च स्थान रखती है। एक तो इसमें संस्कृत का प्राधान्य अपेक्षाकृत अधिक है। दूसरे यदि यह मान लिया जाय कि दक्षिण भारत की भाषाओं में कौन से संस्कृत शब्द कम हैं तो यहां विदेशी शब्दों विशेषतः अरबी-फारसी शब्दों की दृष्टि से हिन्दी बहुत आगे निकल जाती है। और वैसे भी इन भाषाओं में ५० प्रतिशत शब्द ही संस्कृत के हैं। हां, 'तमिल' में अवश्य संस्कृत शब्दों की संख्या हिन्दी से किसी सीमा तक टक्कर लेने में समर्थ दिखाई देती है।

३. सर्वनामः – हिन्दी के सर्वनाम बहुत सरल हैं। इनमें से पुरुषवाचक सर्वनामों में एक-वचन, बहुवचन का कोई झंझट नहीं है। और सर्वनामों की संख्या भी अधिक नहीं है। हिन्दी में एक के लिए और अनेक के लिए 'हम' का प्रयोग होता है। एक के लिए 'मैं' का प्रयोग बहुत कम होता है। प्रथम पुरुष में भी एक-अनेक के लिए 'वे' एक ही सर्वनाम पर्याप्त है। 'वह' का प्रयोग तो अशिष्ट या हीनता का द्योतक माना जाता है। परन्तु अन्य भाषाओं में और विशेषकर अंग्रेजी में दो सर्वनामों का प्रयोग करना पड़ता है। एक-वचन के लिए अलग और बहुवचन के लिए अलग, जैसे 'He goes, they go'।

४. कारक विभक्तिः—हिन्दी की कारक विभक्तियों में भी यही सरलता दृष्टि-गोचर होती है। सातों कारकों के एक-वचन तथा बहुवचन में विभक्ति का रूप एक ही रहता है जैसे उसको, उनको, उससे, उनसे, उसके लिए, उनके लिए आदि। "इसके समानान्तर अंग्रेजी के Preposition पर ध्यान दीजिये तो मालूम होगा कि अंग्रेजी कितनी कठिन भाषा है।....उदाहरणार्थ 'पर' का अर्थ बताने के लिए अंग्रेजी में अनेक शब्द हैं : On, at, up, over, above–इनका निर्भ्रान्त प्रयोग वर्षों के अभ्यास से ही सम्भव होता है। ऐसे ही Under, beneath, below, down आदि अनेक शब्दों की उलझन हिन्दी के एक 'नीचे' से मिट जाती है।"

इसी प्रकार जहां अंग्रेजी में अनेक शब्दों का प्रयोग होता है वहां हिन्दी में एक ही शब्द से काम चल जाता है, जैसे Son, boy, student, child, bridegroom आदि के लिए सामान्यतः 'लड़का' शब्द पर्याप्त है। दूसरी बात यह कि अंग्रेजी के पास पर्यायवाची शब्दों का अभाव है जैसे अंग्रेजी में केवल एक शब्द है earth और हिन्दी में भू, भूमि, धरा, धरणी, धरती, पृथ्वी, अचला, मही, अनंता, धरित्री, क्षिति, वसुधा,

वसुन्धरा, अवनि, मेदिनी आदि अनेक शब्द प्रचलित हैं।

४. क्रियाः—हिन्दी में तीन प्रमुख क्रियाएँ हैं—होना, करना, बनाना। अहिन्दी भाषी इनके सहारे ही आसानी से अपना काम निकाल सकता है। यदि कोई संज्ञा को जानता है तो क्रिया को जानने में उसे कठिनाई नहीं होगी। हिन्दी में एक क्रिया अनेक स्थलों पर एक ही ध्वनि के साथ प्रयुक्त होती है जैसे-भोजन करना, शयन करना यात्रा करना, आराम करना,स्नान करना आदि। लेकिन अंग्रेजी में यदि आप शयनागार में हैं तो To take bath और "नदी या समुद्र में स्नान करने चले गये तो वहां······ To bathe कहिये।" भोजन भी अंग्रेजी में तीन प्रकार का किया जाता है और प्रणाम चार प्रकार का होता है। पहले आप भोजन का समय देखिये फिर बोलिए और इसी प्रकार पहले घड़ी देखिये और फिर नमस्कार करिये। यह भोजन और प्रणाम क्या हुआ पूरा हठयोग हो गया।

५. विशेषणः—अंग्रेजी में विशेषणों के भी दो स्तर हैं—१. Comparative २. Superlative। "यदि शब्द एक Syllable है तो Comparative में 'er' और Superlative में est और यदि एक Sullable से अधिक है तो....More और ...... Most लगाइए। इस नियम का भी सर्वत्र पालन नहीं किया जाता। यानी पहले तो रटो और उसमें भी नियम से नहीं, प्रयोग से विशेषणों के रूपों को ग्रहण करो। अजीब भाषा है यह। इधर हिन्दी में यह सब झमेला नहीं है। इसमें विशेषण रूप में कोई विकृति नहीं आती। केवल 'से' और 'सबसे' इन दो शब्दों से काम चल जाता है। हां संस्कृत के पक्षपाती अवश्य 'तर' और 'तम' का प्रयोग करते दीख पड़ते हैं।

६. वाक्य-विन्यासः—हिन्दी का वाक्य-विन्यास विचार-पद्धति के अनुकूल होता है। वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—

१. विधि वाक्य।
२. निबन्ध वाक्य।
३. प्रश्न वाक्य।

हिन्दी के विधि-वाक्य का सीधा-सादा नियम है—पहले कर्त्ता फिर कर्म और फिर क्रिया। अंग्रेजी में क्रिया बीच में घुसेड़ दी जाती है। जैसे वह किताब पढ़ता है—He reads a book.

निषेध वाक्य में निषेध्य के पहले निषेध-वाचक शब्द लगाकर आसानी से अभिव्यक्ति की जा सकती है। अंग्रेजी में ऐसा यदि कर दिया तो बस हो गया काम। वहां तो पूरा शब्दाडम्बर का सहारा लेना पड़ता है। जैसे वह नहीं पढ़ता है—He does not read। यहां does क्यों आया? कुछ पता नहीं। इसी तरह उसे पढ़ना था या उसे नहीं पढ़ना था के लिए He had to read या He did not have to read को जरा मिला कर देखिये कौनसी भाषा सरल जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त no, not के प्रयोग का भी कोई निश्चित नियम नहीं है। इसके साथ ही neither और nor के प्रयोग में भी गड़-बड़ घोटाला देखा जा सकता है।

प्रश्नवाचक वाक्य में हमारी हिन्दी में वाक्य में 'क्या' का प्रयोग पर्याप्त है और कभी कभी तो स्वर आघात से ही प्रश्नवाचक वाक्य बन जाता है और लिखने के आगे केवल प्रश्नवाचक चिन्ह (?) लगाने से ही काम चल जाता है, लेकिन अंग्रेजी में निषेध-वाक्य की भांति ही प्रश्नवाचक वाक्य-निर्माण में अनेक उलझनें सामने आती हैं।

अंग्रेजी में एक अजीबोगरीब छूतक और है—Indirect Narration और Direct Narration का। इसके नियम बहुत जटिल हैं। हिन्दी में इस नाम की चीज ही नहीं है।

७. **लिपि**:—हिन्दी की लिपि देवनागरी है। भारत की अधिकांश भाषाओं की लिपि यही है क्योंकि सभी भाषाओं की जननी और पोषक भाषा संस्कृत की लिपि भी यही रही है। अतः किसी भी भारतवासी को इस लिपि को सीखने में अधिक कठिनाई महसूस नहीं हो सकती। भारत का अधिकांश लेखन-कार्य इसी लिपि में सम्पन्न होता है, भाषा वह चाहे जो हो। जिन भाषाओं की अपनी स्वतन्त्र लिपि है भी तो वह भी देवनागरी से अधिक साम्य रखती है और यदि नहीं भी रखती है तो वह प्रसंग की दृष्टि से देवनागरी से कम महत्व की सिद्ध की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो भारत की राष्ट्र-भाषा का पद पूर्ण रूप से सम्हाल सकने में समर्थ है। भारत के किसी भी नागरिक को इसे समझने में कोई भी कठिनाई नहीं होगी और फिलहाल होगी भी तो धीरे-धीरे वह जल्दी ही एक दिन उसके लिए सरल हो जायेगी, क्योंकि हिन्दी प्रकृति और रूप दोनों की दृष्टि से सरलतम और वैज्ञानिक भाषा है।

समस्याएं और समाधान:—तो फिर भी हिन्दी का विरोध क्यों हुआ? हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों नहीं बन पायी? इन प्रश्नों का सम्यक् उत्तर पाने के लिए यह जरूरी है कि हिन्दी के विषय में उठाई गयी समस्याओं पर विचार करते हुए समाधान दिये जायें। हिन्दी के सम्मुख समस्याओं का ढेर लगाने वाले लोग प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभक्त हैं—

१. पहला वर्ग उर्दू-भाषी है। इस वर्ग का विरोध इतना तीव्र नहीं है। क्योंकि हिन्दी+उर्दू=हिन्दुस्तानी जन साधारण की भाषा है। केवल लिपि और कुछ एक शब्दों को छोड़ दीजिए तो श्री यशपालजी के शब्दों में "हिन्दी और उर्दू जहां तक भाषा की प्रकृति, प्रयोग तथा शब्द-गठन का सम्बन्ध है, एक ही भाषा है जो उत्तरप्रदेश के हिन्दू और मुसलमान की मातृ-भाषा है।" श्री इब्राहीम शरीफ ने व्यावहारिक भाषा के रूप में हिन्दी और उर्दू को निस्सन्देह एक मानते हुए दोनों के विरोध को शान्त करने का प्रयास किया है और इसी प्रकार अन्य विद्वानों के सहयोग से वह विद्रोह का उग्र रूप धारण नहीं कर सका है।

२. दूसरा वर्ग अंग्रेजी-परस्तों का है। यह वर्ग अत्यन्त स्वाभिमान हीन, और स्वार्थ की कीचड़ में स्वयं को बुरी तरह साने हुए है और प्रमुख रूप से दक्षिण

भारत में जी रहा है। बंगाल में भी इसने अपने पैर फैलाना शुरू तो किया था लें
फैला सका नहीं।

वैसे अब तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा अध्ययन के लिए गये हुए विद्वानों के
वक्तव्यों से यह सिद्ध हो चुका है कि सम्पूर्ण दक्षिण हिन्दी-विरोधी नहीं है। वहां अनेक
ऐसे हैं जो हिन्दी का अच्छा ज्ञान रखते हैं और उसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर
हैं। दक्षिण में एक विघटनकारी संस्था है—द्रविण-मुन्नेत्र कषगम्। समकालीन इतिहा
में इसने एक दुखद अध्याय का प्रारम्भ किया और बड़ी कठिनाई से यह समाप्त हो
पाया। इस संस्था ने विद्यार्थियों को अपना माध्यम बनाया। अपरिपक्व मस्तिष्क वा
बालकों के मन में इन्होंने इस विष बेल के बीज बोये कि अब सारे बड़े अफसर उत्त
भारत के या हिन्दी-भाषी हुआ करेंगे। दक्षिण भारत के विद्यार्थियों को अंग्रेजी
कारण कोई सरकारी उच्च सेवा नहीं मिला करेगी। बस फिर क्या था? एक तूफ
खड़ा हो गया। द्र. मु. क. के नेता बच्चों के खून और राष्ट्र-सम्पत्ति के विनाश
मिलाकर आग की होली खेलने लगे। दक्षिण के हिन्दी-विरोधी आन्दोलन की जड़ें इ
संस्था के व्यक्तिगत राजनीतिक स्वार्थों में जमी हुई थीं।

द्र.मु.क. की फिरका समिति के सदस्य श्री शाण्डिल्यन् का हिन्दी-विरोध उ
के शब्दों में देखिये, कितना मूर्खतापूर्ण और दुराग्रह से युक्त है—"मैं हिन्दी का वि
इसलिए कर रहा हूँ कि वह हमारे लिए आसान भाषा नहीं है और हम जैसे एक
प्रदेश वालों की प्रादेशिक भाषा है। जैसे अंग्रेजी सदियों के बाद भी भारतीय
साधारण की सुपरिचित भाषा नहीं हो सकी है, वही दशा हिन्दी की अब है और
कई दशकों तक रहेगी। यह हिन्दी विरोधी आन्दोलन हमारा धार्मिक युद्ध है।"
मानवीय मान-प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए किया गया यह एक स्वाभिम
अभियान है। सदियों से परिचित तथा सशक्त अंग्रेजी को क्यों हटाना चाहि
अविकसित, अशक्त और बीस प्रतिशत लोगों की एक दरिद्र भाषा को क्यों राज
बनाया जाये?"

यह उन्मादी प्रलाप अपने आप सिद्ध कर रहा है कि प्रलापी कानों से ब
और आंखों से अन्धा है। दिल और दिमाग तो खैर है ही नहीं। दक्षिण भारत
हिन्दी की सशक्तता की जो आवाज उठी उसे यह प्रलापी वर्ग सुन नहीं सका
निबन्ध छपे उन्हें पढ़ नहीं सका। और विनाश करने को तत्पर हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का विरोध उन लोगों ने किया है—

१. जो भारत सरकार के उच्च पदों पर अंग्रेजी के माध्यम से पहुँचे हैं
अंग्रेजी का ही अभ्यास है। भारत के कृषि मन्त्री ने एक बार कहा था कि
Agriculture की हिन्दी नहीं आती Food की हिन्दी नहीं आती। भला ऐसे देश
राष्ट्रीय एकता के पुजारी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने पर त्यागपत्र देने को तैयार
न हों?

२. अंग्रेजों ने हम पर शासन किया अंग्रेजी के माध्यम से। खुद तो चले गये पर अंग्रेजी जिन लोगों के पास रह गयी वे स्वयं को शासक समझ बैठे, सभ्य और सुसंस्कृत होने का दावा करने लगे। इससे हिन्दी वालों में हीनता का भाव उत्पन्न हुआ। अंग्रेज शासक के अनुरूप स्वयं को देखने की प्रवृत्ति वाले लोगों ने भी हिन्दी का विरोध किया।

३. भारत का बुद्धिवादी वर्ग अंग्रेजी पर पला है। उसका मस्तिष्क अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा को समझने में एकदम असमर्थ है। अब इनके सामने एक ओर तो अपनी असमर्थता है और दूसरी ओर साधारण जनता से सम्पर्क रखने की समस्या है। हिन्दी के ये भी विरोधी हैं, लेकिन दो पाटों के बीच में फंसने के कारण इनका विरोध अकुलाता रहा है।

४. एक वर्ग ऐसा भी है जो राजनीतिक अस्तित्व के लिए हिन्दी का विरोध करते हैं। कभी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी यह कहा करते थे कि "एक संयुक्त एकीकृत भारत की एक भारतीय राष्ट्रभाषा होनी चाहिए, जो देश की एकता का ज्वलंत प्रतीक हो, और हिन्दी ही ऐसी एकमात्र भाषा है, जो इस पद पर आरूढ़ हो सकती है।" आज ये ही डा० साहब हिन्दी के विरोध में गला फाड़ते डोलते हैं। कुछ समय पूर्व जब सेठ गोविन्ददास जयपुर आये थे, तब उन्होंने बताया था कि 'मैंने डा० चटर्जी से पूछा कि आप पहले तो हिन्दी के पक्ष में थे तब आज आप विरोध क्यों करते हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि राजनीति की हवा ही ऐसी है। मेरे सामने रोटी का सवाल है।' इसी प्रकार केरल विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्री चन्द्रहासन अप्रेल १९६४ में जब पटना आये तो उन्होंने बताया कि उनके एक परिचित अपने बच्चों को घर पर हिन्दी पढ़ाते हैं, लेकिन बाहर हिन्दी का विरोध करते हैं। जब श्री चन्द्रहासन ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि मेरी जीविका नेतागिरी है और वह हिन्दी विरोध से ही चल सकती है। इसी प्रकार सन् १९३० में राजगोपालाचार्य ने मद्रास के मुख्यमन्त्री बनने पर हिन्दी-शिक्षा अनिवार्य करदी थी, पर आज वे ही हिन्दी के कट्टर दुश्मन हैं। यह सब राजनीति के कुचक्र में फंसने का ही परिणाम है।

५. हिन्दी विरोधी एक वर्ग उन लोगों का है जो व्यापार की दृष्टि से विदेशों से सम्बन्धित हैं। इन लोगों का रात दिन अंग्रेजी से ही काम पड़ता रहता है। अतः हिन्दी से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं है।

६. अंग्रेज लोगों का भी हिन्दी के विरोध में महत्वपूर्ण हाथ है। कूटनीतिक और कुचक्री अंग्रेज भली-भांति जानते हैं कि जब तक भारत में अंग्रेजी है, तब तक स्वतन्त्र चिन्तन, सांस्कृतिक उत्थान और व्यक्तित्व का विकास, भारत में बहुत धीमी गति से होगा। चलो यही क्या कम है। भारत मानसिक रूप से तो गुलाम ही रहेगा।

हिन्दी के विरोधकर्ताओं के तर्क:—ऊपर हमने हिन्दी-विरोधी वर्गों का संक्षिप्त परिचय दिया है। अब हम देखेंगे कि ये विरोधी-वर्ग हिन्दी के विरोध में क्या-क्या तर्क

देते हैं ? इन सब तर्कों को डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने संकलित रूप में प्रस्तुत किया है और इसके साथ ही अंग्रेजी के पक्ष में भी सुना है, अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये हैं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने हिन्दी के विरोधी और अंग्रेजी के पक्ष में डा० साहब के मत का सार इस प्रकार रखा है :—

१. भारत के लिए अभी भाषा (राष्ट्रभाषा) का प्रश्न ही आवश्यक नहीं है।

२. हिन्दी संविधान सभा द्वारा राज भाषा के रूप में स्वीकृत हुई है, निर्वाचित संसद द्वारा नहीं। अतः उसका औचित्य अमान्य है।

३. हिन्दी के राजभाषा होने से हिन्दी भाषी प्रथम श्रेणी के नागरिक और अहिन्दी भाषी गौण स्थिति के नागरिक होंगे। हिन्दी भाषी सम्पूर्ण अधिकारों का उपभोग कर सकेंगे। इससे समाज में समता का निर्वाह नहीं हो सकेगा।

४. हिन्दी भारत की अन्य किसी भी भाषा से श्रेष्ठ नहीं है और भाषाएं इससे अधिक प्राचीन हैं।

५. हिन्दी के राजभाषा होने पर अन्य भाषाएं अपने ही प्रदेश में कुंठित हो जायेंगी।

६. हिन्दी को अपनाने के लिए अहिन्दी भाषी तैयार नहीं हैं।

७. हिन्दी के पास समर्थ अभिव्यंजना शक्ति नहीं है।

८. हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य नहीं है।

९. हिन्दी के अधिकांश साहित्यकार अन्य भाषा-भाषी हैं।

१०. हिन्दी सांस्कृतिक दृष्टि से अन्य भाषाओं से हीन है।

११. हिन्दी को राज भाषा बनाने में हिन्दी भाषियों का स्वार्थ निहित है।

१२. अखिल भारतीय सेवाओं में हिन्दी भाषा ही चुनी जाये।

१३. हिन्दी को राज भाषा बनाने पर प्रादेशिकता की भावना में वृद्धि होगी।

१४. हिन्दी को राज भाषा बनाया गया था, राष्ट्र भाषा नहीं।

१५. हिन्दी से साम्राज्यवाद और भाषावाद के झगड़े उत्पन्न होंगे।

१६. हिन्दी का बौद्धिक महत्व नहीं के बराबर है।

१७. हिन्दी के विकास के लिए क्रान्ति की जा रही है।

१८. अहिन्दी भाषी लोगों के कर से हिन्दी को पनपाना ठीक नहीं है।

१९. सरकार हिन्दी-विकास के लिए धन का अपव्यय कर रही है।

२०. अभी हिन्दी आलंकारिक उद्देश्य के लिए ही ठीक है।

२१. राष्ट्रीय एकता, शासकीय दक्षता, भारतीय विज्ञान, विधि एवं मानविकी की प्रगति के हित में हिन्दी का प्रयोग रोक देना चाहिए।

२२. हिन्दी भाषी क्षेत्रों में एक अन्य प्रादेशिक भाषा-उर्दू को छोड़कर-अनिवार्य होना चाहिए।

अब अंग्रेजी के पक्ष में उनकी इसी प्रकार की लचर दलीलें देखिए:—

१. अंग्रेजी भारत के लिए तटस्थ भाषा है। इसकी सरलता-कठिनता सबके लिए बराबर है।

२. रचनात्मक आधुनिक विचारों तक पहुँचने के लिए यह अपारिहार्य भाषा है।

३. अंग्रेजी का महत्व भौतिक और बौद्धिक ही नहीं, आध्यात्मिक हैं।

४. देश को प्रगति के पथ पर चलाने वालों के लिए अंग्रेजी आवश्यक हैं।

५. अंग्रेजी सभी भारतीय भाषाओं की पोषक है।

६. अंग्रेजी के कारण ही राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ था।

७. अंग्रेजी हमें सच्चा भारतीय और सभ्य बनायेगी।

८. अंग्रेजी को स्वेच्छा से अपनाया गया है।

९. इसी ने हमें स्वाधीनता का मूल्य बताया है।

१०. अंग्रेजी ज्ञान का सर्वाधिक मूल्यवान साधन है।

११. अंग्रेजी प्रयोग के कारण किसी को भी अजनबी नहीं है।

ऊपर के तर्कों का क्या उत्तर दिया जाय ? एक भी तर्क बुद्धि-सम्मत नहीं है। सब में पूर्वाग्रह भरा पड़ा है। यह कहना क्या कोई बुद्धिमत्ता की बात है कि हिन्दी संविधान-सम्मत तो है लेकिन संसद-सम्मत नहीं। इसका अर्थ तो यह हुआ कि संविधान ही बेकार है। किसी भी तर्क को लेकर देख लीजिये आपको कोई भी तर्क ऐसा नहीं लगेगा जो उत्तर की अपेक्षा रखता हो। सारे तर्क भारत के स्वाभिमान को ठुकरा कर उत्मादावस्था में उत्पन्न हुए हैं।

लेकिन फिर भी कुछ विद्वानों ने हिन्दी के सामने कुछ ऐसी समस्याएँ प्रस्तुत की हैं जिनका समाधान अपेक्षित प्रतीत होता है—

१. व्याकरण की समस्या २. वर्तनी की समस्या ३. लिपि की समस्या ४. पारिभाषिक शब्दावली की समस्या।

१. व्याकरण की समस्या

(क) 'ने' का प्रयोग:—जो लोग यह समझ नहीं पाते कि 'ने' का प्रयोग कहां होता है उन्हें निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिये—

१. 'ने' का प्रयोग सकर्मक क्रियाओं के साथ होता है।

२. 'ने' का प्रयोग 'अपूर्णभूत' को छोड़ कर भूतकाल के सभी रूपों में होता है।

३. सकर्मक क्रियाओं में केवल तीन में 'ने' का प्रयोग नहीं होता—१. बकना २. बोलना ३. भूलना।

(ख) लिंग की समस्या:-हिन्दी में केवल दो लिंग हैं-१. स्त्रीलिंग २. पुल्लिंग। इनका ज्ञान अभ्यास से आसानी से हो जाता है और यह अन्य भाषाओं की अपेक्षा वैसे भी कठिन नहीं है। दूसरी बात यह है कि जो भाषाएँ स्वयं को संस्कृत की खास बेटी मानती हैं वे हिन्दी की लिंग-समस्या को सरलता से समाधित कर सकती हैं क्योंकि तत्सम शब्दों के लिंग हिन्दी में परिवर्तित बहुत कम ही हुए होंगे।

जो तर्क दिये हैं उनके आधार पर हिन्दी-वर्तनी की मुख्यतः पांच समस्याएं सामने आती हैं-

१. तत्सम शब्दों की समस्याः--उदाहरण के लिए हिन्दी के भगवान, महान्, और दान, मान के उच्चारण में कोई अन्तर नहीं है लेकिन लिखे दो तरह से जाते हैं। इसका समाधान यह है कि 'हलन्त' शब्दों को यदि बिना 'हलन्त' के लिखा जाय तो सन्धि सम्बन्धी अनेक उलझनें पैदा हो जायेगी। अतः 'हलन्त' को 'हलन्त' लगाकर ही लिखना चाहिए।

२. श्रुति की समस्याः--उदाहरणार्थ लोग दो प्रकार से लिखते हैं, आये-आए, खाये-खाए। वास्तव में यह अव्यवस्था नहीं होनी चाहिए या इन दोनों रूपों को सही मानना चाहिए। वैसे ऐसे अनेक प्रयोगों के लिए नियमों की व्यवस्था की गई है। फिर जहां यह व्यर्थ का वैभिन्य दिखाई दे, वहीं उसे हटा देना चाहिए।

३. अनुस्वार, चन्द्रबिन्दु और परसवर्ण की समस्याः--आज की हिन्दी में वैसे अनुस्वार ने दोनों के पहरे को छीनकर अपने आधीन कर लिया है। अतः प्रयोग की दृष्टि से तो कोई समस्या रहती ही नहीं। लेकिन व्याकरण की दृष्टि से अवश्य समस्या रह जाती है। हिन्दी भाषी लोगों के लिए न सही, अहिन्दी भाषी लोगों के लिए तो यह एक समस्या रहती ही है। इसका सीधा समाधान तो वैसे यही है कि इनके उच्चारण में अन्तर होने के कारण अपने आप पता लग जाता है कि किस संकेत का प्रयोग होगा। फिर भी कुछ विद्वानों ने केवल अनुस्वार प्रयोग को ही सरल मान कर उसके प्रचार पर वल दिया है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि इसमें लाघद है। दूसरे यह पंचमाक्षरों की पूर्ति कर देता है। लेकिन भाषा की शुद्धता की दृष्टि से सभी संकेत-चिन्हों के प्रयोग अपने-अपने स्थान पर होने चाहिए।

४. विभक्ति समस्याः—हिन्दी में संज्ञा के पृथक दिमक्ति का प्रयोग होता है लेकिन सर्वनाम के साथ उसे मिला दिया जाता है जैसे हमको, तुमको। हमारी दृष्टि से साम्य स्थापित करने के लिए सर्वनाम से पृथक् विभक्ति का प्रयोग करना चाहिए।

५. क्रिया समस्याः—इसी प्रकार संयुक्त क्रियाएं एकसाथ लिखना ठीक नहीं है और न पूर्वकालिक क्रियाओं का लिखना ही। ले-दे-कर को लेदेकर लिखना ठीक नहीं।

६. विदेशी ध्वनियों की समस्याः—विदेशी ध्वनियों को लिखने के सम्बन्ध में दो मत हैं—एक तो उन्हें शुद्ध रूप में लिखने का पक्षपाती है और दूसरा हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल लिखने का। यह हिन्दी-भाषा की समस्या नहीं है। उसके नियमन की समस्या है। ऐसी समस्याओं को विद्वानों के द्वारा तय किया जा सकता है।

३. लिपि की समस्या

भारत में १२ लिपियां हैं। इनमें देव-नागरी लिपि को सर्व-शुद्ध और वैज्ञानिक माना जा चुका है। लेकिन वहुत से विद्वान–समीक्षकों ने इस लिपि को ग्रहण करने में निम्नलिखित कठिनाइयों का निर्देश किया है—

१. इसके वर्णों का आकार जटिल है।

२. संयुक्ताक्षरों को लिखने का कोई एक नियम नहीं।

३. मुद्रण तथा टंकण की दृष्टि से यह लिपि असुविधाजनक है।

४. हिन्दी की भांति ही इस लिपि को ग्रहण करने से भी अनेक प्रादेशिक भावनाएं उत्पन्न होती हैं। अन्य लिपि वाले इसे ग्रहण करना पसन्द नहीं करते।

अतः हुमायूं कबीर जैसे अनेक लोगों ने रोमन–लिपि अपनाने पर बल देते हुए, इसके पक्ष में ये तर्क दिये हैं—

१. मुद्रण-टंकण की दृष्टि से यह सरल है।

२. यह लिपि वैज्ञानिक साहित्य से युक्त है, अतः समृद्ध है।

३. लेखन में रोमन सरल है। लेखन में समय भी कम लगता है।

४. लिपि धर्म-संस्कृति की वस्तु नहीं। अतः इसे अभारतीय कहकर अग्राह्य नहीं समझना चाहिए।

५. यह बाहर की लिपि है अतः यहां राग-द्वेष नहीं फैल सकता।

स्पष्ट है कि देवनागरी के विरोध में जो तर्क दिये गये हैं, उनमें थोड़ा सत्य का अंश अवश्य है, लेकिन रोमन के पक्ष में दिये गये तर्क व्यर्थ से जान पड़ते हैं। देवनागरी के विकास में जो तर्क दिये गये हैं, वे इसलिये कोई महत्व नहीं रखते कि उनमें इस लिपि के आन्तरिक गुणों को भुला दिया गया है। इस लिपि में जो ध्वनियों को अंकित करने की क्षमता है वह किसी भी लिपि में नहीं है।

४. पारिभाषिक शब्दावली की समस्या

यह अवश्य एक ऐसी समस्या है जिसे कटु सत्य कहा जा सकता है लेकिन इसका समाधान आज की हिन्दी के पास नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत में प्रचारित एवं प्रसारित तथा सभी उच्च-कक्षाओं में अनिवार्य भविष्य की हिन्दी के पास है। जब सब काम हिन्दी में होने लगेंगे तो शब्दावली का निर्माण अपने आप होगा। रूस-चीन के पास अपने पारिभाषिक शब्द क्यों हों ? क्योंकि वहां का सारा तकनिकी कार्य उन्हीं की भाषा में सम्पन्न होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद के लिए पूर्ण अधिकारिणी भाषा है। उसे अहिन्दी भाषी लोगों का सहयोग और सरकार का आश्रय मिल जाये तो वह शीघ्र ही अपनी सब कमजोरियों को दूर कर एक समर्थ भाषा बनकर दिखा सकने की पूर्ण क्षमता रखती है।

६

देवनागिरी लिपि

१. प्रस्तावना।
२. लिपि की उत्पत्ति।
३. लिपि का विकास।
४. प्रमुख लिपियों के दो वर्ग।
५. भारत की प्राचीन लिपियां।
६. देवनागिरी का विकास।
७. देवनागिरी लिपि की विशेषताएँ।
८. देवनागिरी लिपि के कुछ दोष।
९. देवनागिरी लिपि में सुधार।

भाव अभिव्यक्ति मानव स्वभाव है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि आदि-काल में भावाभिव्यक्ति का स्वरूप संकेत मात्र ही रहा होगा। कालान्तर में मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति में पूर्ण सफल नहीं हुआ तो फिर उसने ध्वनि के माध्यम से भाषा की उत्पत्ति की भाषा सीमाबद्ध की। प्रत्येक स्थान की भाषा अलग थी और विचारों का आदान प्रदान नहीं हो पाता था। ज्यों-ज्यों मानव प्रबुद्ध होता गया उसका जी कुछ जानने और कहने को बेचैन हो उठा। फलतः वर्णमाला और लिपि का विकास हुआ। भाषा, वर्णमाला और लिपि तीनों अलग अलग विषय होते हुए भी अभिन्न हैं। भाषा की उत्पत्ति भावों को ध्वनियों द्वारा व्यक्त करने के लिए हुई और लिपि की उत्पत्ति उसे चित्रों या चिन्हों द्वारा अंकित करने के लिए हुई।

लिपि की उत्पत्ति:—भाषा की भांति लिपि को भी पुराने लोग ईश्वर के द्वारा उत्पन्न की हुई मानते हैं। भारतीय विद्वानों के अनुसार लिपि की उत्पत्ति ब्रह्मा के द्वारा मानते हैं। भारत की लिपि का नाम ब्राह्मी है। नाम का ताल-मेल होने से लोगों का विश्वास पक्का हो गया। मिश्र और बेबिलोनिया के लोग भी क्रमशः थाथ (Thath) था, आइसिस और (Isis) नेबो (Nebo) आदि को लिपि प्रतिष्ठापक मानते हैं। आरम्भ में लोगों ने लिपि के प्रचार के लिए नहीं बल्कि पहचान के लिए कुछ रेखाएँ खींची या धार्मिक दृष्टि से किसी देवता का प्रतीक बनाया। अलग अलग प्रतीकों के द्वारा वस्तु पहचान सरलता से हो जाती थी। जानवरों को देख कर उनके भी टेढ़े-मेढ़े चित्र बनाने का प्रयास किया जाता रहा। कालान्तर में यह प्रयोग भाव अभिव्यक्ति के लिए किया गया।

लिपि का विकास:—ईसा से लगभग ६००० वर्ष पूर्व लिपि का प्रारम्भ माना जाता है। लिपि विकास क्रम में निम्न लिपियां पाई जाती हैं—

[१] प्रतीकात्मक लिपि।
[२] चित्र लिपि।
[३] सूत्र लिपि।
[४] भाव मूलक लिपि।
[५] भाव-ध्वनि मूलक लिपि।
[६] ध्वनि मूलक लिपि।

ध्वनि–मूलक लिपि के दो रूप हैं—

[क] अक्षरात्मक [Sallabic]।
[ख] वर्णात्मक [Alphabatic]।

लिपि के विकास-क्रम की अवस्था में ६ प्रकार की लिपियों का उल्लेख किया गया। क्रम की दृष्टि सूत्र लिपि और प्रतीकात्मक लिपि का विशेप महत्व नहीं हैं। ये दोनों ही भाव अभिव्यक्ति की विशिष्ट पद्धतियां हैं जो स्वच्छन्द रूप से चली आरही हैं। इनको छोड़ देने पर चार लिपियों में प्रारम्भिक लिपि चित्र लिपि है और इसी का विकसित रूप भाव मूलक लिपि है और ध्वनि मूलक लिपि है। ध्वनिमूलक लिपि में अक्षरात्मक लिपि पहले है और उसी से वर्णात्मक लिपि का विकास होता है। विकास क्रम में चित्र लिपि प्रथम अवस्था की लिपि है और वर्णात्मक ध्वनि मूलक लिपि अन्तिम अवस्था है।

संसार की प्रमुख लिपियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है:— [१] अक्षर या वर्ण रहित लिपि—यथा क्यूनीफार्म तथा चीनी आदि [२] अक्षर और वर्ण वाली लिपि यथा रोमन और नागरी आदि।

प्रथम वर्ग की लिपियां इस प्रकार हैं:—

[१] क्यूनी फार्म।
[२] हीरो ग्लाइफिक।
[३] क्रीट लिपि।
[४] हिट्टाइट लिपि।
[५] सिन्धु घाटी की लिपि।
[६] चीनी लिपि।
[७] प्राचीन मध्य तथा मैक्सिको की लिपियां।

द्वितीय वर्गीय प्रधान लिपियां—

[१] सामी लिपि (दक्षिणी)।
[२] हिब्रू लिपि।
[३] फोनेशियन लिपि।
[४] खरोष्ठी लिपि।

[५] आर्मेइक लिपि ।
[६] अरबी लिपि ।
[७] भारतीय लिपि ।
[८] ग्रीक लिपि ।

भारत की प्राचीन लिपियां:—मुख्यतः दो ही पाई जाती हैं--[१] खरोष्ठी [२] ब्राह्मी । हम यहां पर ब्राह्मी लिपि का ही उल्लेख करेंगे:—

ब्राह्मी प्राचीन काल की सर्वश्रेष्ठ लिपि मानी जाती है । ब्राह्मी नामकरण के सम्वन्ध में लोगों के कई मत हैं:—

१ कुछ लोगों ने इसकी प्राचीनता को ध्यान में रख कर और धर्म भावना से प्रेरित होकर इसे विश्व सृष्टा की ही देन समझा है और इसलिए इसका नाम ब्राह्मी पड़ा ।

२. कुछ लोग ब्राह्मणों द्वारा अधिक प्रयोग करने के कारण इसे ब्राह्मी कहते हैं।

वास्तव में इसकी उत्पत्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत है, किन्तु संक्षेप में दो विचार-धाराएँ प्रस्तुत की जा रही हैं—

१. विदेशियों के अनुसार इसका विकास विदेशी लिपियों से माना जाता है ।

२. स्वदेशी विद्वानों के अनुसार इसका विकास स्वदेशी लिपियों से माना जाता है । इस मत को कुछ विदेशी विद्वानों का समर्थन भी प्राप्त है ।

प्राचीन नागरी लिपि—इसका प्रचार उत्तरी भारत में नवीं शताव्दी के अन्तिम चरण से मिलता है । दक्षिणी भारत में भी कुछ स्थानों पर ८वीं शताव्दी से मिलती है । आधुनिक कालीन लिपियों का-राजस्थानी, गुजराती, देवनागरी, महाराष्ट्री आदि सभी प्राचीन नागरी लिपि से ही विकसित हुई हैं । इन नागरी लिपि को देवनागरी लिपि भी कहते हैं । इसके नामकरण के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत हैं:—

१. गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका नाम नागरी लिपि पड़ा ।

२. प्रमुख नगरों में प्रचार पाने के कारण इसको नागरी का नाम मिला बताया जाता है ।

३. कुछ लोगों ने 'ललित विस्तार' में उल्लिखित नागरी लिपि को ही नागरी वताया है, पर यथार्थतः इन दोनों में कोई सम्वन्ध नहीं है ।

४. तांत्रिक चिन्ह देव नगर के साम्य के कारण इसे देव नागरी और वाद में नागरी कहा गया ।

५. आर० शा० शास्त्री के मतानुसार देवनगर से उत्पन्न होने के कारण इसे देवनागरी नाम मिला है ।

६. देवनगर अर्थात् काशी में प्रचार के कारण यह देवनागरी कहलाई ।

उपर्युक्त सभी मत अनुमान पर आधारित हैं अतः किसी भी मत में विश्वास नहीं किया जा सकता । फिर भी द्वितीय मत को विद्वानों का अधिक समर्थन प्राप्त है ।

देवनागरी का विकासः—वस्तुतः देवनागरी लिपि की उत्पत्ति ब्राह्मी से हुई। वर्तमान देवनागरी का रूप परिवर्तित होते होते २०वीं शताब्दी में इस रूप में स्थिर हुआ जैसा कि हम देखते हैं। भारतवर्ष के अधिकांश पढ़े-लिखे लोग इसी लिपि का प्रयोग करते हैं। नागरी का विकास निरंतर होता आ रहा है। दक्षिण में इसको 'नन्दि-नागरी' कहते हैं। इस लिपि के विकास के सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं—

१. आरम्भ में वर्णों पर सिर रेखा न थी। अ घ, प, म, ष और स के सिर दो भागों में बंटे थे।

२. ग्यारहवीं शताब्दी में पर्याप्त विकास हो गया था और १२वीं शती में लिपि का वर्तमान रूप प्राप्त होता है फिर भी ह और घ की आकृति पुरानी ही थी।

३. दसवीं शताब्दी के अनेक वर्ण आधुनिक वर्णों से बहुत भिन्न हैं यथा—आधुनिक 'इ' का रूप पहिले यह था—अ अ, का रूप था ∠, ए का रूप था I आदि।

४. लिपियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ब्राह्मी लिपि ही गुप्त और कुटिल लिपियों के माध्यम से आधुनिक देवनागरी की वर्णमाला बनी है।

५. यह भाषा कठिनता से सरलता की ओर बढ़ रही है और भविष्य में भी बढ़ती रहने की सम्भावना है।

६. लिखने में प्रायः अब शिर रेखा का प्रयोग बन्द सा होता जा रहा है और ऐसा लगता है कि लेखन और मुद्रण दोनों में ही शिर रेखा का प्रयोग बन्द हो जायगा।

७. विराम चिन्हों का प्रयोग पहले की अपेक्षा अधिक होने लगा है।

८. पंचम अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

९. ड, ढ, फ, ज, ग, ख, क, ा आदि कई नये चिन्ह भी आवश्यकतानुकूल बना लिये गये हैं।

देवनागरी लिपि की विशेषतायें

१. देवनागरी लिपि संसार की समस्त लिपियों में सबसे अधिक मनोवैज्ञानिक लिपि है।

२. वर्णमाला के अन्तर्गत अक्षरों का वर्गीकरण वैज्ञानिक रीति से किया गया है।

३. ध्वनि के दोनों वर्ग-स्वर और व्यंजनों के अलग अलग वर्ग हैं। इन्हें स्वर और व्यंजन करके दो पृथक नाम दिये गये हैं। योरोपीय, अरबी आदि लिपियों में स्वर और व्यंजन दोनों एक साथ ही मिलाकर रखे जाते हैं।

४. स्वरों में ह्रस्व और दीर्घ आदि समस्त विभाजन पूर्ण वैज्ञानिक है।

५. व्यंजनों का वर्गीकरण उच्चारण स्थानानुसार है, यथा—

कंठ्य— क ख ग घ ङ।

तालस्य-च छ ज झ ञ।

मूर्धन्य—ट ठ ड ढ ण।

दत्य — त थ द ध न।

ओष्ठ्य— प फ ब भ म।

अन्तस्थ-य र ल व।

ऊष्म—श ष स ह।

यह व्यंजनों का क्रम इतनी वैज्ञानिकता से किसी अन्य लिपि में प्राप्त नहीं है।

६. वर्णों की वैज्ञानिकता के फलस्वरूप इसके लिखने और सीखने दोनों में सरलता का अनुभव होता है।

७. देवनागरी लिपि देश के बहुत बड़े क्षेत्र की लिपि है। हिमाचल प्रदेश से लेकर महाराष्ट्र तक और हिसार से लेकर बिहार तक इस लिपि का प्रयोग होता है। भारत के सबसे बड़े भूखण्ड हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश की लिपि है।

८. कतिपय भेदों के साथ यह लिपि वस्तुतः उड़िया, गुजराती, बंगाली, गुरुमुखी और असमिया बन जाती है।

९. देश का समस्त प्राचीन साहित्य इसी लिपि में प्राप्त होता है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का समस्त साहित्य इसी लिपि में प्राप्त होता है। ज्योतिष और गणित तन्त्र आदि साहित्य भी इसी लिपि में पाये जाते हैं। कुल मिलाकर बात यह है कि अहिन्दी भाषी हिन्दी से भले ही अपरिचित हो परन्तु इस लिपि से वे भली प्रकार परिचित हैं।

१०. इस लिपि में एक ध्वनि के लिए एक अलग वर्ण है। उर्दू, अंग्रेजी या अन्य लिपियों में इस प्रकार की व्यवस्था का अभाव है, वहां तो एक ही ध्वनि के निमित्त कई वर्ण मिल जाते हैं यथा—उर्दू में 'स' ध्वनि के लिए दो वर्ण-से और स्वाद हैं। 'स' से लिखा जाने वाला अक्षर लिखते समय लेखक को यह विदित होना चाहिए कि 'से' लिखा जायगा अथवा 'स्वाद'।

अंग्रेजी में 'क' की ध्वनि के लिए 'C' और 'K' हैं तथा 'ज' के लिए 'G' और 'J' हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि देवनागरी के अलावा अन्य लिपियों में Spelling को स्मरण रखना आवश्यक शर्त है।

११. देवनागरी लिपि में स्वर और व्यंजनों को मिलाने का वेग बड़ा वैज्ञानिक हैं जबकि अल्य लिपियों में इस वैज्ञानिकता का अभाव है। उर्दू में 'जबर,' 'जेर' और 'पेश' के नियम तो प्राप्त हैं किन्तु प्रयोगाभाव में वे महत्वहीन हैं। इस प्रकार की स्थिति में उनका उच्चारण बड़ा कठिन हो जाता है। पाठक 'अ' 'हे' और 'ड' संयुक्त

व्यंजनों को स्वेच्छा से पढ़ सकता है। अंग्रेजी में भी 'अ' 'आ' 'ओ' सभी के निमित 'A' का उपयोग और प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार अंग्रेजी लिपि भी भ्रामक धारणाओं से ग्रस्त है। अतः रोमन लिपि की वैज्ञानिकता भी संदिग्ध है क्योंकि उसको पढ़ते समय अनेक भ्रम उत्पन्न होते हैं। Rama, Gupta को रामा या गुप्ता, राम या गुप्त में से कुछ भी पढ़ा जा सकता है। इन विचार-विन्दुओं से हम यह वेखटके कह सकते हैं कि अन्य लिपियों की अपेक्षा देवनागरी लिपि ही वैज्ञानिक है।

देवनागरी लिपि के कतिपय दोषः—इस वैज्ञानिकता के साथ ही इसमें कुछ कमियां भी हैं जो इस प्रकार हैं:—

१. इसमें कुछ अक्षर या लिपि-चिन्ह आज के उच्चारण की दृष्टि से व्यर्थ हैं। 'ऋ' का उच्चारण 'रि' है, ण का ङ है और ष का 'श', अतः 'ऋ' 'ण' और 'ष' की आवश्यकता नहीं है।

२. 'ख' में रव के भ्रम की सम्भावना वनी रहती है।

३. संयुक्त व्यंजनों के रूप में भी वड़ी धांवली चलती है यथा—'प्रेम' में ऐसा प्रतीत होता है कि 'र' आधा है और 'प' पूरा है किन्तु स्थिति इसके विपरीत है। 'ग्र' 'घ्र' आदि में भी यही वात है। इसमें पूर्णतः परिवर्तन आपेक्षित है।

४. 'इ' की मात्रा वड़ी भ्रमपूर्ण है। कुछ मतों के अनुसार इसी प्रकार की 'उ', 'ऊ', 'ए', 'ऐ' की मात्राएं भी भ्रामक हैं। कारण स्पष्ट है कि इनका उच्चारण वाद में होता है और लगाई पहले जाती हैं। इन मतों की मान्यता है कि इनको अक्षरोपरान्त लगाना चाहिए, यथा—कि, गि, न लिखकर 'की' और 'गी' लिखना चाहिए।

इस सम्वन्व में मेरा अपना विचार है कि ये मात्राएं तर्कशील और वैज्ञानिक भले ही हों, लेकिन सुविधाजनक हैं और साथ ही व्यावहारिक भी।

५. क्ष, त्र, ज्ञ अनावश्यक प्रतीत होते हैं, क्योंकि ये संयुक्त व्यंजन मात्र हैं।

६. रकार के र, ।, ।, ' चार रूप प्रचलित हैं। केवल किसी एक ही रूप को प्रधानता मिलनी चाहिए।

देवनागरी में सुधार:—देवनागरी लिपि के दोषों को लक्ष्य करते यह आवश्यक है कि इसमें से उपर्युक्त इने-गिने दोषों को निकाल दिया जाय और फिर इसे प्रयोग में लाया जाय। इसके लिए कुछ विद्वानों ने सुधार भी प्रस्तुत किये हैं। सुधार हों या न हों, इस विषय में भी दो मत हैं—एक मत के अनुसार देवनागरी लिपि में किसी संशोधन और परिष्कार की आवश्यकता नहीं है। इस मत के समर्थकों का कहना है कि लिपि में सुधार करने पर प्राचीन वाङमय में सुधार करना पड़ेगा। दूसरे वे विचारक हैं जो इसमें सुधार आवश्यक मानते हैं। ये व्यापारिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण को प्रधानता देकर इस मत का समर्थन करते हैं। इन लोगों के अनुसार लिपि को कुछ छोटा बनाया जाय ताकि छपाई, टाइप आदि सुविधापूर्वक हो जाय। इस मत के प्रतिपादकों में राजनीतिज्ञों का बाहुल्य है।

देवनागरी लिपि में सुधार की चर्चा पर्याप्त मात्रा में हुई है। इस सुधार के लिए अनेक संगठित प्रयत्न किये गये हैं। इनमें से दो मतों को अधिक मान्यता प्राप्त है—

१. सेवाग्राम लिपि:—महात्मा गांधी स्वयं इस लिपि में संशोधन चाहते थे। उनके विचारों को कार्य रूप में परिणत करने वालों में काका कालेलकर का विशेष महत्व है। इन्होंने जो सुधार प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं:—

(क) 'अ' में ही समस्त मात्राएं लगाकर स्वरों की संख्या कम करदी जाय। इस दृष्टि से देवनागरी लिपि में केवल १३ स्वरों और १२ मात्राओं के स्थान पर केवल एक ही वर्ण तथा मात्राएं रखी जायें। स्वरों का प्रकार इस प्रकार :है—

अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, अो, अौ, अं, अः

(ख) 'ऋ' की आवश्यकता कभी ही होती है अतः इसे निकाला जा सकता है।

(ग) महाप्राण वर्ण अनावश्यक हैं, केवल 'ह' के योग से इसका काम चल सकता है।

सेवाग्राम लिपि इस दृष्टि से पर्याप्त छोटी हो गई है और वर्णमाला के छोटे हो जाने से इसमें केवल २० वर्ण और १० मात्राएं रह गई हैं—

वर्ण-अ, क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, न, प, ब, म, य, र, ल, व, श, स, ह =२०

मात्राएं— ा, ि, ी, ु, ू, े, ै, ो ौ, ं=१०

इस लिपि का प्रयोग हरिजन साप्ताहिक में निरन्तर होता रहा। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा ने अपने साहित्य को इसी में प्रकाशित किया तथा उसके सभी विद्यालयों में इसी भाषा में प्रशिक्षण होता है। वैसे जनता में यह लिपि स्वागत नहीं पा सकी है।

२. आचार्य नरेन्द्रदेव समिति:—उत्तर प्रदेश सरकार के संरक्षण में इस समिति ने पर्याप्त सुधार [illegible]

पर इसका नामकरण भी आचार्य नरेन्द्रदेव समिति पड़ा। इस लिपि की वर्णमाला इ प्रकार हैः—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः =१५

क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न
प फ ब भ म
य र ल व श
ष स ह क्ष त्र ज्ञ ल (मराठी ल)=३६

मात्राएं— ा, ि, ी, ु, ू, े, ै, ो, ौ

इस समिति ने संयुक्ताक्षर सम्बन्धी भी कुछ सुझाव प्रस्तुत किये। काफी खींचतान करके इस समिति ने अपनी दिमागी कसरतें प्रस्तुत कीं पर कोई तथ्य न निकला क्योंकि लिपि में ऊपर से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हां, व्यवहार में आते ही इसकी लिखावटें एकदम नई प्रतीत हुई। कुछ पुस्तकें भी इस लिपि में छपीं परन्तु लोगों ने इसे स्वीकार नहीं किया और इसका नाम बंगडी या लंगडी लिपि रखा।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप में यही कहना उचित प्रतीत होता है कि देवनागरी लिपि ही सब प्रकार से वैज्ञानिक और अपने आप में पूर्ण दिखाई देती है। इसमें वैज्ञानिकता का अभाव है किन्तु व्यावहारिक और सुविधा की दृष्टि से इससे अधिक उपयुक्त लिपि अन्य नहीं हो सकती है। परम्परा की दृढ़ नींव पर खड़ी इस लिपि के स्थान पर कोई दूसरी लिपि लादना या पाठकों के मस्तिष्क में प्रतिष्ठित करना एक असफल प्रयास होगा। हिन्दी का सुचारु अध्ययन और अध्यापन इस नागरी लिपि से ही संभव है क्योंकि इस लिपि का सबसे बड़ा वैज्ञानिक आधार यही है कि इसमें जो लिखा जाता है, ठीक वही पढ़ा भी जाता है तथा जो उच्चरित होता है वही लिखा जाता है।

७

आदि-कालीन साहित्य

१. सामान्य परिचय।
२. आदिकालीन पृष्ठभूमि।
३. नामकरण विषयक विविध मत।
४. सीमा निर्धारण।
५. आदिकालीन साहित्य की विशेषताएं।
६. निष्कर्ष।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल वह समय रहा है जिसके सम्बन्ध में विद्वान लोग सदैव अपने अपने दृष्टिकोण से सोचते-विचारते रहे हैं। नामकरण, भाव, भाषा-शैली और अनेक दृष्टियों से इस काल में पर्याप्त विविधता दिखाई देती है। इस विविधता के मूल में तत्कालीन परिस्थितियों का विशेष हाथ रहा है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल वह समय था जबकि भयावह आक्रमणों का दौर चल रहा था और पारस्परिक विद्वेष और स्वार्थ की प्रवृतियों से प्रेरित मानव समाज पतन के कगार पर खड़ा था। आदि-काल अथवा वीरगाथा काल दसवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक माना जाता है। इस काल में जो साहित्य रचा गया उसके लिए तत्कालीन समाज की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियां विशेष रूप से उत्तरदायी ठहरती हैं। प्रत्येक परिस्थिति का विवेचन इस प्रकार है—

राजनैतिक परिस्थितिः—भारतीय साहित्य का यह युग राजनीति की दृष्टि से अव्यवस्था, विशृंखलता, गृह-कलह व पराजय का काल रहा है। एक ओर तो राजनैतिक क्षितिज विदेशी आक्रमणों के भयावह मेघों से आच्छादित था तो दूसरे छोर पर रजवाड़ों की पारस्परिक भीतरी क्लेश और घुटन समाज को निस्सार बना रही थी। सम्राट हर्ष के निधन के साथ ही उत्तरी भारत की शक्ति जैसे क्षीण से क्षीणतर होती गई और मनुष्यों में निराशा और अनास्था का वातावरण जागृत होता गया। राजसत्ता भी गड़बड़ाने लगी। भारत की यह डांवाडोल स्थिति काफी समय तक चलती रही। हां, आगे चलकर ९वीं शताब्दी में मिहिरभोज ने इस खोई हुई शक्ति को फिर से सहेजा और सुव्यवस्थित करने की सोची। खोई हुई शक्ति तो सिमट गई लेकिन मानवीय हृदयों में ईर्ष्या, विद्वेष और स्वार्थ की जो दरारें पड़ गई थीं, वे न भरी जा सकीं।

दक्षिण को राष्ट्रकूटों के साम्राज्य ने संभाल रखा था। अरब में निवोन्‍ इस्लाम ने सुदूर पश्चिम और पूर्व में अपनी शक्ति को प्रसारित करने का प्रयत्न किय

पर इसका नामकरण भी आचार्य नरेन्द्रदेव समिति पड़ा। इस लिपि की वर्णमाला इस प्रकार है:—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः =१५

क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न
प फ ब भ म
य र ल व श
ष स ह क्ष त्र ज्ञ ल (मराठी ल)=३६

मात्राएं— ा, ि, ी, ु, ू, े, ै, ो, ौ

इस समिति ने संयुक्ताक्षर सम्बन्धी भी कुछ सुझाव प्रस्तुत किये। काफी खींचतान करके इस समिति ने अपनी दिमागी कसरतें प्रस्तुत कीं पर कोई तथ्य न निकला क्योंकि लिपि में ऊपर से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हां, व्यवहार में आते ही इसकी लिखावटें एकदम नई प्रतीत हुई। कुछ पुस्तकें भी इस लिपि में छपीं परन्तु लोगों ने इसे स्वीकार नहीं किया और इसका नाम बंगडी या लंगडी लिपि रखा।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप में यही कहना उचित प्रतीत होता है कि देवनागरी लिपि ही सब प्रकार से वैज्ञानिक और अपने आप में पूर्ण दिखाई देती है। इसमें वैज्ञानिकता का अभाव है किन्तु व्यावहारिक और सुविधा की दृष्टि से इससे अधिक उपयुक्त लिपि अन्य नहीं हो सकती है। परम्परा की दृढ़ नींव पर खड़ी इस लिपि के स्थान पर कोई दूसरी लिपि लादना या पाठकों के मस्तिष्क में प्रतिष्ठित करना एक असफल प्रयास होगा। हिन्दी का सुचारु अध्ययन और अध्यापन इस नागरी लिपि से ही संभव है क्योंकि इस लिपि का सबसे बड़ा वैज्ञानिक आधार यही है कि इसमें जो लिखा जाता है, ठीक वही पढ़ा भी जाता है तथा जो उच्चरित होता है वही लिखा जाता है।

जैन-धर्म में भी तान्त्रिक वामाचार पद्धति का प्रचलन बढ़ा। इस प्रचलन से समाज का अधिकांश भाग वामाचार के साथ ही धर्मों के विकृत रूप की ओर बढ़ा।

नाथ योगियों ने बहुत कुछ वज्रयानियों की तांत्रिक उपासना पद्धति को अपनाया किन्तु आगे चलकर गुरू गोरखनाथ के प्रयास से इनमें योग की प्रतिष्ठा की गई जिससे संयम, सदाचार और नैतिकता की रक्षा की जा सके। शंकर, रामानुज और निम्बार्क आदि ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया किन्तु लोक-व्यवहार के लिए शिव और नारायण की उपासना की पद्धति का प्रचलन किया। पुराने धर्म को ही सब कुछ मान लेने वालों ने वाममार्ग को निन्दा की दृष्टि से देखा और बात यहां तक बढ़ गई कि वाममार्गी भी आगे बढ़कर इनकी निन्दा करने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय धर्म में विकार उत्पन्न हो गया था और शुद्धता के स्थान पर अशुद्धि, कल्याण के स्थान पर स्वार्थ आदि विकारी भावनाओं ने धर्म के मन्दिर को दूषित कर दिया था।

सामाजिक परिस्थितियां:--उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में राजनैतिक स्तर पर युद्ध और उनकी भयंकरता और धार्मिक स्तर पर दूषित प्रवृतियों का जोर था। जिस काल में धर्म अपने आसन से डिग जाय और शुद्धता के स्थान पर दूषित मनोवृतियों को अपनाले, उस धर्म को प्रश्रय देने वाले समाज की स्थिति क्या होगी ? यह कल्पना और अनुभव की वस्तु है। स्पष्ट ही समाज में संयम के स्थान पर असंयम, नैतिकता के स्थान पर अनैतिकता, प्रेम के स्थान पर वासना और सहयोग के स्थान पर असहयोगी प्रवृत्तियां पनप रही थीं। जाति गुण और कर्म के आधार पर निश्चित नहीं की जाती थी अपितु वर्ण के आधार पर मानी जाने लगी थी। इस विषय में अलबरूनी का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है, "छूआ-छूत के नियम भी बड़े कठोर होते गये।" अलबरूनी ने लिखा है कि-"हिन्दूओं को इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध करके फिर ग्रहण कर लें।' वस्तु-स्थिति यह है कि आदिकाल में धर्म के समान ही समाज की स्थिति भी हो गई थी। हां, राजपूत जाति में अभी भी वीरता और आत्मोत्सर्ग की भावना विद्यमान थी। राजपूत नारियां इस दिशा में सबसे आगे रही हैं। पति के अवसान पर हंसते और खेलते तथा नारियल उछालते चिता पर चढ़ जाना राजपूत नारियों के शौर्य और आत्म बलिदान की ही अभिव्यक्ति करता है। स्वयंवर प्रथा उस युग की एक और

इस प्रयत्न में नवीन इस्लाम अफगानिस्तान से आगे न बढ़ सका। अब तक अफगानिस्तान भारत के अन्तर्गत था। मुसलमानों को अवसर मिला और सिन्ध के मार्ग से भारत में आने के प्रयत्न किये गये। मुहम्मद कासिम ने पूरी शक्ति के साथ भारत पर आक्रमण किया, परिणामस्वरूप सिन्ध का बादशाह और उसके पुत्र जो अपनी प्रतिष्ठा और आन के लिए युद्ध कर रहे थे, मिट गये। यद्यपि यह हार सहयोग और सहानुभूति के साथ-साथ गद्दारी के कारण हुई थी। राजाशाही के प्रति जाटों की असन्तुष्टि और उदासीनता ने पूर्ण वफादारी से युद्ध नहीं किया और इतना ही नहीं, उन्होंने आक्रामकों को सहयोग दिया तथा वैयक्तिक स्वार्थों के कारण देश के सम्मान के प्रति भी कोई निष्ठा नहीं दिखलाई।

इन सब बातों के होते हुए भी ९वीं शताब्दी तक मुसलमानों का प्रवेश पश्चिमी-उत्तरी भारत के प्रदेशों में न हो सका। इसका एकमात्र कारण इन प्रदेशों में शक्तिशाली राजाओं की उपस्थिति थी। दसवीं शताब्दी के अन्त में गजनी का राज्य महमूद गजनवी के हाथ में आया। गजनी के सुल्तान ने पंजाब, कांगड़ा को जीतकर मथुरा और कन्नौज लूट लिये। ग्वालियर और कालिंजर भी न बच सके। इतना ही नहीं, सौराष्ट्र पर आक्रमण करके सोमनाथ मन्दिर से अपार धन-सम्पत्ति को प्राप्त किया। महमूद के पश्चात् मालवा के भोज और चांद के कर्ण का प्रताप भी बड़ा था, शक्ति के बल पर प्रतिष्ठित था। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों में दिल्ली में तोमर, अजमेर में चौहान और कन्नौज में गाहड़वालों के शक्तिशाली राज्य थे। गजनी के तुर्कों का अन्त करके शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भारत जीतने का प्रयत्न किया। अजमेर का शक्तिशाली राजा पृथ्वीराज चौहान था जो किसी भी प्रकार के आक्रमण के लिए तैयार न था। दूसरे, कन्नौज के राजा जयचन्द षड़यन्त्र से प्रभावित होकर पृथ्वीराज चौहान को मुहम्मद गोरी ने पराजय मिली और इसी समय वह संसार से विदा हो गया। कन्नौज और कालिंजर के पतन के साथ ही दिल्ली में तुर्कों का राज्य स्थापित हो गया। धीरे-धीरे मुस्लिम पताका समूचे भारत में फैल गई। भारत के राजाओं के मन में अपने-अपने वैयक्तिक स्वार्थ थे। सभी को अपनी-अपनी रक्षा की फिक्र थी। ऐसी स्थिति में भारत की रक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं था। समूचे भारत को राष्ट्र समझने वालों के अभाव में भारत की सत्ता का पतन हुआ।

जैन-धर्म में भी तान्त्रिक वामाचार पद्धति का प्रचलन बढ़ा। इस प्रचलन से समाज का अधिकांश भाग वामाचार के साथ ही धर्मों के विकृत रूप की ओर बढ़ा।

नाथ योगियों ने बहुत कुछ वज्रयानियों की तांत्रिक उपासना पद्धति को अपनाया किन्तु आगे चलकर गुरू गोरखनाथ के प्रयास से इनमें योग की प्रतिष्ठा की गई जिससे संयम, सदाचार और नैतिकता की रक्षा की जा सके। शंकर, रामानुज और निम्बार्क आदि ने अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया किन्तु लोक-व्यवहार के लिए शिव और नारायण की उपासना की पद्धति का प्रचलन किया। पुराने धर्म को ही सब कुछ मान लेने वालों ने वाममार्ग को निन्दा की दृष्टि से देखा और बात यहां तक बढ़ गई कि वाममार्गी भी आगे बढ़कर इनकी निन्दा करने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय धर्म में विकार उत्पन्न हो गया था और शुद्धता के स्थान पर अशुद्धि, कल्याण के स्थान पर स्वार्थ आदि विकारी भावनाओं ने धर्म के मन्दिर को दूषित कर दिया था।

सामाजिक परिस्थितियां:--उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में राजनैतिक स्तर पर युद्ध और उनकी भयंकरता और धार्मिक स्तर पर दूषित प्रवृतियों का जोर था। जिस काल में धर्म अपने आसन से डिग जाय और शुद्धता के स्थान पर दूषित मनोवृतियों को अपनाले, उस धर्म को प्रश्रय देने वाले समाज की स्थिति क्या होगी ? यह कल्पना और अनुभव की वस्तु है। स्पष्ट ही समाज में संयम के स्थान पर असंयम, नैतिकता के स्थान पर अनैतिकता, प्रेम के स्थान पर वासना और सहयोग के स्थान पर असहयोगी प्रवृत्तियां पनप रही थीं। जाति गुण और कर्म के आधार पर निश्चित नहीं की जाती थी अपितु वर्ण के आधार पर मानी जाने लगी थी। इस विषय में अलबरूनी का कथन बड़ा महत्वपूर्ण है, "छूआ-छूत के नियम भी बड़े कठोर होते गये।" अलबरूनी ने लिखा है कि-"हिन्दूओं को इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध करके फिर ग्रहण कर लें।' वस्तु-स्थिति यह है कि आदिकाल में धर्म के समान ही समाज की स्थिति भी हो गई थी। हां, राजपूत जाति में अभी भी वीरता और आत्मोत्सर्ग की भावना विद्यमान थी। राजपूत नारियां इस दिशा में सबसे आगे रही हैं। पति के अवसान पर हंसते और खेलते तथा नारियल उछालते चिता पर चढ़ जाना राजपूत नारियों के शौर्य और आत्म बलिदान की ही अभिव्यक्ति करता है। स्वयंवर प्रथा उस युग की एक और सामाजिक विशेषता थी। स्वयंवर प्रथा कभी-कभी बड़ी भयंकर सिद्ध होती थी। कन्या की प्राप्ति के लिए खून हो जाया करते थे और स्वयंवर की धारित्री रक्त में स्नान करने लगती थी। राजपूतों में ईमानदारी थी, शौर्य की भावना थी पर राजनैतिक चालें नहीं थीं और यही कारण था कि वे हार जाते थे। एक बात और महत्वपूर्ण है वह यह है कि राजपूत योद्धा तलवारों की झन्कार में वीर रमणियों की नूपुर की ध्वनि भी सुनते रहते थे। युद्ध की इस भयंकरता, राजपूतों की इन मनोवृत्तियों का पूर्ण स्वस्थ और सजीव चित्र आदिकालीन साहित्य में उतारा गया है।

साहित्यिक परिस्थिति:--हिन्दी साहित्य के इस काल के सम्बन्ध में एक बात बड़ी स्पष्टता से कही जा सकती है कि यह काल आन्तरिक और बाह्य दोनों ही दृष्टियों से संघर्ष, कलह और आपसी फूट का समय था। इस प्रकार के पारस्परिक वैमनस्य के वातावरण में भी संस्कृत साहित्य का सृजन-सिंचन बड़े आश्चर्य की बात है। इतना ही नहीं, संस्कृत के अनेक ग्रन्थों की टीकाएं और उप-टीकाएं लिखी गईं। ज्योतिष दर्शन और स्मृति पर भी कुछ विद्वानों ने लेखनी चलाई। "नाटक, कविता आदि के क्षेत्र में जहां पहिले भवभूति और राजशेखर जैसे साहित्यकार हुए वहां अब पांडित्य-प्रदर्शन और अलंकार-चमत्कार दिखाना ही कवि-कर्म समझा जाने लगा। बारहवीं शताब्दी का "नैवध-चरित" इसके उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। धारा का शासक भोज उच्चकोटि का विद्वान था। भोज का 'सरस्वती कन्ठाभरण' और 'शृंगार प्रकाश' संस्कृत साहित्य की अमर निधि है। राजा भोज की राजसभा में पदम गुप्त और धनिक जैसे विद्वान सुकविकुन्तक, महिमभट्ट, सेमेन्द्र, हेमेन्द्र और विश्वनाथ जैसे तत्वविद आचार्य और सोमदेव जैसे काव्यकार इसी समय हुए।" आदि-कालीन हिन्दी साहित्य का कोई भी कवि इससे प्रभावित न हो सका। उस समय की देश भाषा और अपभ्रंश की रचनाओं में भी यही बात देखी जा सकती है। इन रचनाओं के लेखकों और कवियों को जैसे इतने बड़े उत्थान-पतन, घात-प्रतिघात से कोई दिलचस्पी नहीं थी। वस्तुतः इस काल में वज्रयानी-सहजयानी सिद्धों, नाथ-पंथी योगियों, जैन-धर्म के अनुयायी विरक्त मुनियों एवं गृहस्थ उपासकों और वीरता और शृंगार का चित्रण करने वाले चारणों, भाटों आदि की रचनाओं को विशेषतः स्थान दिया गया।

हम्मीर रासो, विजयपाल रासो की प्रामाणिकता भी सिद्ध नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में शुक्लजी का कथन उचित नहीं जान पड़ता। श्री मोतीलाल मेनारिया ने कहा है कि खुमान रासो के लेखक को रावल खुमान संवत् ८७० का समकालीन मानना उचि नहीं। इतना ही नहीं, बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को भी गुजरात के नरपति नामक कवि से अभिन्न माना गया है, जिसका समय १५४५ है। हम्मीर रासो की रचनाओं का आधार प्राकृत पैंगलम् के कुछ पद्य हैं। यह ग्रंथ अपूर्ण है और उपल भी नहीं। विजयपाल रासो को मिश्रबन्धुओं ने संवत् १३५५ का स्वीकार किया है भाषा और शैली की दृष्टि से सिद्ध होता है कि यह ग्रंथ भी परवर्ती काल की रचना है इसी प्रकार भट्ट केदार का जयचन्द प्रकाश संवत् १२२५ और मधुकर कवि का लिख हुआ जयमयंक जसचन्द्रिका नोटिस मात्र है।

किया गया नामकरण उचित प्रतीत नहीं होता अतः आचार्य हजारीप्रसाद द्वारा दिया गया नाम 'आदिकाल' ही सार्थक है।

कुछ विद्वानों ने आदिकाल के स्थान पर 'सन्धिकाल' और 'चारणकाल' की कल्पना की है। इस कल्पना में डा० रामकुमार वर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। डा० वर्मा की सन्धिकाल की कल्पना समीचीन जान पड़ती है, किन्तु चारण काल की कल्पना तो बड़ी बेतुकी है। इसके प्रमाण स्वरूप उस सामग्री को उपस्थित किया जा सकता है जो आधुनिक अनुसन्धानों से उपलब्ध हुई है। इन अनुसन्धानों से यह भी प्रतीत होता है कि आदिकाल साहित्य में चारणों की प्रवृत्ति गौण है, प्रमुख नहीं। ऐसी स्थिति में इस काल का नाम 'चारण काल' रखना उचित नहीं।

राहुल जी ने इस काल का नाम एक और सुझाया है वह है 'सिद्ध सामन्त काल।' 'सिद्ध सामन्त काल' नामकरण करने में उन्होंने इसकी पूर्वापर सीमायें ८वीं से १३वीं शताब्दियां निश्चित की हैं। इस नामकरण के मूल में प्रवृत्ति विशेष को आधार बनाया गया है। राहुल जी का ऐसा मत है कि इस काल में एक ओर तो सिद्ध की वाणी से निसृत ऐसे बोल हैं जो बड़े प्रभावकारी हैं और दूसरी ओर सामन्तों की स्तुति है। सिद्धों की वाणी के अन्तर्गत बौद्ध, नाथ, सिद्ध, जैन आदि मुनियों की उपदेशमयी वाणी का प्रसार है और सामन्तों की स्तुति के अन्तर्गत अपने आश्रयदाताओं के कीर्तिमान हैं। असलियत यह है कि राहुल जी द्वारा दिये गए इस नाम से अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएं छूट जाती हैं और इतना ही नहीं, इस काल के अन्तर्गत विकसित होने वाली साहित्यिक प्रवृतियां का भी सही-सही बोध नहीं हो पाता। संदेश रासक, विद्यापति की पदावली आदि ग्रन्थों की विशेषताएं तो इस नामकरण के अपना लेने से एकदम अछूती रह जाती है। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह नाम असंगत है और इस असंगति का कारण राहुल जी की पुरानी हिन्दी और अपभ्रंश को एक मान लेना है। राहुल जी ने अपनी 'हिन्दी-काव्य-धारा' नामक पुस्तक में लिखा है कि "जब हम पुराने कवियों की भाषा को हिन्दी कहते हैं तो उस पर मराठी, उड़िया, बंगला, आसामी, गोरखाली, पंजाबी, गुजराती आदि भाषा-भाषियों की आपत्ति हो सकती है। उन्हें भी उसे अपनी कहने का इतना अधिकार है जितना हिन्दी भाषा-भाषियों को। वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएं १२वीं, १३वीं शताब्दियों में अपभ्रंशों को अलग होती देखती है।"

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस काल के लिए एक और नया नाम गढ डाला और वह है—'बीज वपन काल'। किन्तु गहराई से देखें तो यह नाम भी उचित नहीं जान पड़ता। इस नाम में जो ध्वनि है उस ध्वनि का सम्बन्ध इस काल की साहित्यिक प्रवृतियों में बैठता ही नहीं। असलियत यह है कि आदिकाल में अपनी पूर्ववर्ती साहित्य की सभी परम्पराएं और काव्य रूढ़ियां बड़ी सफलता के साथ चित्रित हुई हैं। नामकरण की दिशा में और आदिकाल के साहित्य के सन्दर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निष्कर्ष सराहनीय हैं। वस्तुतः यह काल अनेक अन्तर विरोधों का काल है

अतः इसका नामकरण प्रवृति के आधार पर न होकर आदिकाल के नाम से ही होना चाहिए। यद्यपि आदिकाल शब्द भी डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में भ्रामक है किन्तु औरों की दृष्टि में कम।

सीमा-निर्धारण:—प्रस्तुत काल में सीमा-निर्धारण का प्रश्न उतना ही विवादास्पद है जितना नामकरण का। आचार्य शुक्ल ने इस काल की सीमा संवत १०५० से संवत १३५० स्वीकारी है और इसके मूल में उनकी यह भावना काम कर रही है जिसमें उन्होंने प्राकृत भाषा, अपभ्रंश और देशी भाषा को हिन्दी मान लिया है। शुक्लजी के इस मत का अनुसरण अनेक विद्वानों ने किया है। शुक्लजी का यह मत सही हो सकता है यदि उनके मस्तिष्क से भ्रामक धारणायें निकल जाती। राहुल ने ८वीं शताब्दी की अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी मान कर जो गड़बड़ी फैलाई है, वह उचित नहीं क्योंकि ८वीं शताब्दी से पूर्व १३वीं शताब्दी के बाद की अपभ्रंश रचनाएं हैं, उनको भी तो इसी सीमा में आना चाहिये था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन दोनों भाषाओं को भिन्न-भिन्न स्वीकारा है। उनकी दृष्टि में एक मान लेना भाषा-शास्त्रीय और वैज्ञानिक दृष्टि का द्योतक नहीं। द्विवेदी जी ने हिन्दी का विकास लगभग १३वीं शताब्दी में स्वीकारा है। अतः सहज ही हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह द्विवेदी जी का ही निष्कर्ष है। १३वीं शताब्दी में हिन्दी का विकास हुआ और इसकी पुष्टि 'संदेश रासक' के लेखक अब्दुल रहमान ने अपनी रचना में करदी है। उसने स्पष्ट रूप से लिखा है कि वह ऐसी भाषा में रचना कर रहा है जो सर्व साधारण के लिये बोधगम्य है। 'संदेश भ्रामक' की भाषा बड़ी परिमार्जित अपभ्रंश है। अतः आधुनिक आर्य भाषा हिन्दी का अस्तित्व १३वीं शताब्दियों में स्वीकार कर लेना ही उचित है।

आदिकालीन साहित्य जिन परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ था उन परिस्थितियों से जो तथ्य सामने आये हैं वे तत्कालीन साहित्य की प्रवृत्तियों का परिचय देते हैं। आदिकाल का अधिकांश साहित्य वीर रस को लेकर लिखा गया है। वीर-रस से युक्त बहुत-सी पुस्तकें साहित्यिक सीमा में आती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों के आधार पर इस काल का नामकरण वीर-गाथा काल किया था उनके समग्र विश्लेषण से यह बात कही जा सकती है कि उस समय का साहित्य वीर-रस के अतिरिक्त अपभ्रंश में भी लिखा गया। सचाई यह है कि इस काल की जो साहित्यिक सामग्री है वह बड़ी महत्वपूर्ण है और विवेचन की अधिकारिणी है। शुक्लजी ने जिन ग्रन्थों का विवेचन उचित समझा और जिनको साहित्यिक सीमा में प्रवेश कराने से इन्कार कर दिया उन सभी ग्रन्थों का पुनः परीक्षण आवश्यक है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जो तर्क दिये हैं उनसे इस काल के ऊपर एक नया प्रकाश पड़ता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस काल में जैन धर्म विषयक ग्रन्थों की भी रचना हुई। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि शुक्लजी के द्वारा बताई गई बारह पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ अपभ्रंश की रचनाएं भी ऐसी हैं जो साहित्यिक मूल्य रखती हैं और विवेचन की अधिकारिणी हैं। शुक्लजी ने जिन रचनाओं के विवेचन का अधिकारी नहीं माना उसके तीन कारण प्रस्तुत किये गये हैं:--

१. कुछ पीछे की रचनाएं हैं।

२. कुछ नोटिस मात्र हैं।

३. कुछ जैन-धर्म के उपदेशक ग्रन्थ हैं।

वस्तुतः जिन रचनाओं में उपदेश भी हैं और साहित्यिकता का लेश भी नहीं उन्हें साहित्यिक क्षेत्र से तो निकाल देना उचित ही है। किन्तु इसी दौड़ में वे रचनाएं पीछे नहीं छोड़ दी जानी चाहिए जिनमें धर्मोपदेश के साथ-साथ साहित्यिक सरसता और सजीवता विद्यमान है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व को बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। धार्मिक होने से ही यदि कोई रचना अविवेच्य हो जाए तो तुलसी का रामचरित मानस भी साहित्यिक क्षेत्र में अविवेच्य होगा। साथ ही पद्मावत भी साहित्य के घेरे में नहीं घुस सकेगा। आध्यात्मिक उपदेशों को देख कर यदि ग्रन्थों को सांस्कृतिक सीमा से बाहर निकालते रहेंगे तो हमें आदिकाल से भी हाथ धोना पड़ेगा। तुलसी, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार करना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से ही दण्डवत् करना पड़ेगा।

४. प्रकृति चित्रण:—प्रकृति आदिकाल से ही मानव को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती आई है। आदिकाल साहित्य में प्रकृति का चित्रण आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूप का स्वरूप सुरक्षित है। हां, उसके इतने रूपों का चित्रण इस काल के कवियों के हाथों नहीं हुआ है। नगर, नदी, पर्वत आदि का वर्णन यथोचित मात्रा में सुलभ होता है।

५. रासो साहित्य:—इस काल में जो भी साहित्य लिखा गया है उसका सम्बन्ध 'रासो' शब्द से किसी न किसी प्रकार रहा है। यही कारण है कि इस काल के प्रायः सभी ग्रन्थों के नाम के साथ 'रासो' शब्द का घनिष्ट सम्बन्ध है। रासो शब्द की उत्पत्ति और व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं हैं। इन ग्रन्थों में सामन्ती जीवन उभर आया है। इन काव्यों के रचयिताओं की दृष्टि सामान्य जीवन की ओर कभी नहीं गई। इसका एकमात्र कारण कवियों की आश्रयदाताओं की प्रशंसा है। सामन्तों की स्तुति करने वाले कवि की दृष्टि साधारण मानव के जीवनगत संघर्षों की ओर जा भी कैसे सकती थी ?

६. ऐतिहासिक रचनाओं का अभाव:--आदिकालीन साहित्य के अन्तर्गत इतिहास प्रसिद्ध नायकों को स्थान तो मिला परन्तु उनका चित्रण और वर्णन ऐतिहासिक कसौटी पर खरा नहीं उतरता। संवत् और तिथियों में तो गोलमाल है ही, उस समय संस्कृत ग्रन्थों में दिए गए संवत् और घटनाओं से भी इनकी कोई संगति नहीं बैठती। सचाई यह है कि इन रचनाओं के रचयिताओं का ध्यान इतिहास का आंशिक आधार लेकर कल्पना की ओर ही अधिक रहा है। कल्पनातिशयता के कारण इतिहास की बलि दे दी गई है। बात यहां तक पहुँच गई है कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को उन राजाओं का विजेता कहा गया है जो उनसे पूर्व हुए थे। कहने का तात्पर्य यही है कि कल्पना का इतना अधिक प्रयोग कविता को ऊंचाई से नीचाई की ओर ले आता है जो किसी भी स्थिति में उचित नहीं है।

केवल ये ही दो सीमाएं स्वीकार की हैं। गद्य का प्रभाव और दृश्य काव्य के प्रति अज्ञता ने कवियों का ध्यान कहीं आकर्षित ही नहीं किया।

९. भाषा-शैली:--इन काव्यों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है वह अधिकांशतः डिंगल भाषा है। तत्कालीन साहित्य में राजस्थानी भाषा का जो रूप मिलता है वही आज डिंगल नाम से अभिहित की जाती है। वीरता की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए जितनी उपयुक्त डिंगल भाषा है उतनी उपयुक्त और कोई भाषा नहीं है। कहीं-कहीं इन काव्यों में संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। तद्भव शब्दों के प्रयोग के मूल में यही बात कही जा सकती है कि ये शब्द डिंगल के विभाव के अनुकूल पड़ते हैं। भाषा के साथ ही छंदों के क्षेत्र में भी बड़ी क्रान्ति इस काल में हुई है। छंदों के विविध रूपों का प्रयोग और अधिकाधिक प्रयोग इस काल की अपनी विशेषता है। दोहा, तोटक, तोमर, गाथा, पद्धरि, आर्या, शेला, उल्लाला, कुण्डलियां आदि छंदों का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ इस काल की रचनाओं में किया गया है। छंदों का यह वैविध्य और परिवर्तन चमत्कार की व्यंजना के लिए नहीं हुआ वरन् अतिशय भावद्योतन के निमित्त हुआ है। आचार्य हजारीप्रसाद ने लिखा है--"रासो के छंद जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।"

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि इस काल के साहित्य का ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से महत्व है। वीर शृंगार का सुन्दर सम्मिलन, वीरों की हृदयानुभूतियां, युद्धों के सजीव वर्णन, नारियों के जौहर इत्यादि का वर्णन और निरूपण इस कविता में बड़ी ओजस्वी और माधुर्यपूर्ण शैली में हुआ है। डा० श्यामसुन्दरदास के ये शब्द बड़े सारगर्भित प्रतीत होते हैं कि "इस काल के कवियों का युद्ध-वर्णन इतना सजीव और मार्मिक है कि उनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रासगर्भित किन्तु निर्जीव रचनाएं नकल सी जान पड़ती है। कर्कश पदावली के बीच वीर भावों से भरी हिन्दी के आदि युग की यह कविता सारे हिन्दी साहित्य में अपनी समता नहीं रखती।" राजस्थान में जिस वीरता का चित्रण इन कवियों ने किया, वह अनूठा है। इस प्रकार का बोलता हुआ वर्णन हिन्दी के दूसरे कवियों के बांट नहीं आया है।

तोड़ रहे थे उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागत की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार से यदि भक्ति भावना को उमडना था, तो उसे पहिले सिंध में और फिर उत्तर-भारत में प्रकट होना चाहिए था, किन्तु हुई दक्षिण में।"

कुछ विद्वानों का कहना है कि कबीर की खण्डनात्मक प्रवृत्ति भी इस्लाम की प्रतिक्रिया है पर यह बात उचित नहीं है क्योंकि इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि हमारे यहां के सभी सिद्धों ने इस प्रकार की युक्तियां कही हैं। कई बार भक्ति के उद्भव और विकास के लिए कबीर की यह साखी उद्धृत की जाती है:—

'भक्ति द्रावड़ ऊपजी लाये रामानन्द'

डा० सत्येन्द्र के अनुसार द्राविण से अभिप्राय: शायद दक्षिण से ही था। उत्तर भारत में जब वैष्णव-भक्तों का जमाना आया तो उसके पहिले ही दक्षिण के आलवार संतों में बहुत कुछ भक्ति का विकास हो चुका था, वहीं से भक्ति की लहर चलकर उत्तर भारत की ओर आई।

भक्ति साहित्य की पृष्ठभूमि:—भक्ति साहित्य की पृष्ठभूमि में जिन परिस्थितियों का योग रहा है उनमें राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का विशेष हाथ है:—

राजनैतिक परिस्थिति:—जिस काल से वास्तविक हिन्दी साहित्य का बनना प्रारम्भ हुआ, वह काल भारतीय इतिहास का बहुत ही उथल-पुथल और परिवर्तन का काल था। समस्त देश पर इस्लामी साम्राज्य की पताका फहरा रही थी। लगभग सभी देशी राजाओं ने आपसी फूट के कारण मुसलमान शासकों के समक्ष अपने घुटने टेक दिये थे। लगभग सभी राजा अपना राज्य दे बैठे थे।

जब क्षत्रिय लोग अपना राज्य ही दे बैठे तो उनके साथ उनका स्वाभिमान भी समाप्त हो गया। वे राज्य में केवल नाम-मात्र के राजा रह गये थे। फलतः उन्होंने मुसलमान शासकों के रीति-रिवाज अपनाने प्रारम्भ कर दिये और उनकी राजनीति को अपनी राजनीति बना लिया। विदेशी शासकों ने शांति-स्थापना के लिए जो कूटनीतिक चालें चलीं, उनके अनुसार उन्होंने हिन्दू राजाओं की बेटियों से शादी व्याह किये, अकबर का रनिवास तो हिन्दू नारियों से भरा पड़ा था। जहांगीर के हरम में भी राजा उदयसिंह, बीकानेर के राजा रामसिंह राजा मानसिंह, के ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह, रामचन्द्र बुंदेला आदि की बेटियां पहुँच गई थीं।

इस्लामी राज्य में रोजी और रोजगार के लिए लोगों को फारसी पढ़कर ही मुंशीगिरी मिल पाती थी। इस प्रकार अपनी भाषा और सम्मान से भी हिन्दुओं ने हाथ धोया। यों कहने के लिए तो अकबर स्वयं ने भारतीय कला तथा साहित्य आदि को भरसक प्रोत्साहन दिया तथा उनकी वेश-भूषा, धर्म तथा अन्य सामाजिक मामलों में भी उदारता बरती और अनेक हिन्दी कवियों को अपने दरबार में सम्मान सहित रखा तथा स्वयं ने भी हिन्दी में कविताएं लिखीं।

यह भी हम नहीं भुला सकते कि प्रत्येक सामन्त की मृत्यु पर उसकी सन्तति हड़प लेने की प्रथा के कारण कितना हिन्दू उच्छेद हो रहा था। सरदार के मरते ही उसकी सम्पत्ति राजकीय सम्पत्ति बन जाती थी। फलतः अनेक परिवारों को अनाथ होना पड़ता था। कृषि-प्रधान भारत के किसानों की दशा अति शोचनीय थी। लगान अत्यन्त अधिक था तथा दुर्भिक्ष आदि दैवीय प्रकोप मानव को पीसे डाल रहे थे।

सामाजिक परिस्थितिः--मुस्लिम काल में वर्ण-व्यवस्था अति दृढ़ हो गई। परिणाम यह निकला कि समाज में छुआ-छूत, छोटे बड़े की भावना बहुत अधिक प्रतिष्ठित हो चली। पिरोहितवाद का प्राबान्य हो चला। ये पिरोहित अनेक आडम्बर प्रधान प्रथाओं और व्यवस्थाओं का प्रचार कर साधारण जनता को ठगा करते थे। परिणामस्वरूप सच्चे धर्म के स्थान पर धर्माडम्बरों, धर्माभासों कुप्रथाओं, की बाढ़ सी आ गई। इधर यवन समाज में छल-कपट, व्यभिचार, द्यूत-क्रीड़ा आदि का बोलबाला था। फीरोजशाह तुगलक खां के हरम में प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति की हजारों स्त्रियां थीं। तत्कालीन स्थिति का वर्णन करते हुए एक इतिहासकार ने लिखा है। बाल-व्यभिचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। सुन्दर बालक और बालिकाएं खुल्लम-खुला बाजार में बिका करते थे। जाल-साजी की अनेक कहानियों से इतिहास भरा पड़ा है। मद्य-पान, द्यूत-क्रीड़ा तो उस समय की साधारण बातें थीं। हिन्दू-समाज में बाल-विवाह, विधवा-विवाह, सती-प्रथा आदि कुप्रथाएं प्रचलित थीं अतः पर्दा-प्रथा दृढ़ होती गई।

जहां हिन्दू और मुसलमानों में बादशाह और रियाया का भेद था वहां धीरे धीरे वे एक दूसरे के प्रति उदार भी होने लगे। तत्कालीन वास्तु और चित्रकला तथा धर्म और काव्य के क्षेत्र में दोनों में आदान-प्रदान हुआ। मुगलकालीन इमारतों और राजपूत तथा मुगल शैली के चित्रों को देखने से मालुम होता है कि मुसलमान और हिन्दू कला के घुल-मिल जाने पर एक नवीन कला व शैली का प्रादुर्भाव हुआ था।

धार्मिक परिस्थितिः—तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) बौद्ध-धर्म की विकृत परिस्थिति और (२) वैष्णव धर्म की परम्परागत परिस्थिति। इसके अतिरिक्त सूफी परिस्थिति ने विदेशी होते हुए भी भारत

मन्त्रयान से वज्रयान निकला। सिद्धों और नाथों के प्रमुख सिद्धान्त ये थे-'कर्मकाण्ड कुछ नहीं। वर्ण-व्यवस्था अनावश्यक। मोक्ष के लिए गुरु की परम आवश्यकता। ईश्वर एक निरंजन तथा घट-घट व्यापक।' धर्म की इस दिशा को ही लक्ष्य करके संभवतः तुलसीदास ने कहा था—'गोरख जगायो जोग भक्ति भगायो भोग।' बौद्ध, सिद्ध और नाथ योगी भ्रष्ट होकर गृहस्थ बनने की कामना करते रहे किन्तु हिन्दू जाति के संकीर्ण घेरे में प्रवेश संभव न था। एक सामान्य भक्ति-मार्ग की आवश्यकता पड़ी-जिसे हिन्दू, मुस्लिम, छूत-अछूत सभी अपना सकें।

भक्ति मार्ग की दो शाखाएं हुईं-एक ज्ञानाश्रयी और दूसरी प्रेमाश्रयी। प्राचीन काल की जो वैष्णव-भक्ति थी उसके अवतारवाद के आधार पर राम और कृष्ण भक्ति की धाराएं चल पड़ीं। रामानन्द ने राम नाम का जो मन्त्र दिया उसे निर्गुण और सगुण दोनों ही भक्ति-कवियों ने अपने-अपने ढंग से स्वीकार किया।

साहित्यिक परिस्थितियां:—समाज के मस्तिष्क का पोषण करने वाले साहित्य की और भी विचित्र स्थिति थी। तत्कालीन साहित्य ने जो परम्परा पाई थी और जो तत्कालीन दरबारों में लिखा जा रहा था उसमें सात्विकता का लेश मात्र भी न था। शाही दरबार की छत्र-छाया में जिस प्रकार का साहित्य लिखा जा रहा था, वह फारसी की गजलों और कव्वालियों को प्रोत्साहन देता था। कामुकता और अश्लीलता का उद्घाटन ही उस समय के साहित्य का एकमात्र उद्देश्य था। इस प्रकार जनता के समक्ष कवि लोग भी आशा-आश्वासन नहीं रख पाये।

उन दिनों हिन्दुओं का उच्चवर्ग संस्कृत में अपने उद्गारों को अभिव्यक्त करता रहा। इधर मुगलों द्वारा फारसी को राजकाज के लिए स्वीकार किया जा चुका था अतः फारसी में अनेक ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना हुई तथा प्रचुर मात्रा में कविताएं लिखी गईं। फारसी में अनेक संस्कृत के ग्रंथों का अनुवाद कर दिया गया।

भक्ति-साहित्य में भारतीय आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है। भक्तिकाव्य जहां उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है वहां उसमें उच्चकोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। इसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन-स्रोत रस है, उसका शरीर मानवीय है। रस की दृष्टि से भी यह साहित्य श्रेष्ठ है। यह साहित्य एकसाथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को तृप्त करता है।

संत-काव्य की प्रवृत्तियां (विशेषताएं)—ज्ञान मार्ग:—हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल में एक काव्यधारा-विशेष का प्रवर्तन हुआ जिसे आचार्य शुक्ल ने ज्ञानाश्रयी शाखा का नाम दिया है। संत मत में भक्ति और साधना की उच्चकोटि की अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि उसमें काव्य उच्चकोटि का नहीं है। वास्तव में संत मत स्वच्छ और नैसर्गिक है इसलिए उसमें काव्यात्मक कृत्रिमता नहीं है। संत-कविता की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं:—

१. **निर्गुणोपासना:—**प्रायः सभी संतों का जन्म समाज के निम्न वर्गों में हुआ था तथा कविता करने का [illegible]

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि "संत-काव्य का वर्ण्य-विषय अधिकतर धार्मिक और दार्शनिक ही कहा जा सकता है, उसमें परम तत्व की चर्चा है जिसमें उसके वस्तुतः अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय स्वरूप का यथासाध्य परिचय कराया गया है।" संतों ने भगवान के जिस निर्गुण रूप को चुना है वह बौद्ध साधकों के शून्य से पृथक है। कबीर ने कहा भी है— "पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।

कहिबे कूं सीमा नहीं, देखा है परमान॥"

२. **रूढ़िवाद का विरोधः**--संत-कवियों की विचारधारा उनकी निजी अनुभूतियों पर आधारित है। अतः उसमें दार्शनिक शुष्कता के स्थान पर काव्य की सी तरलता है। उनके उपदेशों में ईश्वर की महिमा का सर्वत्र वर्णन है परन्तु मूर्ति-पूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा आदि वाह्य-आडम्बरों का डट कर विरोध किया गया है। उनके विरोध में एक प्रकार की खीज है:--

"दुनियां कैसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजे, जाको पीसो खाय॥"

इन कवियों ने साम्प्रदायिकता का भी खण्डन किया है। तथा जाति-पांति का पूर्ण विरोध किया है। इन्होंने बहुदेववाद का भी डटकर विरोध किया।

गुरु का महत्व तथा भजन और नामस्मरणः—संत-कवियों ने गुरु को भी ईश्वर के समान माना है। गुरु निर्देशित मार्ग ही ईश्वर प्राप्ति साधना का मार्ग है। उनके अनुसार—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोविन्द दियो मिलाय॥

भजन और स्मरण के सम्बन्ध में इन कवियों ने बताया है कि भजन मन ही मन में होना चाहिए। ईश्वर प्राप्ति के लिए भगवान-भजन और स्मरण आवश्यक है।

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होइ॥

दृष्टिकोण अच्छा नहीं है। कबीर ने नारी की निंदा की है किन्तु केवल असती नारियों की, दुष्टाओं की–

नारी की झांई परत, अंधा होत भुंजग।
कबिरा तिन की कौन गति, जो नारी के संग ॥

भाषाशैली:—इन कवियों ने मुख्यतः ज्ञेय-मुक्तक-शैली का प्रयोग किया है। गीति-काव्य के प्रमुख तत्वों-भावात्मकता; वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, सूक्ष्मता और कोमलता आदि का समावेश इनके काव्य में पाया जाता है। उपदेशात्मकता तथा बौद्धिकता का पुट अधिक है। इनकी रचना में विभिन्न प्रदेशों के शब्द मिलते हैं।

संत कवि

संत–कवि:—नामदेव-आपका जन्म सन् १२६८ ई० में महाराष्ट्र के सतारा जिले के नरसी गांव में हुआ। महाराष्ट्री भाषा के अतिरिक्त आपने हिन्दी में भी रचनाएं की। आपने अपने जीवन-काल में काफी ख्याति अर्जित करली थी। आपके लिखे हिन्दी-पदों का गुरु-ग्रंथ साहब में संकलन है। आपके पदों में तन्मयता और भावुकता के दर्शन होते हैं। इनके पदों से पता चलता है कि तत्कालीन भाषाएं खड़ी बोली और ब्रज-भाषा दोनों ही थीं।

कबीरदास:—संतों में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व कबीरदासजी का था। वे ऐसे वक्त पैदा हुए थे जिसे धर्म-साधनाओं और मनोभावनाओं का चौराहा कह सकते हैं। कबीर का जन्म अनुमानतः काशी में सन् १३९९ ई० में हुआ था और देहावसान मगहर में सन् १४९५ ई० के आस-पास हुआ माना जाता है। कबीर विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे।

व्यक्तित्व:—कबीर ने अपने समय के सभी धर्म-गुरुओं से कुछ न कुछ लिया पर उसे ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया। कबीर में एक प्रकार की घरफूंक मस्ती और फक्कड़पन के भाव मिलते हैं। उन्हें अपने आप पर अखण्ड विश्वास था। इसीलिए वे कहा करते थे—

'कबिरा खड़ा बजार में, लिए लुकाठी हाथ।
जो घर जारै आपना, चले हमारे साथ ॥'
'हम न मरै, मरिहै संसारा, हमकूं मिल्या जिमावनहारा।'

कबीर ने कभी भी अपने ज्ञान और अपने गुरु पर संदेह नहीं किया। वे निरर्थक आचारों को व्यर्थ समझते थे, जो असली बातों को ढक देते हैं। कबीर अपने युग के सबसे बड़े क्रान्तिवादी थे।

कबीर का वाद:—कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों का ही नहीं वरन् शाक्त, जैन, नाथ, सूफी मतों का भी खण्डन किया। साथ ही उनमें इन विचारों का प्रतिबिम्ब भी मिलता है। एक ही मत की विभिन्न दार्शनिक धारणाएं भी उनमें मिलती हैं। कबीर की आत्मानुभूति रहस्यवाद के रूप में अभिव्यक्त हुई है जो तीन प्रकार की है—योग, रहस्यवाद और भक्ति। अद्वैतवादियों की भांति नाथ 'शब्दभेद' में विश्वास

करते थे, परन्तु वैदिक कर्मकाण्ड का घोर खण्डन करते थे। नाथों की यह प्रवृत्ति कबीर में भी मिलती है। जब साधक प्राणायाम द्वारा चित्त निरोध करता है तो इन्द्रियां शांत होने लगती हैं, कुण्डलिनी उर्ध्वगामिनी हो जाती है, तब साधक को अलौकिक शब्द सुनाई पड़ता है। यही अनहद नाद है। कबीर ने इसी अनहदनाद का अनेक बार वर्णन किया है।

हठयोग और सुरति-साधना के अतिरिक्त कबीर में भक्ति की चर्चा विश रूप से की गई है। कबीर ने शाक्तों, योगियों और सबको फटकारा किन्तु वैष्णवों सामने वे सदैव झुके। कबीर की भक्ति में विरह-तत्व प्रबल है।

साहित्य-साधना—कबीर ने साहित्य के लिये नहीं गाया। उन्होंने जन-जीवन लिये अपनी वाणी का प्रयोग किया। इसीलिये उनका साहित्य जन-साहित्य है। कबी के बहुत से दोहों में व्यावहारिक जीवन के दोहे ऐसे नपे तुले शब्दों में कहे गये कि वे अब तक घटित होते हैं। कबीर का बानी का संग्रह 'बीजक' नाम से प्रसिद्ध है।

कबीर की भाषा को प्रायः सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा कहा जाता है। उन्हो कहीं ब्रज-भाषा, कहीं राजस्थानी, कहीं पंजाबी तो कहीं अरबी-फारसी आदि शब्दों व प्रयोग किया है।

रैदास—ये भी विशेष पढ़े लिखे नहीं थे। जाति के चमार थे, परन्तु उच्चको के संत और भक्त थे। मीराबाई ने इन्हें अपना गुरु माना। आपके पद फुटकर रूप पाये जाते हैं। रैदास के गीतों में अत्यन्त शांत और निरीह भक्त-हृदय का परिच मिलता है। इनमें ज्ञान के दिखावे का आडम्बर तनिक भी नहीं है। रैदास के पदों आत्म-निवेदन और परमात्म-विरह की पीड़ा है, जो केवल तत्वज्ञान की चर्चा से प्रा नहीं हो सकती है। आपकी भाषा भी मिली-जुली है। अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग किया गया है।

सूफी मत-उद्भव तथा प्रवृत्तियां--'सूफी' शब्द की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। 'सूफी' शब्द 'सफ' से निकला है जिसका अर्थ अग्रिम पंक्ति होता है। कयामत के दिन अग्रिम पंक्ति में बैठने वाला व्यक्ति 'सूफी' कहलाता है। दूसरे मत के अनुसार सूफियों की स्वच्छता और सफाई के कारण उन्हें सूफी कहा जाता है। तीसरे मत के अनुसार मदीना में सुफ्फा (चबूतरा) पर बैठने वाले लोग सूफी कहलाये। अन्य मत के अनुसार सोफिया (ज्ञान) का रूपान्तर ही सूफी है।

इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि सूफी मत का सम्बन्ध इसलाम से है। इस मत को ध्यान से देखने से स्पष्ट होता है कि मुसलमानों के पतनोपरान्त मसीहियों का विकास हुआ तथा ये लोग सूफी मत को अपनी ओर खींचने लगे पर ऐसा हो न सका क्योंकि इनके मूल में अन्तर है। एक मसीहा का मूल-मंत्र 'विराग' है और सूफी मत का मूल-मंत्र प्रेम का निवास है।

भारतवर्ष में सूफी-मत का सूत्रपात १२वीं शताब्दी में हुआ। भारतीय वेदान्त ने इस मत को प्रभावित किया। १२वीं शताब्दी में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के आविर्भाव से ही सूफी मत का सूत्र-पात मानना चाहिये। वैसे १५वीं शताब्दी तक कई सूफी सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। इस मत का प्रमुख तत्व प्रेम तत्व है। प्रेम के द्वारा ही सृष्टि का महत्व समझा जा सकता है।

सूफी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियां--प्रेम-मार्गी सूफी कवियों की गाथाओं का प्रणयन भारतीय चरित-काव्यों की सर्गबद्ध शैली में नहीं हुआ बल्कि फारसी की मसनवी शैली के ढंग पर हुआ है। सूफी सम्प्रदाय के प्रमुख कवि जायसी के पद्मावत को उदाहरण-स्वरूप रखा जा सकता है।

सूफियों के काव्य में प्रेम-गाथाएं अधिकांशतः हिन्दुओं के घरों की कथाएं हैं। ये परम्परा से प्रचलित कहानियां हैं जिनमें अर्द्ध-इतिहास और अर्द्ध-कल्पना का पुट है। हिन्दी के कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इन सूफी कवियों ने हिन्दू घरों की प्रेम कहानियों के माध्यम से प्रच्छन्न रूप से इसलाम का प्रचार किया, पर बात ऐसी नहीं है।

सूफियों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम है और प्रेम में भी वियोग पक्ष को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। विरहावस्था का वर्णन करते समय ऋतुओं और बारह मासों का प्रयोग भी खूब किया गया है। इनके प्रेम पर विदेशी एवं भारतीय दोनों शैलियों का प्रभाव है। संयोगावस्था में कभी अश्लीलता का और कभी यौगिक क्रियाओं का वर्णन किया गया है। प्रेम के साथ सौंदर्य का भी प्रयोग खूब किया गया है।

सूफी कवियों की इन प्रेम-गाथाओं द्वारा **लौकिक से अलौकिक प्रेम की व्यंजना की गई है।** प्रेम-गाथाओं में नायक और नायिकाओं के जीवन का उतना ही अंश चित्रित किया गया है जितने से प्रेम के विविध प्रसंग जुटाये जा सकें और उनकी अभिव्यक्ति विस्तार से की जा सके।

लोक-पक्ष एवं हिन्दू संस्कृत से ओत-प्रोत ये प्रेम-कथाएं अपना सानी नहीं रखतीं। सूफियों ने अपनी प्रेम-गाथाओं में शैतान को माया का प्रतिनिधि बना कर प्रस्तुत किया है। सूफियों के काव्य में किसी सम्प्रदाय, धर्म आदि का खण्डन नहीं मिलता है। प्रेम की भावना को नारियों के मत्थे मढ़ा गया है और उन्हें परमात्मा का प्रतीक बतलाया गया है।

प्रेम-गाथाओं का प्रमुख रस-शृङ्गार है। इसके अतिरिक्त अन्य रसों का भी उल्लेख मिलता है। इन कवियों की गाथाओं में रहस्यवाद का स्वरूप बड़ा मधुर और सरस है, संतों की भांति नीरस नहीं। इन्होंने विशेषतः प्रबन्ध-काव्यों की ही रचना की है किन्तु मुक्तक शैली में भी कुछ रचनाएं मिलती हैं। प्रबन्धों में वस्तु एवं घटना-वर्णन में जो प्रवाह और गतिमयता अपेक्षित है, उसका इनमें अभाव मिलता है।

भाषा-शैली में इन्होंने अधिकतर अवधी को ही अपनाया है। उसमान और नजीर पर भोजपुरी का भी प्रभाव है। नूरमोहम्मद ने कहीं-कहीं ब्रज-भाषा का प्रयोग भी किया है। अरबी, अवधि तद्भव एवं फारसी आदि के शब्द भी मिलते हैं। अलंकारों में प्रायः प्रचलित अलंकारों को ही अपनाया गया है।

सूफियों ने लौकिक-प्रेम के माध्यम से जिस अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना को अपनी कविता का लक्ष्य बनाया था, उसके लिए उन्होंने कुछ प्रतीकों को भी अपनाया है।

हिन्दी के सूफी कवि--कुतबन (Kutban)—ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। इन्होंने सन् १५०१ ई० में 'मृगावती, नामक प्रेम-काव्य लिखा। इस पुस्तक में चंद्रनगर के राजा गनपतदेव के पुत्र और कंचन नगर के राजा रूपमुरार की पुत्री मृगावती के प्रेम का वर्णन है। यह पुस्तक अवधि भाषा में लिखी गई है।

मंझन--सन् १५४५ ई० के लगभग मंजन ने मधुमालती की रचना की। इसमें कवि कल्पना का चमत्कार दर्शनीय है। आध्यात्मिक प्रेम का संकेत करने के लिए कवि ने प्रकृति का उपयोग किया है। इस पुस्तक में विरह और परमात्मा की ज्योति के वर्णन सुन्दर हैं। समासोक्ति-पद्धति में भगवान की ओर संकेत है।

कृतियां--ऐसा कहा जाता है कि जायसी के ग्रन्थों की संख्या २१ तक है परन्तु प्रमुख कृतियां तीन ही हैं--पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम।

आखिरी कलाम--यह कवि की पहली रचना है। काव्य-सौंदर्य के मान-दण्ड से यह एक साधारण रचना है। इसमें कहीं भी प्रौढ़ता दिखाई नहीं पड़ती हैं। प्रलय के दिन क्या होगा, यही इसका कथानक है। इसके द्वारा जायसी के जीवन-चरित पर प्रकाश अवश्य पड़ता है।

अखरावट--यह एक दर्शन-प्रधान रचना है। इसमें आदि से अन्त तक आध्यात्मिक विचारों का निरूपण किया गया है। भाषा सरल है अतः यह सर्व जन-सुगम बन गया है। ब्रह्माण्ड की रचना तथा जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध इस रचना की विषय वस्तु है।

पद्मावत--यह जायसी की प्रौढ़तम रचना है। इसका सृजन १५४० ई० में हुआ। 'पृथ्वीराज रासो' के पश्चात् 'पद्मावत' ही हिन्दी का पहला महाकाव्य कहलाता है।

पद्मावत में राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन मिलता है। हीरामन तोता रत्नसेन के मन में प्रेम की पीर जगाता है। इस प्रेमाख्यान में राजस्थान की सुप्रसिद्ध वीरांगना पद्मिनी की कथा है। उसे सूफी प्रेम की व्यंजना का अवलम्ब बनाया गया है। इसमें कवि ने इसलामी और सूफी विश्वास और साधना की बातें आरकाधिकाओं के बीच-बीच कही हैं।

जायसी का रहस्यवाद--जायसी का रहस्यवाद प्रेम-प्रधान है परन्तु उसमें ज्ञान-प्रधान भारतीय अद्वैतवाद की स्पष्ट झलक मिलती है। हठ-योग साधना-पद्धति को भी उन्होंने अपनाया है। सौंदर्य और प्रेम उसका प्रधान लक्ष्य है। जायसी ने वस्तुतः रहस्यवाद को सर्वांगीण बना कर एक ठोस धरातल पर खड़ा किया है।

जायसी का काव्य-वैभव--जायसी का पद्मावत एक उच्चकोटि का प्रबन्ध काव्य है। उसका विषय प्रधान रूप से गृहस्थ के भीतर जो प्रेम का विस्तार होता है उसी का चित्रण है। पद्मावत शृंगार-रस प्रधान काव्य है। सूफी होने के नाते जायसी ने प्रकृति का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। पद्मावत में शब्दालंकारों का कम और अर्थालंकारों का अधिक प्रयोग हुआ है। जायसी ने पद्मावत की रचना दोहा, चौपाई की शैली पर अवधी भाषा में की है। भाव, भाषा-शैली सभी दृष्टि से यह काव्य अनूठा है। आध्यात्मिक प्रेमाख्यान के उपादानों के साथ ही कवित्व के सौंदर्य से युक्त पद्मावत हिन्दी भाषा का शृंगार है।

शेख उस्मान--आपने सन् १६१३ ई० में 'चित्रावली' नामक प्रेमाख्यान की रचना की। विषय-वस्तु काल्पनिक है। कवि ने रचना में जायसी का पूरा अनुकरण किया है।

नूरमुहम्मद--फारसी के साथ-साथ आपको हिन्दी का अन्य सूफी कवियों से अच्छा ज्ञान था। आपने 'इन्द्रावती' नामक प्रेमाख्यान लिखा जिसमें कलिंग के राजकुमार और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम-कहानी है। इसकी भाषा सब सूफी रचनाओं से अधिक संस्कृत-गर्भित है। कवि ने इस रचना में पांडित्य प्रदर्शन का प्रयत्न किया है। इसका विषय भी तत्व-ज्ञान सम्बन्धी है।

हिन्दी में राम-भक्ति काव्य

प्रेरक तत्व--बौद्ध-धर्म और वैष्णव-धर्म दोनों ही अहिंसा, सदाशयता और सदाचार की भावनाओं को लेकर चले। कालान्तर में वैष्णव-धर्म में अवतारवाद ने जोर पकड़ा और विष्णु के दो रूप प्रचलित हो गये—राम और कृष्ण! ये धारायें आगे चल कर बड़े जोरों से पनपीं। ये धारायें उत्तर की अपेक्षा दक्षिण-भारत में विशेष-रूप से पहिले पनपी। वैष्णव-धर्म का आदिमरक्त विष्णु में प्राप्त होता है, जिसका उल्लेख वेद में मिलता है। राम-कथा एक ऐसी युग की वस्तु प्रतीत होती है जबकि युग के जीवन के ये (राम) आदर्श थे। रामकथा का अन्य स्त्रोत महाभारत है। वाल्मीकि रामायण में भी राम कथा का तार जुड़ता है।

८वीं शताब्दी में शंकराचार्य के अद्वैत निरूपण से भक्ति-भावना को प्रोत्साहन मिला और विष्णु के नारायण स्वरूप को बल मिला। आगे चल कर रामानन्द ने दो ग्रंथ लिखे। इन ग्रंथों का वर्ण्य-विषय उन्होंने लोकविहारी राम को बनाया। रामानुज के शिष्य कुरेशस्वामी ने भी राम-भक्ति को आश्रय दिया। इनके साथ ही देश-भेद और जाति-भेद को विनष्ट करने का प्रयत्न किया गया।

यद्यपि तुलसीदास से पूर्व भी भक्ति सम्बन्धी रचनाएं लिखी गईं किन्तु अप्रकाशित ही रहीं। भक्ति की इस परम्परा में तुलसी से पूर्व रामभक्त कवियों में विष्णुदास का नाम आता है। ईश्वरदास की भी दो रचनाएं आती हैं। आगे चल कर परम्परा से आगे बढ़ कर रामभक्ति में एक नवीन मोड़ आया। इस मोड़ को विकास देने में अग्रदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनकी भक्ति-भावना जानकी की सखी रूप में है। इससे स्पष्ट है कि राम-भक्ति शृंगार की सीढी तक उतर आई थी. यहां तक कि बाब

ादा-पुरुषोत्तम, शक्ति और शील तथा सौंदर्य से समन्वित हैं। राम लोकरक्षक हैं, रंजक नहीं।

राम-काव्य में समन्वय का स्वर बड़ा हितकारी एवं मनोहर हैं। इसमें विराट न्वय की भावना है। तुलसी ने विनय-पत्रिका में यही बताया हैं। इतना ही नहीं, ुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं बताया। रचना-भेद, भाषा-भेद, विचार-भेद, ंकार-भेद के साथ-साथ छंद-भेद भी राम-काव्य में पाया जाता है। इस धारा के वेयों की भाषा प्रायः अवधी है। हां, रामचन्द्रिका ब्रजभाषा के प्रयोग के कारण ावाद स्वरूप स्वीकार की जा सकती है।

राम-भक्ति के कवि

तुलसीदास–जीवन-परिचय–इनका जन्म १५४३ ई० (श्रावण शुक्ला सप्तमी) में ा। राजापुर आपकी जन्म-भूमि है। ये सरयूपरीय ब्राह्मण थे। तुलसी मूल नक्षत्र में ा हुए थे अतः ज्योतिष के भय से इन्हें पितृहन्ता होने के कारण त्याग दिया गया।

इनके गुरु का नाम नरहरिदास था। अपनी मति के अनुसार राम का रूप ्चान कर ये राम के परम-भक्त हुए। ये अपनी पत्नी पर बहुत आसक्त रहते थे। क दिन इनकी पत्नी ने इन्हें धिक्कारा। ये उसीं समय से वैरागी हो गये।

रचनायें—इनकी पुस्तकों की संख्या लगभग ३ दर्जन बताई जाती हैं पर १२ न्थ आपके महत्वपूर्ण ग्रन्थों में से है।

विनयपत्रिका—इसमें काव्योचित योजना का पूर्णतः पालन किया गया है। ुलसी ने इस रचना में आत्म-निवेदन किया है। यह एक गीति काव्य है।

कवितावली—इस रचना में छंद, कवित्त और सवैयों के द्वारा राम कथा कही ाई है। इसकी भाषा प्रांजल ब्रज-भाषा है।

गीतावली—मानस के सोपानों की भांति अन्य काण्डों में कथा कही गई है। उत्तरकाण्ड में महाराजाधिराज रामचंद्र के आनन्दमय गृहस्थ-जीवन की झांकी दिखाई है।

रामचरित मानस—यह अपने ढंग का एक अद्वितीय काव्य है। यह यथार्थतः लोकहित की भावना से प्रेरित होकर निर्मित हुआ है। गोस्वामीजी ने अपनी इस रचना में अन्य भारतीय पुराणों का सार भी लिखा है। 'मानस' विशुद्ध भक्ति-शास्त्र है। चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से मानस बड़ा ही लोक-प्रिय काव्य है। महाकाव्य की कसौटी पर भी यह ग्रन्थ खरा उतरता है।

तुलसीदास का काव्य सौष्ठव—तुलसी का काव्य प्रौढ़ तथा अद्वितीय है। मार्मिक स्थानों की तुलसी को बहुत पहचान थी। इन्होंने मानसिक दशाओं का भी अच्छा चित्रण किया है। मर्यादा का उलघंन तो कवि ने कहीं होने ही नहीं दिया। भाव पक्ष की भांति तुलसी का कला-पक्ष भी अद्वितीय है। इन्होंने ब्रज और अवधि दोनों भाषाओं में समान

रूप से रचना की है। मराठी और खड़ीबोली आदि के शब्दों का आपने बड़े
ढंग से विश्रण किया है। अपनी भाषा को लोकप्रिय बनाने के लिए तुलसी ने
का प्रयोग खुल कर किया है। तुलसी छंद-विधायक महाकवि थे। इन्हें अलं
सम्यकज्ञान था।

नाभादास—सन् १६०० ई० में नाभादासजी ने 'भक्तमाला' की रच
इनको अन्य भक्तों की रचनाओं का भी समुचित ज्ञान था। आपकी भाषा पं
और शैली स्थिर एवं निर्णयात्मक है।

शाही तथा राजदरबारी और अन्य कवि

गंग—महाकवि गंग की कोई भी रचना अभी तक प्रकाश में नहीं आ
कुछ फुटकल छंदों का संग्रह 'महाकवि श्रीगंग के कवित्त' नाम से प्रसिद्ध है
संयोग और वियोग शृंगार के बहुत अच्छे छंद लिखे हैं। आश्रयदाता की बड़ा
और वीरता का वर्णन किया है।

केशवदास—ये संस्कृत के पंडित थे। लक्षण ग्रंथों के अतिरिक्त केशव
चंद्रिका, रतन-बावनी, वीरसिंह देवचरित, जहांगीर जस-चंद्रिका और विज्ञान
की रचना की है।

केशव हमारे सामने कवि और आचार्य दोनों के रूप में आते हैं।
काव्य में हृदय पक्ष की न्यूनता और कला-पक्ष की बहुलता है। केशव केव
वैचित्र्य और शब्द-क्रीड़ा के ही प्रेमी थे।

सेनापति बड़े भावुक कवि थे। उक्ति वैशिष्ट्य में आपका मुकाबला बिरला ही था। इनकी भाषा भावपूर्ण होने से प्रभावोत्पादिनी है।

कृष्ण-काव्य

विकास और परम्परा—कृष्ण-काव्य की परम्परा का विकास ईसा की चौथी ी पूर्व ही हो चुका था। व्यास ने महाभारत, हरिवंशपुराण आदि में कृष्ण का किया है। भागवत में गोपियां हैं पर राधा नहीं है लेकन श्रीकृष्ण के साथ एकांत ण करने वाली एक गोपी का उल्लेख अवश्य है। माधव सम्प्रदाय के बाद के ाय विष्णुस्वामी और निम्बांक सम्प्रदाय कहलाये। निम्बार्क सम्प्रदाय में जयदेव न्होंने 'गीत गोविन्द' की रचना की। कृष्णलीला साहित्य मिथिला के विद्यापति बंगाल के चण्डीदास नामक कवि वे भी किया है।

इन कवियों से कृष्णलीला गान की परम्परा का ब्रज भाषा में आने का निश्चित नहीं है परन्तु सूरदास के काव्य में यह यकायक प्रकट नहीं हुई। 'सूरसागर' निश्चित चली आ रही परम्परा का विकास है। कृष्ण-काव्य की यह परम्परा ाप के कवियों में से होती हुई मीरा, रसखान, रहीम आदि में होती हुई वर्तमान चली आ रही है।

सामान्य-प्रवृत्तियां--कृष्ण-काव्य के कवियों ने आचार्यों के सिखाये गए भक्ति ातों पर मधुर पदों की रचना की। इन्होंने कृष्ण और गोपी के प्रेम को आदर्श ाया। इन्होंने युवक और युवती के बीच सहज, सामान्य अनुभूतियों का उद्घाटन ा है। इन प्रवृत्तियों से कृष्णकाव्य में शृंगार का प्राधान्य हो गया और आने वाली पीढ़ी के लिए राह खुल गई।

अधिकतर मुक्तक गीतों में कृष्ण के बाल्यकाल और किशोरावस्था के चरित गाये हैं। कुछ प्रबन्ध रचनाएं भी हैं। भक्तों ने विनय के पद बड़ी ही संजीदगी के साथ हैं। कृष्ण-काव्य में एक प्रकार की रहस्योन्मुखता के भी दर्शन होते हैं।

अष्टछाप और उसके कवि

वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय में भक्तिकाल के अनेक कवियों ने अपनी प्रतिभा प्रदर्शन किया। पुष्टि सम्प्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप के सूरदास आदि आठ कवियों मंडली अष्टसखा नाम से अभिहित की जाती है। विट्ठलनाथ ने अपने चार शिष्यों ाथ आठ प्रसिद्ध कवियों की मंडली की स्थापना की। उनके आशीर्वाद से ही ये अष्ठछाप सम्प्रदाई कहलाये। इनके नाम इस प्रकार हैं—

१. **सूरदास**—सूरदास भक्तिकाल के एक ऐसे कवि हैं जिनका वात्सल्य और ार, भाषा और अलंकार, भाव प्रवणता और तन्मयता, मूर्तिमत्ता और अभिव्यक्ति प्रसन्नता पर पूर्ण अधिकार है। सूरदास के अन्वेपन और जन्म के विषय में अनेक ाद हैं।

साहित्य क्षेत्र में सूरदास ने कृष्णभक्ति के पदों के साथ-साथ कृष्ण की लीलाओं को अपने काव्य का विषय बनाया है। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूरदास बेजोड़ हैं। इन्होंने शृंगार और वात्सल्य का चित्रण जितना अपनी बंद आंखों से किया है उतना हिन्दी साहित्य का अन्य कोई कवि नहीं कर सका है। राधा और कृष्ण के वर्णन बड़े सुन्दर बन पड़े हैं—

'बूझत स्याम कौन तू गौरी'

भाषा और वाक्-चातुर्य सूर का बड़ा ही अनूठा है। सूरसागर का भ्रमर गीत प्रसंग इस क्षेत्र के लिए विशेष उल्लेखनीय है। सूरसागर के अतिरिक्त सूरदास ने अन्य ग्रन्थों की भी रचना की है। शृंगार और वात्सल्य के अन्तर्गत इन्होंने कुछ विनय के पदों की रचना की है। कहते हैं कि सूर की रचना व्रज भाषा का शृंगार है। गोपियों का विरह-वर्णन सूर ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग में प्रस्तुत किया है। सूर की कविता भक्ति काल की श्रेष्ठ कविता है—

नन्ददास—ये गोस्वामी तुलसीदास के चचेरे भाई बताये जाते हैं। यह एक स्त्री पर आसक्त हो गए थे। इनका नाम सूरदास के बाद ही आता है। अपनी बहुमुखी प्रतिभा, सरस कविता और कोमलकांत पदावली के कारण इनकी कविता को विशेष सम्मानीय स्थान प्राप्त है। इनकी कविता व्रज भाषा में है।

नन्ददास के लगभग १६ ग्रन्थ हैं। इनमें रास पंचाध्यायी को ही साहित्यिक महत्व प्राप्त है। सिद्धांत पंचाध्यायी का महत्व भक्ति सिद्धांतों की दृष्टि से है। नन्ददास की रचना जायसी की भांति दोहे और चौपाइयों में भी है। नन्ददास में भक्त और शृंगारी कवि दोनों का समन्वित रूप देखने को मिलता है। इनमें अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पद-विन्यास आदि की प्रवृत्ति भी मिलती है। अनुप्रासिकता, लाक्षणिकता और चित्रोपमता इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। सूरदास के भ्रमरगीत और नन्ददास के भ्रमर गीत दोनों का विषय एक ही है पर इनमें तर्क और बौद्धिक गुणों की प्रधानता है और सूर में रसानुभूति है।

"प्रेमी ढूंढत में फिरौं, प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी कौं प्रेमी मिलै, तब सब विष अमृत होइ।"

कबीर की प्रेम-साधना में गुरु और साधु-जन से बढ़कर और कोई सहायक नहीं

'सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उदगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावता हार॥'
"मेरे संगी होइ जणां एक वैष्णों एक रांम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥"

कबीर घायल हैं। उनका जी प्रिय राम से मिलने को तरसता है, बिना र मिले उनका मन अधीर है, बेचैन है। ऐसा ही घायल, प्रिय-मिलन को उत्कण्ठित कबीर खाजते हैं—

"बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै पिव मिलन को मन नाहीं विश्राम॥"
"सारा सूरां बहु मिलै, घायल मिलै न कोइ।
घायल ही घायल मिलैं सब राम भगति दृढ़ होइ॥"

प्रिय-मिलन आसान नहीं है। उसके लिए भारी पीड़ा सहनी पड़ती है प्रतीक्षा करनी पड़ती है, धैर्य रखकर मार्ग पर सतत् प्रयत्नशील रहना पड़त कबीर के तो—

"अंखड़ियां झाईं पड़ी पंथे निहारि-निहारि।
जीभड़यां छाल्या पड्या पीड पुकारि पुकारि॥"

काम, क्रोध और तृष्णा का परित्याग कर संसार से विमुख होना पड़ता है

"जन को काम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिष्णा न जावै।

"मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागै है मोर ॥"

इसीलिए कबीर 'ममता' त्यागने के लिए प्रेमी को चेतावनी देते हैं—

"मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल विनास।
मेरी पग का पैंखड़ा, मेरी गल की पास ॥"

प्रेम-रस या राम-रसायन का पान करने के लिए अपने सिर का बलिदान करना होता है, 'आपा' मिटाना होता है। राम रूपी कलाल भी यहीं पर अपना सिर अर्पित करने वालों को ही उस रस का पान करने का सुयोग मिलता है। कबीर ऐसे मुश्किल से मिलने वाले प्रेम के प्याले को पीने के लिए किसी भी कीमत पर तैयार हैं। वे कोई भी वेष धारण कर सकते हैं, सिर अर्पित कर सकते हैं, उन्हे किसी प्रकार का भय और हिचक नहीं है।

"जिहि जिहि भेजां हरि मिलें, सोइ सोइ भेष कराउं"

प्रिय से मिलने के लिए इन्द्रिय रूपी घोड़ों को विषयों की ओर दौडने से लगाम देनी पड़ती है अन्यथा ये घोड़े पथ से भ्रष्ट कर खड्ड में डाल देते हैं और सब किया-कराया चौपट हो जाता है। प्रेमाङ्कुर उगाकर उसे सतत प्रयत्न से सींचना पड़ता है। प्रेम कोई यों ही उगा हुआ बरसाती घास का पौधा नहीं है जो क्षणिक प्रयास की वर्षा से अभिवृद्ध होकर प्रिय-मिलन का पुष्प दे सके। यह तो सांसारिक प्रलोभनों से विमुख संजग साधक के द्वारा विषय-वासनाओं के पशु-पक्षियों से बचाया हुआ, राम-नाम के ध्यान रूपी जल से सींचा हुआ, साधु-समागम के खाद से अभिवृद्ध वृक्ष है जो अकथनीय, स्वयंवेद्य मधुर स्वाद युक्त ईश्वर-साक्षात्कार रूपी फल प्रदान करता है।

"चित्ता चित्ति निवारिये, फिरि बूझिये न कोइ।
इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ ॥"

प्रेम-मार्ग पर चलकर छल-कपट नहीं निभ सकता क्योंकि प्रेम में वास्तविकता नहीं रहती। प्रेम-मार्ग धुंधला पड जाता है। साथ ही दृढ़ विश्वास होना चाहिए। विश्वास प्रेम की भूमि है। विश्वास ही प्रेम और प्रिय की स्थिति का प्रमाण है।

"जिनि गाया विश्वास सूं तिन राम रह्या भरपूर।
कहु कबीर जानैंगा सोइ, हिरदे राम मुख रामैं होई।"

कुल-मर्यादा और लोक-लज्जा दोनों प्रेम के अन्तराय हैं। इन दोनों का बन्धन छोडकर ही प्रेम-मार्ग पर चला जा सकता है। सभी प्रेमियों ने इस बन्धन को छोडा है। कबीर के समान मीराबाई और तुलसीदासजी ने भी कुल-कानि और लोक-लज्जा छोड़ने की बात कही है। तुलसीदासजी ने मीराबाई को संदेश या सुझाव दिया था—

"जाके प्रिय न राम बैदे ही।
तजिय ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।"

"तुलसी सौं सन भांति परमहित पूज्यप्रानते प्यारो।
जातें होइ सनेह राम पद, एतै मतौ हमारो ॥"

वह प्रिय किसी कुल का नहीं है। जो उसे प्रेम भाव से भजता है उ
मिलता है। उसके मिलने पर कुल को गौरव ही मिलता है। इसीलिए इस बन्ध
तोड़कर प्रिय को पाने का प्रयत्न करना चाहिए—

"कुल खोया कुल ऊबरै, कुल राख्यां कुल जाइ।
राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ॥"

कबीर निष्काम प्रेम को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। राम से प्रेम किसी काम
नहीं करना चाहिए। कबीर ने प्रेम-साधना में मनुष्य के लिए नारी का बहु
अन्तराय बतलाया है, साथ ही पुरुष को भी नारी की प्रेम-साधना में अन्तराय क
है। अतः दोनों को निष्काम होकर ही प्रेम-मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए—

"नर नारी सब नरक हैं, जब लग देह सकाम।
कह कबीर तें राम के, जे सुमिरैं निहकाम।"

कबीर सकाम प्रेम और निष्फल प्रेम दोनों से एक ही अर्थ लेते हैं।
से किया हुआ प्रेम पवित्र नहीं रहता, क्योंकि काम का सम्बन्ध इच्छा से है, इ
सम्बन्ध मन से है, इच्छाओं से चंचल बने मन से प्रेम-राज्य की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण
रह सकती। सच्चे प्रेमी को प्रेम के बदले किसी सिद्धि की कामना नहीं होती। प
में प्रिय के गुण तो पीछे रह जाते हैं और प्रेमी की दृष्टि फल पर रहती है।

"जब लागि भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूं मिलै, निहकामी निज देव॥"

होना ही प्रेम का मूल है। तब प्रेमी को सांसारिक आकर्षण नहीं लुभा सकते। उसका 'आपा' मिट जाता है, उसमें आत्म-समर्पण के भाव का उदय होता है, वह प्रियमय हो जाता है—

"मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मेरा।"

३. प्रेम की कसौटी—प्रेम की सबसे बडी कसौटी यह है कि हृदय में प्रेम का प्रकाश होता है जिससे संशय लुप्त हो जाता है, अनन्त योग हो जाता है। दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है—

"प्यंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत॥"

प्रेमी का मन-स्थिर हो जाता है—

"राम चरन जाके हिरदै बसत हैं, ता जन को मन क्यूं डोले।"

हरि-प्रेमी को सर्वत्र सुख मिलता है, माया का जादू फिर उस पर नहीं चलता। उसका मोह-ताप मिट जाता है। उसे दिव्य शीतलता का अनुभव होता है। सारी कुटिलता और चंचलता छोडकर मन सरल हो जाता है। वह प्रिय में समरस हो जाता है। यही प्रेम का सबसे बड़ा फल है—

कबीर दिल स्यावति भया, पाया फल संम्रथ्थ।"

'पर' 'स्व' में विलीन हो जाता है अर्थात् जिसे दूसरा समझते थे वह प्रेम के परिपक्व होने पर अपना हो जाता है, दूसरा और स्वयं प्रेमी एक हो जाते हैं—

"जा कारणि में जाइ था, सोई पाई गैर।
सोई फिरि आपण भया, जासूं कहता और॥"

प्रेम-धन के बरसने से अंग-प्रत्यंग सरस हो जाते हैं—

बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग।

प्रेम-रस से भीतर-बाहर सर्वत्र सरसता छा जाती है—

"कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई अनराइ॥"

प्रेम की उपस्थिति में अन्य इच्छाओं का निराकरण हो जाता है। हृदय विमल हो जाता है। प्रेम की प्यास कभी बुझती नहीं है अपितु नवीन बनी रहती है।

"तन मन जोबन भरि पिया, प्यास न मिटी सारि।"

पावन प्रेम का स्वरूप दिव्य है जो लौकिक वाणी से व्यक्त नहीं हो सकता। उसके प्रकाश से वाणी से मधुरता टपकने लगती है।

"प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुखि कसतूरी महमहीं, वाणी फूटी बास॥"

दूसरी को ही वे प्रेम कहते हैं। जगत कहने-सुनने में काल के गर्त में चला जा रहा है। प्रेम काल से निर्भय बना देता है जबकि विषय दृष्टि पर पर्दा डाल देते हैं परन्तु कबीर सजग हैं—

"कहत सुनत जग जात है, विषै न सूझै काल।
कबीर प्यालै प्रेम कै, भरि भरि पिवै रसाल॥"

सम्पूर्ण संसार अज्ञान की निद्रा में अचेत है लेकिन सन्तों को अपनी सत्ता का ज्ञान है इसलिए वह जगा हुआ है। संसार भूल जाता है कि काल सिर के ऊपर खड़ा हुआ है जो दरवाजे पर आये दूल्हा के समान जीवात्मा के प्राणों का अपहरण किये बिना नहीं लौट सकता।

"सब जग सूता नींद भरि, सन्त न आवै नींद।
काल खड़ा सिर ऊपरै, ज्यूं तोरणि आया बींद॥"

कबीर जीव को चेतावनी देते हैं और कहते हैं कि हे जीव! तू आज तो यह कहता है कि ईश्वर का स्मरण कल करूंगा और कल होने पर परसों से स्मरण करने का निश्चय करता है। इस प्रकार आज-कल के करते-करते सम्पूर्ण जीवन ही नष्ट हो जायगा और तू कभी भी ईश्वर का स्मरण नहीं करेगा–

"*आज कहै हरि काल्हि भजौंगा, काल्हि कहै फिर काल्हि।*
आज ही कालि करंतड़ां, औसर जासी चालि॥"

प्रेम जीवन की एक जन्मजात प्रवृत्ति है जो आदि मानव में भी मिलती थी और आज हम में भी है। मनुष्य ही नहीं, मानवेतर प्राणियों में भी यह प्रवृत्ति प्रलक्षित होती है। मनुष्य मनुष्य से तो प्रेम करता ही है, मनुष्येतर प्राणियों और वस्तुओं से भी प्रेम करता है और सबसे अधिक प्रेम वह अपने आप से करता है, इसीलिए कदाचित् 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की बात चल निकली है। मनुष्य आत्म-सम्मान और आत्म गौरव की रक्षा के लिए अपने प्राण भी निछावर कर देते हैं। कभी कभी मनुष्य दूसरों के हित के लिए भी अपने प्राण निछावर कर देते हैं, अनेक देश-भक्तों के बलिदानों से इतिहास भरा पड़ा है।

जाता है क्योंकि—'एकै साधे सब सधें, सब साधै सब जाहि।' कबीरदासजी उन लोगों से भी दूर रहने के लिए कहते हैं जो हरि-विमुख हैं क्योंकि वे स्वयं तो डूबते ही हैं, दूसरों को भी ले डूबते हैं—

"जे नर भये भगति थैं न्यारे, तिनथैं सदा डराते रहिये।

× × ×

आपड़ बूडें और कौं बोडें, अगनि लगाई मंदिर में सोवें॥

प्रेम-विरह—कबीर का प्रेम क्षेत्र बहुत व्यापक है। उनकी साम्य-भूमिका प्रेम पर ही आधारित है। वे तो कहते हैं—"जाति पांति पूछै नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि को होई।' इसी एक सुदृढ़ आधार पर वे सबको खड़ा देखना चाहते हैं। उनको प्रेम की शिक्षा मूलतः पीड़ित समाज ने दी थी। कबीर का युग एक व्यापक तथा गम्भीर संघर्ष का युग था। हिन्दु और मुस्लिम संस्कृति का संघर्ष तो तीव्र और ध्रुव था ही, इसके सिवा हिन्दू समाज के भीतर संघर्ष, हिन्दू और मुस्लिम संघर्ष से बहुत पहले ही आरम्भ हो चुका था। हिन्दू समाज के भीतर सामाजिक संघर्ष भी था, धार्मिक संघर्ष भी था और दार्शनिक संघर्ष भी था। यहां विस्तार-भय से इस पर प्रकाश नहीं डाला जायगा। शूद्रों के क्षोभ से कबीर की आत्मा तिलमिला उठी, उसने वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध आवाज लगाने कबीर को विवश कर दिया। उन्होंने बिना किसी भेद-भाव के निष्पक्ष होकर मानव-जाति के उद्धार का एक ही सीधा मार्ग बतलाया जिस पर सबको चलने का अधिकार दिया। वह था प्रेम का मार्ग।

सत्य और अहिंसा ने कबीर को प्रेम की अमोघ शिक्षा दी है। भक्तों के संसर्ग ने उस प्रेम को आध्यात्मिकता और सूफियों के संसर्ग ने आध्यात्मिकता के साथ प्रेम की तीव्रता प्रदान की। कबीर का प्रेम विरह की स्थिति में प्रकृष्ट उत्कर्ष प्राप्त करता है। विरह के अनेक उदाहरणों से वे अपनी विविध अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। 'विरह को अंग' ऐसी अभिव्यक्तियों से आपूर्ण है। कबीर का ईश्वर का विरह 'प्रेम' की एक ऐसी अवस्था है जो उनको भक्तों और सूफियों दोनों से जोड़ देती है। वे विरह के कण-कण को प्रेम-सिक्त देखते हैं। उनके प्रेम-सागर में भारतीय प्रेम की उदात्त तरंगें और सूफी-विरह की गहराई दोनों एक साथ दीख पड़ती हैं।

दुख का मूलः—प्रेम का अभाव सारे दुखों का कारण है। प्रेममय जीवन ही जीवन है। प्रिय-प्रेम के बिना रागेहिक दाह से अन्तर जलता रहता है। बिना प्रेम के संसार में जीना उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार सूने घर में जाना व्यर्थ है—

"कबीर प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव।
सूनें घर का पाहुणां, ज्यूं आया त्यूं जाव॥"

बिना प्रेम के मनुष्य की गति नहीं होती। प्रेम भी एक ईश्वर के प्रति होना चाहिए। जो मनुष्य एक परमात्मा को छोड़ 'अनेकों' से प्रेम करते हैं, वेश्या के पुत्र के समान उसका कोई आश्रयदाता नहीं होता, उसकी गति नहीं होती। उसमें अस्थिरता, अशान्ति रहती है, परन्तु जो एक परमात्मा की शरण जाते हैं, उन्हें भय नहीं रहता —

"कबीर तो काहे डरै, सिर परि हरि का हाथ।
हस्ती चढ़ि नहीं डोलिए, कूकर भुसैं जु लाख॥"

एक परमात्मा की भक्ति के बिना मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता है। कबीर अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मैंने शान्ति का उपाय अनेकों से पूछा, मैं जगह-जगह घूमा, दुख सहे परन्तु एक ईश्वर की शरण जाये बिना मुझे कहीं शान्ति न मिल सकी—

"सबकूं बूझत मैं फिरौं, रहण कहै नहीं कोइ।
प्रीति न जोड़ी राम सूं, रहण कहां थै होइ॥"

सब इस संसार से ऊबकर दूर जाना चाहते हैं सुख की आशा से, किन्तु राम के परिचय के बिना वे जायें कहां? वे कहीं जाते हैं तो लौटना ही पड़ता है। केवल हरि को प्रसन्न करके ही संसार के दुखों से छूट सकते हैं। अतः हरि-भक्ति अनिवार्य है-

"चलो चलो सबको कहै, मोहि अंदेसा और।
साहिब सूं पर्चा नहीं, ए जांहिगे किस ठौर॥"

इसीलिए कबीरदास जी कहते हैं कि हरि-भक्ति के बिना मानव जीवन व्यर्थ है-

"जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, पुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम॥"

इन्द्रियों के विषय मनुष्य को प्रेम-पथ से भ्रष्ट कर देते हैं और हरि रूपी हीरा हाथ से निकल जाता है—

"भगति बिगाड़ी कामियां, इन्द्री केरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ थै, जनम गंवाया वादि॥"

इसीलिए कबीर चेतावनी देते हैं कि काम-वासनाओं की ओर उन्मुख होने वाले मनुष्य का कहीं भी ठिकाना नहीं रहता—

"कबीर कहता जात हौं, चेतै नहीं गंवार।
वैरागी गिरही कहा, कांमी वार न पार॥"

कबीर को हरि-प्रेम का अभाव बहुत अखरता है। उन्होंने मनुष्यों को दूर करने का एकमात्र राम-नाम ही आधार है। इसी एक के साधने से सब

जाता है क्योंकि—'एकै साधे सब सधै, सब साधै सब जाहि।' कबीरदासजी उन लोगों से भी दूर रहने के लिए कहते हैं जो हरि-विमुख हैं क्योंकि वे स्वयं तो डूबते ही हैं, दूसरों को भी ले डूबते हैं—

"जे नर भये भगति थै न्यारे, तिनथैं सदा डराते रहिये।

× × ×

आपड़ बूड़ें और कौं बोडें, अगनि लगाई मंदिर में सोवें॥

प्रेम-विरह—कबीर का प्रेम क्षेत्र बहुत व्यापक है। उनकी साम्य-भूमिका प्रेम पर ही आधारित है। वे तो कहते हैं—"जाति पांति पूछै नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि को होई।' इसी एक सुदृढ़ आधार पर वे सबको खड़ा देखना चाहते हैं। उनको प्रेम की शिक्षा मूलतः पीड़ित समाज ने दी थी। कबीर का युग एक व्यापक तथा गम्भीर संघर्ष का युग था। हिन्दु और मुस्लिम संस्कृति का संघर्ष तो तीव्र और क्षुब्ध था ही, इसके सिवा हिन्दू समाज के भीतर संघर्ष, हिन्दू और मुस्लिम संघर्ष से बहुत पहले ही आरम्भ हो चुका था। हिन्दू समाज के भीतर सामाजिक संघर्ष भी था, धार्मिक संघर्ष भी था और दार्शनिक संघर्ष भी था। यहां विस्तार-भय से इस पर प्रकाश नहीं डाला जायगा। शूद्रों के क्षोभ से कबीर की आत्मा तिलमिला उठी, उसने वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध आवाज लगाने कबीर को विवश कर दिया। उन्होंने बिना किसी भेद-भाव के निःसंकोच होकर मानव-जाति के उद्धार का एक ही सीधा मार्ग बतलाया जिस पर सबको चलने का अधिकार दिया। वह था प्रेम का मार्ग।

वहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूं, मन नाहीं विश्राम॥"

इन साखियों से स्पष्ट है कि राम के साथ कबीर का मानसिक मिलन सदैव रहता है। यहीं 'दूरि सो नियरे' की उक्ति चरितार्थ होती है।

कबीर की विरह-भावना यों तो अनेक स्थितियों में प्रकट हुई है किन्तु विरहिणी की स्थिति में उसका उत्कर्ष विशेष रूप से द्रष्टव्य है। कबीर ने 'आरोप' भावना का आश्रय लिया है "मैं राम की वहुरिया' में उनकी यही आरोप-भावना स्पष्ट है। विरह की अनेक अवस्थाओं का कबीर ने अपने में आरोप किया है। बिहारी आदि रीति-कालीन कवियों की नायिकाओं में भी विरह की ऐसी अनेक अवस्थाओं का चित्रण मिलता है। कबीर की आध्यात्मिक विरहिणी की अवस्था तक जायसी की नागमती नहीं पहुँच सकी है। कबीर की एक साखी विरहिणी की दयनीय दशा इस प्रकार प्रस्तुत करती है:—

"अंषड़ियां झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि॥"

यहां ऊहा विरह की आसक्ति और तीव्रता को व्यक्त करती हुई विश्वसनीयता की सीमा का उल्लघंन नहीं करती जवकि जायसी के शब्दों में उस सीमा का उल्लंघन करती हुई प्रकट होती है--

"सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥"

गीता में भी संयमी की दशा का ऐसा ही वर्णन हुआ है। संयमी सांसारिक विषय भोगों की ओर से उदासीन रहता है जब कि साधारण व्यक्ति उनमें आसक्त रहते हैं। और जिस ईश्वर प्राप्ति के लिए संयमी जागता रहता है, प्रयत्नशील रहता है उसी की ओर से साधारण व्यक्ति उदासीन रहते हैं--

"या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" —गीता।

कबीर की विरहिणी आत्मा ईश्वर के वियोग में रात भर उसी प्रकार रोती है जिस प्रकार माता क्रौंच अपने बच्चों के वियोग में रोती रहती है। कबीर के हृदय में विरह की तीव्रता से परम-ज्योति प्रकाशित हो गई है--

कवीरदास ने विरह का मानवीकरण करते हुए बतलाया कि विरह मेरे शरीर की तंत्री बना कर और नसों को उसके तार बना कर प्रतिदिन वजाता है जिसकी आवाज मेरा मन या प्रियतम ही सुन सकता है--

"सब रग तंत रलाव तन, विरह बजावै नित्त ।"

कवीर की आत्मा एक विरहिणी की भांति राम के दर्शनों के लिए वारवार उठती है जो विरहजनित दुर्बलता के कारण गिर गिर पड़ती है। विरह सहने की भी एक सीमा होती है, अधिक दुखी होकर वह कह उठती है--

"मुवां पीछें देहुगे, सो दरसन किहि काम ।"

इतना ही नहीं, वह जायसी को विरहिणी की तरह अपने शरीर को जला कर भस्म करने पर उतर आती है--

"यहु तन जालौं मसि करूं, ज्यूं धुवां जाइ सरगि ।
मति वै राम दया करै, वरसि बुझावैं अग्गि ॥"

कवीर की प्रेमानुभूति के दो क्षेत्र हैं। वे निर्गुणोपासक हैं किन्तु उनका निर्गुण प्रेम कहीं-कहीं सगुण प्रेम परम्परा की धारा में वहा चला गया है। भारतीय भक्ति में भावना के ऊपर साधना का सिक्का कहीं नहीं जमाया गया। "कंवल कुवां में प्रेम रस पीवै वारम्वार" 'कंवल-कुवां' के प्रेम-रस का साधना से विशेष सम्वन्ध है। कवीर ने नाथ पंथ और सूफी प्रेम-साधना एवं अन्य सम्प्रदायों में से सार लेकर अपने ढंग से प्रेम-परम्परा प्रवाहित की थी जो अब तक चली आ रही है।

कवीर की आध्यात्मिक प्रेम-साधना में अहिंसा का स्थान वहुत ऊंचा है। वे मानव मात्र और जीव मात्र दोनों के प्रेमी हैं। कवीर का प्रेम वर्ण, वर्ग, देश आदि के भेद से ऊपर है। उसे विश्व-प्रेम के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

१०

सूफी मत और जायसी

१. सामान्य परिचय
२. सूफी मत का उद्भव
३. सूफी काव्यों की प्रवृत्तियां—
[i] प्रेम, संयोग और वियोग
[ii] भाषा, भाव और अलंकार
४. सूफी काव्य परम्परा
५. जायसी का स्थान
६. उपसंहार

भारत में मुसलमानी शासन स्थापित होने के साथ ही साथ धार्मिक संघर्ष को वल मिला। इतिहास वताता है कि एक नहीं अनेक वार हिन्दुओं को इसलाम और मृत्यु में से एक को चुनना पड़ा। इस प्रकार की परिस्थितियों में कुछ लोग ऐसे भी थे जो दोनों धर्मों को एकता के सूत्र में वांधना चाहते थे। शेरशाह ने हिन्दुओं के प्रति उदारता और सहिष्णुता का भाव अपनाया। अनेक साधारण मुसलमान ऐसे थे जो एक ओर तो सूफी धर्म में विश्वास जमा वैठे थे और साथ ही हिन्दू धर्म को विश्वास की निगाहों से देखते थे। प्रेम-काव्य उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा निर्मित हुआ।

सूफी मत का उद्भव—सूफी मत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित मत प्रचलित हैं—

१. 'सूफ' शब्द 'सफ' से निकला है जिसका अर्थ अग्रिम पंक्ति होता है। कयामत के अवसर पर जो सदाचार पवित्रता में अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करता है वही उस अग्रिम पंक्ति में वैठता है और अग्रिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति सूफी कहलाते हैं।

२. सूफी वस्तुतः स्वच्छ और पवित्र होते हैं और सफा होने के कारण सूफी कहलाते हैं।

३. कुछ लोगों का विश्वास है कि मदीना में मसजिद के सामने एक सुफ्फा (चवूतरा) था, उसी पर जो लोग वैठते थे वे सूफी कहलाए।

४. एक विद्वानों के वर्ग का मत है कि सूफी शब्द सोफिया या ज्ञान व रूपान्तर है। ज्ञानातिरेक के कारण ही ये लोग सूफी कहलाये।

५. एक मत और भी है और वह मत यह है कि सूफी शब्द का सम्बन्ध ऊन से है। कहा जाता है कि पहिले सूफी लोग मोटा कपड़ा धारण करते थे जो सूफी यानी ऊन कहलाता था। यह सम्भवतः ईसाइयों का अनुकरण था। जो संसार में वैराग्य धारण कर मोटा कपड़ा पहन कर सन्यास धारण करते थे। इनके आचरण में किसी प्रकार की अपवित्रता न थी, बिलकुल सीधा-सादा था। इस रहन-सहन से यद्यपि इनकी निन्दा भी हुई, किन्तु उन्होंने इस निन्दा की परवाह ही न की। यह तर्क कुछ संगत जान पड़ता है और इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूफी शब्द मूलतः अरब और ईराक के उन व्यक्तियों का संकेत देता है जो मोटे ऊनी वस्त्रों का चोगा शरीर पर धारण करते थे। इनका जीवन विरक्तों जैसा था।

इतिहास के अध्ययन से विदित होता है कि सूफी मत का सम्बन्ध इस्लाम से है। यद्यपि अनेक सूफी लोग ऐसे निकले जिन्होंने अपने-आपको मुहम्मद के सिद्धान्त और मत से पृथक रखा फिर भी कुछ न कुछ किसी न किसी अंश में आ ही गया। ये मुसलमानों की अपेक्षा कोमल प्रकृति के जीव थे। कुछ सूफ़ियों की मान्यता है कि सूफी मत का आदम में बीजवपन हुआ, नूह में अंकुर जमा, इब्राहीम में कलिका खिली, मूसा में विकास हुआ, मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम।

इस मत को ध्यान से देखने से स्पष्ट होता है कि मुसलमानों के पतनोपरान्त मसीहियों का विकास हुआ तथा ये लोग सूफी मत को अपनी ओर खींचने लगे। वास्तव में ऐसा न हो सका क्योंकि इन दोनों में अन्तर है। मसीह का मूलमन्त्र विराग है जबकि सूफी मत के मूल में प्रेम का निवास है। अतः मसीह मत को सूफी मत का मूल नहीं कहा जा सकता। मसीह मत में जो प्रेम का भाव देखा जाता है वह सूफी मत का प्रभाव है।

सूफी मत का आदिम स्रोत ढूंढने के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि इस मत में कौन-कौन-सी बातें थीं। यह जान लेने से इनके आदिम स्थल का पता लग सकता है। सूफी मत की मूल भित्ति रति भाव था जिसका विरोध शामी जाति द्वारा किया गया। मूसा और मोहम्मद साहब ने संयत योग की अनुमति दी और इसका विधान भी किया। मूसा ने प्रेम का लौकिक स्वरूप अपनाया और प्रवृत्ति मार्ग का समर्थन किया। सूफी इश्क मजाजी को इश्क हकीकी की पहली सीढ़ी मानते हैं। सूफियों के इलहाय और हाल की दशा का मूल भी शामी जातियों में मिलता है किन्तु वे लोग रतिक्रिया को घृणा की दृष्टि से देखते थे अतः नवी सन्तान कहलाये। शामियों की मूर्तिचुम्बन की परम्परा सूफियों में बोसे और वस्ल के रूप में प्रचलित हुई।

यहोवा के आविर्भाव से नवी मत के मानने वालों की प्रतिष्ठा को धक्का लगा किन्तु यह कदापि विस्मरणीय नहीं है कि सूफी मत उनका प्रसार नहीं था। यहोवा ने रतिक्रिया से दूर रहने की काफी चेष्टा की, पर यहोवा के मन्दिरों में देवदासों और देवदासियों के रूप में प्रेम का वह स्रोत वह निकला। प्रेम की यह दशा सुलेमान

आदि के गीतों में फूट पड़ी और सूफियों ने भी लौकिक से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति का प्रसार किया। इस प्रकार सूफी मत के उद्‌भव के मूल में इस्लाम धर्म से पूर्व प्रचलित सूफियों ने भी लौकिक से अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति का प्रसार किया। इस प्रकार सूफी मत के उद्‌भव के मूल में इस्लाम धर्म से पूर्व प्रचलित शामी जाति के धर्म का भी स्पष्ट प्रभाव है। मुहम्मद साहब ने इस्लाम से शामी जातियों में नवीन रक्त का संचार किया। इस्लाम के उदय से पूर्व ही सूफी मत अपना विकास पा चुका था।

भारत में सूफी मत का सूत्रपात बारहवीं शताब्दी में हुआ। मुहम्मद साहब के भारत आते ही सूफी मत ने अपने पोषण के लिए बहुत से तत्व भारत से लिये। भारतीय वेदान्त ने सर्वाधिक रूप से इस मत को प्रभावित किया। वेदान्त का प्रभाव ग्रहण करके सूफियों ने अपना स्वतन्त्र विकास किया और इसी में कुरान के सात्विक सिद्धान्तों का समाहार भी इसके अन्तर्गत कर लिया गया। सूफी मत को हठयोगियों ने भी प्रभावित किया। योगियों की प्राणायाम पद्धति को अपना कर सूफियों ने जैसे अपने को धन्य समझा।

बारहवीं शताब्दी में ख्वाजा मुईद्दीन चिश्ती के आविर्भाव से ही सूफी मत का सूत्रपात मानना चाहिए। इनके पश्चात भी १५वीं सदी तक कई और सूफी सम्प्रदाय की सृष्टि हुई। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इसके सम्बन्ध में कुछ और भी लिखा है उनकी दृष्टि में इसका श्रेय प्रसिद्ध अल्हुज्वरी को है। ये अल्हज्वरी साहब भी १२वें शताब्दी में ही भारत आये। उन्होंने सूफी मत के सिद्धान्तों का विश्लेषण और विवेचन करने के लिए एक पुस्तक 'कुश्फुल महफूब' लिखी। आइने अकबरी में जिन १४ सम्प्रदाय का उल्लेख है, उनमें से प्रमुख सूफी सम्प्रदाय ये हैं—कादरी सम्प्रदाय, सुहरावर्दी सम्प्रदाय, नक्शबंदी तथा चिश्ती सम्प्रदाय। इनमें चिश्ती सम्प्रदाय को विशेष ख्याति मिली और इसी से सूफी मत को बहुत बढ़ावा मिला। अतः स्पष्ट है कि भारत में सूफी मत का प्रचार १०वीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गया था। १२वीं शताब्दी में विकास हुआ और १६वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के ह्रास के साथ ही इसका पतन प्रारम्भ हुआ। सूफी मत के सिद्धांत की विवेचना इस सम्प्रदाय के कवियों ने लोकप्रिय प्रेम-गाथाओं के माध्यम से की। इस मत का प्रमुख तत्व प्रेम तत्व है। प्रेम के द्वारा ही सारी सृष्टि का रहस्य समझा जा सकता है। प्रेम की पीर से जर्जरित तन ही अपना अस्तित्व सफल करता है किन्तु प्रेम का मार्ग जितना सुन्दर और आनन्दमय है उतना ही कंटकाकीर्ण भी।

सूफी काव्यों की सामान्य प्रवृत्तियां—कबीर आदि निर्गुनिये कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच की दरार को पाटने का कार्य किया किन्तु सूफी साधकों ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों जातियों में सांस्कृतिक एकता का भी स्तुत्य प्रसार किया। विद्वानों के मतानुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि एकता के इस प्रचार और प्रसार कार्य में सूफियों का और उनके प्रयत्नों का ही महत्व अधिक है। सूफी कवि उस निर्गुण निराकार

भगवान की उपासना करते थे जो अनन्त प्रेम का आगार है। धार्मिक प्रतिवन्धों के कारण सूफी कवियों ने लौकिक प्रेमाख्यानों की सहायता से ईश्वर-प्रेम की अभि-व्यंजना की। इनके जो प्रेमाख्यान हैं उनमें ऐतिहासिकता का अभाव है। इसका कारण स्पष्ट है—ये लोग इनका प्रयोग अलौकिक प्रेमाभिव्यंजन के लिए करते थे। सूफियों के प्रेमाख्यान विशेषतः हिन्दू समाज के लिए लिखे गये हैं तथा हिन्दू जीवन के प्रति सहानुभूति भावना भी प्रस्तुत करते हैं। इनकी प्रेम-गाथाओं की निम्न विशेषताएं हैं:—

१. प्रेममार्गी सूफी कवियों की गाथाओं का प्रणयन भारतीय चरित काव्यों की सर्गवद्ध शैली में नहीं हुआ वल्कि फारसी की मसनवी शैली के ढंग पर हुआ है। मसनवी शैली के आधार पर कथारम्भ में ईश्वर वन्दना, मुहम्मद साहव की स्तुति, शाहेवक्त की प्रशंसा तथा आत्म-परिचय आदि का उल्लेख मिलता है। सूफी सम्प्रदाय के प्रमुख कवि जायसी के पद्मावत को इस बात के उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है। सूफियों ने इसके अतिरिक्त भारतीय कथाओं में प्रयुक्त कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों ने प्रायः उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती रही हैं, जैसे—चित्रदर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुन कर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों की वातचीत से भावी घटनाओं का संकेत पाना, मन्दिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना इत्यादि।" द्विवेदीजी ने यह भी लिखा है कि सूफी काव्य में कुछ ईरानी साहित्य की रूढ़ियां भी प्रयुक्त हुई हैं, जैसे—प्रेम-व्यापार में परियों और देवों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियों का प्रेमियों को गिरफ्तार करा लेना आदि।

२. सूफियों के काव्य में प्रेम-गाथाएं अधिकांशतः हिन्दुओं के घरों की कथाएं हैं। ये परम्परा से प्रचलित कहानियां हैं जिनमें अर्द्ध इतिहास और अर्द्ध कल्पना का पुट है। इतिहास को इन कवियों ने वहीं तक स्वीकार किया है जहां तक वह इनके सिद्धांतों और साध्य में सहायक हुआ है। अतएव इन्होंने हिन्दुओं के घरों की प्रेम-गाथाओं को लेकर काव्य रचना की और उसके द्वारा अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। हिन्दी के कुछ विद्वानों की मान्यता है कि इन सूफी कवियों ने हिन्दू घरों की प्रेम कहानियों के माध्यम से प्रच्छन्न रूप में इस्लाम का प्रचार किया किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि—"इन कवियों ने अपनी रचनाओं में इस ओर कभी कोई संकेत नहीं किया और न इनके कथानकों से लेकर उनके क्रम विकास अथवा अन्त तक भी कोई ऐसा प्रसंग छेड़ा जिससे उनका कोई साम्प्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। यह अवश्य है कि जहां तक घटनाओं की क्रम योजना का प्रश्न है उसे इस प्रकार निभाया गया है जिससे सूफी प्रेम-साधना का भी मेल बैठ गया, परन्तु फिर भी ऐसी बातें अधिक से अधिक केवल दृष्टान्तों के ही रूप में पाई जाती हैं जिस कारण उनमें साम्प्रदायिक आग्रह का भी रहना अनिवार्य नहीं है। इसके सिवा इन प्रेमाख्यानों के

नायक-नायिका, उनके दैनिक व्यापार, वातावरण तथा उनके सिद्धान्त व संस्कृति में भी कोई परिवर्तन नहीं लाया जाता और न कहीं पर यह चेष्टा की जाती कि कथा-प्रवाह के किसी अंश में किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष के महापुरुषों द्वारा कोई मोड़ ला दिया जाय। इनमें प्रसंगतः यदि कोई हिन्दू जोगी, तपी आता है तो ख्वाजा खिज्र भी आ जाते हैं और दोनों लगभग एक उद्देश्य से काम करते पाये जाते हैं।" पद्मावत में हिन्दूओं के आचार-विचार आदि सभी का सुन्दर समन्वय इन कवियों के हाथों हुआ।

३. सूफियों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम है और प्रेम में भी वियोग पक्ष को इतना महत्व दिया गया है जितना सम्भवतः कभी भी किसी ने नहीं दिया। इनकी कविताओं में इनका जितना ध्यान प्रेमी और प्रेमिकाओं के वियोग, उसकी अवधि में झेले जाने वाले कष्टों तथा अन्त करने के लिए विविध प्रयत्नों का वर्णन करने में दिया है उतना उनके अन्तिम मिलन का नहीं। सचाई यही है कि विरह की ज्वाला में तप कर ही प्रेम का कंचन वर्णी रूप निखरता है। विरह के वर्णन में इन्होंने ऋतुओं और बारहमासे-वर्णन भी किया है। हां, इन कवियों ने जिस प्रेम का चित्रण किया है, उस पर विदेशी और भारतीय दोनों शैलियों का प्रभाव है। फारसी साहित्य से प्रभावित इनके वर्णनों में अतिरंजना अधिक है। इन प्रसंगों में इनके द्वारा वर्णित रक्त के आंसुओं की मात्रा कई बार वीभत्सता और अस्वाभाविकता की सीमा का स्पर्श कर गई है।

संयोग अवस्था में कभी अश्लीलता का और कभी-कभी यौगिक क्रियाओं का वर्णन किया गया है। जायसी के पद्मावत में मिलन-प्रसंगों में भी जायसी की उपदेशात्मक और रहस्यात्मक प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो उठी है कि मिलन का सारा आनन्द ही समाप्त हो जाता है। प्रायः सूफी कवियों ने प्रेम की व्याख्या करते समय सौंदर्य के स्वरूप और प्रभावाभिव्यंजन का उल्लेख भी कर दिया है।

४. सूफी कवियों की ये प्रेम-गाथाएं लौकिक से अलौकिक प्रेम की व्यंजना करती हैं। धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण ही सूफी कवियों ने अलौकिक प्रेम की व्यंजना लौकिक प्रेमाख्यानों की सहायता से की है। सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है और आत्मा उसी का अंश है। आत्मा बन्दे के रूप में अपने को प्रस्तुत करती है और बन्दा प्रेम के सूत्र में परमात्मा की प्राप्ति में संलग्न होता है। वस्तुतः इन कवियों की प्रेम-गाथाओं में जो अलौकिक प्रेम है उसमें जीवात्मा और परमात्मा के लिए तीव्र प्रेम और साधक के मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन है।

५. प्रेम-गाथाओं में नायक और नायिकाओं के जीवन का उतना ही अंश चित्रित किया गया है जितने से प्रेम के विविध प्रसंग जुटाये जा सकें और इनकी अभिव्यक्ति विस्तार से की जा सके। प्रबन्ध काव्य के लिए उपयुक्त जीवन की विविधता इन काव्यों में नहीं मिलती है। इन काव्यों में जिन नायिकाओं का वर्णन है या चित्रण है वे सबकी सब एक ही सांचे में ढ़ली ढलाई दिखाई देती हैं। इनमें जीवन के संघर्ष और उत्थान-पतन का इतिहास नहीं वरन् जीवन की एकरसता और विशेषकर वियोग भावना

है। नायकों की स्थिति भी वही ढांचे में ढली ढलाई और पूर्व निश्चित सी प्रतीत होती है। काल्पनिक पात्र भी हैं। संस्कृत साहित्य के नायकों के समान वे बड़े पराक्रमी और प्रेमी हैं जो अपनी प्रियतमाओं की प्राप्ति के लिए बड़े से बड़े संकट को भी मोल ले लेते हैं। सूफी कवि ने अपने नायकों को विभिन्न परिस्थितियों एवं महान कठिनाइयों से निकाल कर अन्त तक निवाह ले जाते हैं।

६. लोक पक्ष एवं हिन्दू संस्कृति से ओत-प्रोत ये प्रेम-गाथाएं अपना शानी नहीं रखती। कबीर आदि सन्तों ने अपने को वैयक्तिक सीमा में अधिक घुमाया-फिराया जबकि सूफी कवियों में वैयक्तिकता के साथ-साथ समष्टि का आग्रह भी है। समष्टि के आग्रह के कारण ही इनके काव्यों में लोक-जीवन का चित्रण है तथा सर्वसाधारण का अन्ध-विश्वास, लोक-व्यवहार, तीर्थ, व्रत, सांस्कृतिक वातावरण आदि बड़ी सफलता के साथ चित्रित किया गया है। प्रेम-काव्यों के इन रचयिताओं ने हिन्दू घराने की प्रेम कहानियां लेकर उनका उनके ही अनुरूप वर्णन किया है। सूफियों ने हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों, रहन-सहन और आचार-विचार का सुन्दर वर्णन किया है। हिन्दू पात्रों में हिन्दू आदर्शों का समावेश है। पद्मावत में रत्नसिंह के गृह-त्याग पर माता-पिता का रोना, पद्मावती का रस-रंग, विदा, समागम, यात्रा, युद्ध, सपत्नी कलह, स्वामीभक्ति, वीरता, अभिसार, पासा खेलना और योग की नौ परियों का वर्णन आदि बातों का वर्णन इस बात की पुष्टि करता है।

७. सूफियों ने अपनी प्रेम-गाथाओं में शैतान को माया का प्रतिनिधि बनाकर प्रस्तुत किया है तथा बताया है कि यह शैतान साधक को साधना मार्ग पर अग्रसर होने से रोकता है। पद्मावत काव्य में राघव चेतन की संयोजना इसी आधार पर हुई है। संत कवि माया को त्याज्य बताते हैं जबकि सूफी कवि इसकी उपस्थिति को आवश्यक समझते हैं क्योंकि इससे साधक की परीक्षा हो जाती है।

८. सूफियों के काव्य में किसी धर्म विशेष का, जाति विशेष का और सम्प्रदाय विशेष का खण्डन नहीं मिलता है क्योंकि इनका ध्यान सांस्कृतिक समन्वय की ओर रहा है।

९. इन प्रेम-गाथाओं में प्रेम की भावना को नारियों के मत्थे मढ़ा गया है और इन्हें परमात्मा का प्रतीक बतलाया है। साधक इसी की प्राप्ति के लिए अनेक संकटों को झेलता हुआ आगे बढ़ता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि "सूफी कवियों ने नारी को यहां अपनी प्रेम-साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है, जिनके कारण वह इनके यहां किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी योग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती है। वह इस प्रकार की साधना सामग्री भी नहीं कहला सकती है जिसमें उसे बौद्ध सहजयानियों ने मुद्रा नाम देकर सहज साधना के लिए अपनाया था। वह इन साधकों की दृष्टि में स्वयं एक सिद्धि बन कर आती है और इसी कारण इन प्रेमाख्यानों में उसे प्रायः अलौकिक गुणों से युक्त भी बतला दिया जाता है।"

१०. इनकी प्रेम-गाथाओं का प्रमुख रस शृंगार है। हां, इसके अतिरिक्त अन्य रसों का वर्णन कम ही किया गया है। वीर, शांत और बीभत्स रसों का समावेश भी हुआ है पर अपेक्षाकृत कम। पद्मावत में वीर, शृंगार और शांत तीन रसों की ही व्यंजना है।

११. सूफी कवियों की गाथाओं में रहस्यवाद का स्वरूप भी बड़ा मधुर और सरस है। संतों की भांति इनकी कविता में शुष्कता और नीरसता से ओत-प्रोत रहस्यवाद नहीं है बल्कि उसका सरस रूप ही है। शंकर के अद्वैतवाद को स्वीकारती हुई भी सूफियों की रहस्य भावना में हृदय की मधुर भावनाओं का विशेष महत्व है। शुक्लजी ने जायसी के रहस्यवाद को कबीर की तुलना में अधिक सरस और रमणीय बताया है।

१२ सूफियों ने विशेषतः तो प्रबन्ध काव्यों की ही रचना की है किन्तु कभी-कभी मुक्तक शैली पर भी कुछ रचनायें लिखी गई हैं। मुक्तक शैली में लिखने वालों में अमीर खुसरो का नाम सबसे पहिले आता है। मुक्तक शैली में पद, दोहे, झूलने, कुण्डलियों और भजन-चौपाई का प्रयोग किया गया है। प्रेम काव्य के दोहों का अपना अलग महत्व है। बड़ा तीव्र व्यंग इनमें है। ये दोहे बड़े परिष्कृत हैं।

१३. प्रबन्धों में वस्तु एवं घटना-वर्णन में जो प्रवाह और गतिमयता अपेक्षित है, उसका इनमें अभाव है। इन प्रेमाख्यानों में वर्णन पद्धति को अधिक महत्व मिला है। उदाहरणार्थ, जायसी जब वर्णन करने लगते हैं तो न तो किसी पक्षी का नाम उनसे छूटता है और न अन्य खाद्यान्नों का। नगरों का वर्णन, समुद्र वर्णन, सरोवर और वाटिकाओं के वर्णन भी इसके प्रमाण हैं।

१४. भाषा शैली में इन्होंने अवधी को ही विशेषतः अपनाया है। उसमान और नजीर पर भोजपुरी का भी प्रभाव है। नूर मुहम्मद ने कहीं-कहीं ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया है। अवधी तद्भव शब्द, अरबी-फारसी के शब्द आदि भी मिलते हैं। सूफियों ने लोकोक्तियों और मुहावरों से भी भाषा-शैली को गौरव प्रदान किया। कुछ लोग तो यहां तक मानते हैं कि जायसी की अवधी तुलसी की अपेक्षा अधिक साहित्यिक और स्वाभाविक है। इन्होंने दोहा-चौपाई को अपनाकर अपने काव्यों की सृष्टि की। कहीं-कहीं सोरठे, सवैये आदि का भी प्रयोग है।

१५. अलंकारों में प्रायः प्रचलित अलंकारों को ही अपनाया गया है। फारसी साहित्य से प्रभावित होकर भी उपमादि अलंकारों के प्रति मोह प्रदर्शित गया किया है। रूपवर्णन में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं का खूब प्रयोग है। कभी-कभी अतिशयोक्ति तो बड़ी हास्यास्पद भी हो गई है।

१६. सूफियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से जिस अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना को अपनी कविता का लक्ष्य बनाया था उसके लिये इन्होंने कुछ प्रतीकों को भी अपनाया है। इनकी प्रायः सभी रचनाओं में कुछ सांकेतिक शब्द मिलते हैं। जायसी ने तो कथान्त में सारे प्रतीकों को समझा दिया है—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि पद्मिनि चीन्हा॥"

जैसी पंक्तियां इसी प्रयास की पूर्ति हैं।

सूफी काव्य परम्परा—हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत सूफी काव्यों के आरम्भ के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। प्रायः कहा यह जाता है कि प्रेम काव्यों का आरम्भ अलाउद्दीन के समय में मुल्ला दाऊद की नूरक और चन्दा नामक प्रेम कथा से हुआ। सूफी धर्म के प्रमुख कवि जायसी ने अपने प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ पद्मावत में अपने से पहले के प्रेम काव्यों की ओर संकेत किया है। वे लिखते हैं—

विक्रम धंसा प्रेम के बारा। सपनावत कह गये पतारा॥
मध पाद्य मुगुधावति लागी। गगन पूर होईगा बैरागी॥
राजकुंवर कंचनपुर गयऊ। मृगावती कहं योगी भयऊ॥
साधा कुंवर खण्डावत जोगू। मधुमालतिकर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहं सुरसरि साधा। ऊषा लागि अनिरुध वर बांधा॥

इन पंक्तियों के पढ़ने से स्पष्ट होता है कि जायसी के पूर्व भी कुछ प्रेम काव्य लिखे गये। उनमें से जायसी ने स्वप्नावती, मुग्धावती, खंडरावती, मधुमालती और प्रेमावती का उल्लेख किया है। सूफी प्रेमाख्यानों में जो उपलब्ध हैं, उनमें 'चन्दायन' ही काल क्रमानुसार प्रथम रचना सिद्ध होती है। इस कृति का रचना काल सन् १३७[illegible] या १३७९ (संवत् १४३४-३६) जान पड़ता है। इस कृति के पश्चात् और भी अब तक अनेक ऐसे काव्य लिखे गए हैं जो इसी परम्परा में पड़ते हैं। इस प्रकार की रचनाओं का क्रमिक विकास जानने के लिए हम इसे सुविधा के लिए तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

१. **आदि काल**—ई० सन् की चौदहवीं शती के उत्तरार्द्ध से लेकर पन्द्रहवीं शती के समापन तक।

२. **मध्य युग**—ई० सन् की सोलहवीं शताब्दी से लेकर अट्ठारहवीं शती के अन्त तक।

३. **उत्तरवर्ती काल**—चौदहवीं शती से लेकर बीसवीं शती की आज तक की अवधि।

आदि काल की एकमात्र उपलब्ध रचना चन्दायन है। इस कृति के आधार पर तत्कालीन सूफी कविता की प्रवृत्तियों का अनुमान लगाया जा सकता है। सामग्री के अभाव में हमें केवल इसी कृति से सन्तोष करना पड़ेगा। इस कृति से प्रतीत होता है कि उन दिनों केवल घटनाओं के विवरण को प्रमुखता प्राप्त थी तथा नायकों के अलौकिक बल-विक्रम, दैवी-शक्ति की सहायता और कुछ चमत्कारी प्रसंगों को महत्व दिया जाता था। इस काल की केवल दो रचनाएं ही उपलब्ध होती हैं—चन्दायन और 'शेख कुतबन' कृत मृगावती।

मुल्ला दाऊद, अलाउद्दीन के समकालीन थे। इनकी रचना 'चन्दायन' का कथानक एक लोक-कथा पर आधारित है। इस कृति में जिन पात्रों एवं घटनाओं का समावेश है, उनका सम्बन्ध निम्नवर्गीय समाज से प्रतीत होता है। इस कृति के अन्तर्गत शुभाशुभ, शकुन, जादू टोना और मंत्र आदि का भी उल्लेख मिलता है। इसमें भी घटनाओं के वर्णन की ही प्रधानता है। भाषा और शैली बड़ी सीधी-सादी है।

शेख कुतुबन की मृगावती कृति का रचना सन् १५०१ है। इसमें वर्णित कथा का आधार भी प्रेम-गाथा ही है। इसकी रचना दोहे और चौपाइयों में हुई है जो अवधी भाषा में है। इसका नायक राजकुमार है और नायिका राजकुमारी। वह एक ऐसी राजकुमारी है जो अपने प्रेमी को तो धोखा दे ही सकती है साथ ही पिता के देहान्त पर राज-काज स्वयं सम्भालने को उद्यत हो जाती है। कुतूहल जागृत करने की ओर इस कृति में कवि का अधिक ध्यान रहा है। शैली के प्रति भी लेखक कुछ सतर्क प्रतीत होता है।

रंजन, मुल्ला दाऊद के बाद आते हैं। इनकी रचना का नाम 'प्रेमवनजीव निरंजन' है। जायसी ने शायद इसी ग्रन्थ को प्रेमावती नाम से पुकारा है।

मध्यम युग यानी १६वीं शती से लेकर १८वीं शती तक जो काव्य लिखे गये, वे सूफी परम्परा के स्वर्ण काव्य कहे जा सकते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत इसी धारा में एक जगमगाता दिव्य-रत्न है। 'पद्मावत' 'मृगावती' के १७ वर्ष बाद लिखा गया। काव्यत्व और सूफी मतों के समन्वय की दृष्टि से यह एक प्रौढ़ कृति है। परशुराम चतुर्वेदी ने इस समय के सूफी काव्यों के सम्बन्ध में लिखा है—"इस काल के प्रथम सौ वर्षों में हमें वस्तुतः पूर्वकालीन बातों की ही आवृत्ति, उन पर आश्रित काव्य-सौंदर्य एवं रचना चातुर्य की विविध अभिव्यक्तियों के साथ दीख पड़ती है। उसके दूसरे सौ वर्षों में हमें इनके घटनाक्षेत्रों के अन्तर्गत कुछ अधिक व्यापकता आ गई लक्षित होती है और इनके पात्रों के स्वभावादि में भी आ गए कुछ न कुछ परिवर्तनों के दर्शन होने लगते हैं तथा इसी प्रकार कभी इनमें फारसी साहित्य से उधार ली गई कतिपय बातों का अन्तर्भाव भी प्रकट होने लग जाता है। इसके अन्तिम दो सौ वर्षों में तो हमें इस बात के भी प्रमाण अच्छी मात्रा में मिलने लगते हैं कि सूफियों की रचना प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य वस्तुतः साम्प्रदायिक ही रहा होगा।"

इसी समय की एक और प्रसिद्ध रचना है 'मंझन' की 'मधुमालती'। इसमें राजकुमार नायक है तथा नायिका भी राजकुमारी है। इन दोनों का प्रेम सम्बन्ध परियों के द्वारा सम्पन्न होता है। परियां राजकुमार को मधुमालती की चित्रसारी में रातों-रात पहुँचा देती हैं और फिर इसे लौटा भी जाती हैं। मधुमालती मां के शाप से चिड़िया के रूप में बदल जाती है। राजकुमार राज्य छोड़ कर जोगी बन जाता है। इस कहानी के पढ़ने के बाद जो निष्कर्ष निकाला जा सकता है वह यह कि मंझन ने जायसी के पदचिन्हों पर चलने की अपेक्षा कुतुबन के मार्ग और आदर्श पर चलने का फैसला किया है।

उसमान की 'चित्रावली' में घटना-विस्तार पर विशेष ध्यान दिया गया है। चित्रावली की कथा का आरम्भ इतना शीघ्र नहीं होता है जितनी कि अन्य कथाओं में शीघ्रता की गई है। इसका नायक नायिका का चित्र देख कर एक अपना चित्र भी बना देता है। नायक और नायिका के मिलन कार्य को एक दूत द्वारा सम्पन्न कराया गया है। एक मन्दिर में दोनों का मेल होता है। घटना-विस्तार-प्रियता के कारण नायक को जंगल में पहुँचा दिया जाता है, वहां उसे एक अजगर निगल जाता है। एक बार वह हाथी की चपेट भी सहता है। इतने में ही नायिका को दूसरा विवाह करना पड़ता है। कथा दुखांत है। सम्भवतः पद्मावत के ढंग पर लिखी गई है। इस काव्य-ग्रन्थ के आरम्भ में सूफी सम्प्रदाय के कवियों की परम्परा के अनुसार आपने भी ईश-स्तुति, पैगम्बर और खलीफाओं, बादशाह जहांगीर और शाह निजामुद्दीन और हाजी बाबा की प्रशंसा की है। चित्रावली के दोहे, चौपाइयों का क्रम भी ठीक जायसी की भांति है। उसमान ने वस्तुतः जायसी के काव्य का पूरा-पूरा अनुकरण करने का प्रयास किया है। जायसी के पद्मावत के ढंग पर ही नगर, सरोवर, दान-महिमा आदि बातों का वर्णन चित्रावली में है। हां, जो नवीनता है वह यह है कि इनके जोगी अंग्रेजों के दर्शन कर चुके हैं। इसी समय में जलालुद्दीन ने 'जमाल पच्चीसी' ग्रन्थ की रचना की। यह एक हस्तलिखित प्रति है।

उसमान के समकालीन कवियों में जान का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की। कई नई बातों का समावेश भी इनकी रचनाओं में मिलता है। 'रत्नावली' नामक रचना के नियम में इन्होंने स्वयं लिखा है कि वह किसी रूम निवासी महागुनी राय द्वारा महमूद गजनवी के लिए कही गई अद्वितीय भारतीय कथा का भारतीय रूप है। 'मधुकर मालती' नामक आपकी रचना के सम्बन्ध में उसने दास प्रथा, हारूं रशीद, तुर्किस्तानी और अरमनी आदि का उल्लेख किया है। कवि ने अपनी रचनाओं के लिए जहां एक ओर प्रसिद्ध भारतीय पौराणिक कथा 'नल दमयन्ती' को चुना वहां दूसरी ओर 'लैला मजनूं' तथा 'कथा खिजरखां' को भी चुना।

इनके बाद शेख नबी नामक कवि हुए जिन्होंने 'ज्ञानदीप' काव्य ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में राजा ज्ञानदीप और रानी 'देवयानी' की कथा वर्णित है। इस कवि ने बिल्कुल भारतीय परम्परा का पालन किया। हां, कहीं-कहीं इसमें सामी प्रभाव भी देखने को मिलता है। कवि अहमद भी इसी काल की सृष्टि है। इनके दोहे, सोरठे आदि बड़े उत्तम ढंग से लिखे गये हैं।

हिन्दवी या दक्खिनी हिन्दी साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि यह समय सूफी प्रेमाख्यानों का स्वर्ण-युग था। यही वह समय था जबकि प्रसिद्ध कवि गवासी, वजही, तबई और हाशमी ने सामी कथाओं के आधार पर अथवा उनके आदर्शों की राह पर चल कर अपनी मसनवियां लिखीं। मुकीमी नुसरती और गुलामअली ने भी अपना योग दिया। इन रचनाओं के प्रभाव से उत्तरी भारत भी न बच सका। वहां

पर भी 'अनुराग बांसुरी' की रचना पर 'रस रस' का प्रभाव है। कवि ने इस ऋण को स्वीकार भी किया है। कासिम शाह ने अपने 'हंस जवाहिर' नामक ग्रन्थ को लिखते समय बहुत कुछ बखारी के रोफुल्मुलक का अनुसरण किया। शेख निसार ने भी हाशमी के युसूफ जुलेखां को अपनी कथावस्तु का आधार बनाया। इन सूफी कवियों में एक नई प्रवृत्ति काम करने लग गई थी। सम्भवतः नूरमुहम्मद ने अपनी 'अनुराग बांसुरी' की रचना इसलिए की थी कि वह कदाचित शंखवाद को रीति को मिटाने को समर्थ हो। उन्होंने स्पष्ट शब्दावली में कहा भी है—"मेरी इस हिन्दी रचना का कोई विपरीत अर्थ न लगावे, क्योंकि मैं इसके द्वारा हिन्दू मार्ग पर नहीं चल रहा हूं।"

उत्तर युग में अधिक संख्या में सूफो प्रेमगाथाओं का सर्जन नहीं हो सका। इस काल में इन प्रेमाख्यानों की जो प्रवृत्ति रही उसके सम्बन्ध में श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि "१९वीं शती से लेकर बीसवीं शती की अवधि तक इस प्रकार की सारी उमंगें प्रायः ठण्डी पड़ती-सी प्रतीत होती है। इस अन्तिम युग की अन्तिम रचनाओं में न तो कहीं जायसी की प्रतिभा है, न मंझन, उसमान की सहृदयता है, न जान की योग्यता, न नबी का पांडित्य है न नूरमुहम्मद की कट्टरता, न निसार की धार्मिकता और न कासिमशाह की उदारता ही पाई जाती हैं। इस क्षेत्र के सूफी कवियों की यदि कोई विशेषता है तो वह कदाचित् इस बात से भिन्न नहीं है कि उन्होंने अपनी रचनाएं न्यूनाधिक व्यक्तिगत रुचि या आग्रह के कारण प्रस्तुत की हैं तथा उसे भरसक व्यर्थ के आडम्बरों से भी बचाया है।" इस काल की तीन रचनाएं उल्लेखनीय हैं—ख्वाजा अहमद ने सन् १९०५ में 'नूरजहां' लिखी। इसमें ईरान के शहजादे तथा शहजादी की प्रेम कथा है। इसकी कहानी और पात्र सभी कल्पित हैं। कहानी का आध्यात्मिक अर्थ भी है शेख रहीम ने सन् १९१५ में 'भाषा प्रेम रस' की रचना की जिसकी कथा कल्पित है कवि नसीर ने १९१७ में प्रेम-दर्पण नामक काव्य लिखा। इसके कथानक का मू आधार युसूफ जुलेखां की सामी प्रेमगाथा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सूफी प्रेम काव्य की परम्परा निरन्तर चली आ रही है।

जायसी का स्थानः—प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा में जायसी को ज प्रतिष्ठा प्राप्त है वह उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती किसी भी कवि को प्राप्त नहीं हो सकी जायसी के तीन काव्यों में—पद्मावतः अखरावट और आखिरी कलाम, में पद्मावत ः सम्मान और कीर्ति का अधिकारी है।

इस धारा के अन्य कवियों ने जहां कल्पित कथा को चुना वहां जायसी ने पद्माव की प्रेमकथा में कल्पना के साथ इतिहास का रंग भी भर दिया। इस कार जायसी का पद्मावत अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों से भिन्न है। काव्य विषय की दृष्टि ही नहीं, काव्य-कौशल की दृष्टि से भी जायसी अपनी शाखा के कवियों से अप पार्थक्य स्पष्ट घोषित करते हैं। काव्यात्मा से परिचित जायसी ने अपने का में जिस माधुर्य और प्रेममय वातावरण की सृष्टि की और इस सृष्टि के लिए

काव्य-कौशल अपनाया वह अपनी सानी नहीं रखता। अन्य कवि जबकि प्रेम, करुणा, भक्ति तथा कोमल भावों की अभिव्यक्ति कर रहे हों वहां जायसी ने भावपक्ष में लोक-भावना का पुट देकर युद्ध, इतिहास, क्रोध, खीझ आदि का वर्णन भी किया। इस दृष्टि से जायसी सूफी कवियों में श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं।

सूफी-काव्य परम्परा में पद्मावत को जो स्थान प्राप्त है वह किसी दूसरे कवि और काव्य को नसीब नहीं हो सका है। पद्मावत में सिंघलदीप के राजा गन्धर्वसेन की कन्या, पद्मावती और चित्तौड़ के राजा रत्नसेन की प्रेमकथा है। हीरामन तोते से पद्मावती के रूप-सौन्दर्य का वर्णन सुनकर राजा विरहाग्नि में जलने लगता है और नागमती तथा राजपाट को तिलांजली देकर योगी वेष में सिंघलदीप चल देता है। अनेक संघर्षों की स्थिति को पारकर शिव की अनुकम्पा से राजा पद्मावती को हासिल कर लेता है। चित्तौड़गढ़ लौटने पर अपने दरबार के राघव चेतन नामक एक पण्डित से वाद-विवाद में झगड़ा होने पर क्रोध में उसे देश निकाला दे देता है। राघव चेतन अलाउद्दीन को, पद्मावती के रूप की प्रशंसा कर, चित्तौडगढ़ पर चढाई करने को प्रेरित रता है। परिणामस्वरूप रत्नसेन कैद हो जाता है। अन्त में पद्मावती के चातुर्य तथा गोरा और बादल की वीरता से रत्नसेन छूट जाता है किन्तु कुम्भलनेर के राजा देवपाल से, जिसने पद्मावती को कैद के वक्त फुसलाने का प्रयास किया था, लडते-लडते मारा जाता है। अन्त में दोनों रानियां सती हो जाती हैं।

पद्मावत की इस कथा का पूर्वार्द्ध नितान्त काल्पनिक है और उत्तरार्द्ध इतिहास पर आधारित है, किन्तु जायसी की कुशल लेखनी ने इतिहास और कल्पना का ऐसा मिश्रण किया है कि कुछ भी अटपटा सा नहीं लगता है। इतना ही नहीं, उसके प्रबन्ध-सौष्ठव पर आश्चर्य ही अधिक होता है।

पद्मावत में जो दूसरी विशेषता पाई जाती है वह भौतिक या लौकिक प्रेम के आधार पर की गई अलौकिक व्यंजना है। कवि जायसी ने लौकिक से अलौकिक का संकेत तो अनेक स्थलों पर किया है। रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति जायसी में अपनी धारा के अन्य कवियों से अलग ही है। इनके रहस्यवाद की आधार-शिला भारतीय वेदान्त की अद्वैत भावना है। जायसी के इस काव्य में पद्मावती परमात्मा की प्रतीक है और रत्नसेन जीव-आत्मा का प्रतीक है। जायसी ने जगत के समस्त पदार्थों को ईश्वरीय छाया से दीप्त बताया है और इतना ही क्यों, इनके काव्य में प्रकृति उस प्रियतम समागम के लिए छटपटाती सी चित्रित की गई है। पद्मावत का प्रेमखण्ड रहस्यवाद का सच्चा निदर्शन करता है। नखशिख आदि अन्य कुछ वर्णनों में भी रहस्यवादी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। प्रवृत्ति के कण-कण में परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य का आभास पाया जाता है।

'रवि शशि नखत दिपहि ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती ॥"

ग्रौर—"नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर॥"

रहस्यवादी भावनाओं के साथ-साथ जायसी का साधक प्रेमी अपनी प्रिया (परमात्मा) से प्रेम प्याला पीकर मस्त होने को आतुर है। आत्मा और परमात्मा के बीच जायसी ने मेघ और समुद्र के पानी का सा अन्तर स्वीकार किया है। वास्तविकता यह है कि दोनों एक ही तत्व हैं किन्तु पृथक् रूप में प्रेमी की मिलनोत्कंठा ही प्रधान है। मिलनोत्कंठा ही सूफियों के यहां प्रेम की पीर है। जायसी ने इसी पीर का संकेत अपने पद्मावत में किया है। इस प्रकार की चार अवस्थाएं हैं, अन्तिम मारफित है जिसमें बन्दे और खुदा का मिलन शराब और पानी की तरह होता है।

संयोग और वियोग दोनों ही स्थितियां का चित्रण जायसी ने बड़े काव्यात्मक ढंग से किया है। नागमती का विरह वर्णन तो हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। पद्मावत में वेदान्त, हठयोग आदि हिन्दू-धर्म की बातों का समावेश भी किया गया है।

जायसी का यह ग्रन्थ ठेठ अवधी भाषा में लिखा गया है। इसमें दोहा, चौपाई-पद्धति का प्रयोग है। अलंकारों का प्रयोग सहज स्वाभाविक है। उनके प्रयोग से कहीं भी काव्य में भावों की क्षति नहीं हुई है वरन् उनका उत्कर्ष बढ़ा है।

जायसी के पद्मावत में लोक-जीवन के पक्ष का भी सुन्दर समावेश है। जायसी ने अपनी इस कृति में लोक-जीवन की शिक्षाप्रद सूक्तियों, भौतिक तत्वों और मुहावरों आदि का सुघर प्रयोग किया है। भारतीय मत-मतान्तरों और काव्यशास्त्र का स्थूल ज्ञान होने के कारण जायसी ने उन्हें बड़े प्रयत्नपूर्वक रखा है। हिन्दुओं के देवी-देवताओं, रीति-रिवाजों, रहन-सहन आदि का सुन्दर और कुछ सीमा तक यथार्थ चित्रण किया है। काव्यांगों में रस, अलंकार आदि का निर्वाह भी बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

जायसी की रचनाओं का विशद रूप से विचार करने पर जो निष्कर्ष सामने आते हैं, वे ये हैं—

१. जायसी के काव्य में सूफी काव्य-परम्परा का पूर्ण परिपाक हुआ है। यह किसी अन्य कवि में नहीं मिलता।

२. जायसी ने इस्लामी सूफी धारा का वेदान्त और भारतीय रूप प्रस्तुत किया। जायसी की अपनी मौलिकता है वह शास्त्रज्ञान से उद्भत नहीं है वरन् अनुभव-जन्य है।

३. वेदान्त और योग जायसी के समय की दो महत्वपूर्ण धाराएं थीं। एक तीसरी धारा भक्तिवाद की थी। पद्मावत में राम और कृष्ण की पौराणिक कथाओं के जो निर्देश हैं उनसे यह स्पष्ट ही है कि जायसी इन पौराणिक महापुरुषों से पूर्णरूपेण परिचित थे। जायसी ने वेदान्तमिश्रित तथा सूफी मत से सुवासित एक सामान्य प्रेम-मार्ग का अन्वेषण किया।

४. जायसी को ही श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने विदेशी सूफी विचारधारा को भारतीय धारा से समन्वित करके उसे अपने युग के अनुरूप नया रूप प्रदान किया। प्रेम की पीर को मानव हृदय में जगा देने की उनमें अद्भुत क्षमता है।

५. सूफी भक्ति में 'प्रेम की पीर' की महत्ता प्रदर्शित करने वालों में जायसी ने विशेष प्रतिभा का परिचय दिया।

६. धर्म, इतिहास और भूगोल का भी उन्हें ज्ञान था। उन्होंने किसी भी धर्म का खण्डन नहीं किया। उनकी उदार-प्रवृत्ति, हृदय की कोमलता और माधुर्य भावना उन्हें अपने वर्ग का सफल कवि सिद्ध करती हैं। वस्तुतः प्रेम-काव्य की परम्परा को जायसी ने प्रेम से सिद्ध और धर्म से शिक्षित कर लोक-धर्म की सीमा तक पहुँचाया। इन सभी बातों से जायसी का स्थान सूफी-काव्य परम्परा में सबसे ऊंचा पड़ता है।

११

मुसलमान कवियों की हिन्दी सेवा

१. प्रस्तावना।
२. प्रमुख कवि।
३. खुसरो।
४. कबीर।
५. कुतुबन।
६. जायसी।
७. उसमान।
८. शेखनबी।
९. कासिमशाह।
१०. नूर मुहम्मद।
११. तानसेन।
१२. रसखान।
१३. आलम।
१४. रहीम।
१५. कादिर।
२६. मुबारक।
१७. अली मुहिब खां।
१८. रसलीन सय्यद गुलामनबी।
१९. आलम [द्वितीय]
२०. गद्य और मुसलमान कवि।
२१. निष्कर्ष।

राजनैतिक क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमानों के कुछ भी सम्बन्ध रहे हों परन्तु साहित्य क्षेत्र में मुसलान विद्वानों ने हिन्दी की अविस्मरणीय सेवा की है। राजनैतिक क्षेत्र की सीमाओं को तोड़ कर वे साहित्यिक क्षेत्र में हिन्दुओं के निकट आये। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। धार्मिक क्षेत्र में वे एकेश्वरवाद के समर्थक और 'ला इला इल अल्लाह' के मूल मन्त्र के उपासक थे। एक अल्लाह के सिवाय अन्य किसी की सत्ता वे स्वीकार नहीं करते थे। लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने भारत-वासियों से सम्पर्क स्थापित किया। उनके लिए इस देश में रहने के लिए, यहां की

भाषा तथा 'रहन-सहन को सीखना आवश्यक था। कामकाज सम्पन्न करने के लिए प्रजा का सहयोग भी आवश्यक था। कुछ लोगों का कहना है कि मुगलिया सल्तनत का अधिकांश राज-कार्य हिन्दुओं द्वारा किया जाता था, और वे लोग अपना बहुत सा कार्य हिन्दी में किया करते थे। इसके अतिरिक्त कोई सफल राजा देशी भाषा की उपेक्षा नहीं कर सकता था। इसी कारण हिन्दी का सम्बन्ध राजदरबारों से जुड़ गया। उधर मुगलशासक ऐश और आराम की जिन्दगी बसर किया चाहते थे तथा अपनी बड़ाई सुनना बेहद पसन्द करते थे फलतः हिन्दू कवि और भाटों को राजाश्रय मिला जहां पर उन्होंने हिन्दी का प्रचार किया।

हिन्दी राज-दरबारों की सहभाषा के रूप में तो प्रयोग की ही जाती थी लेकिन अकबर को तो हिन्दी से विशेष प्रेम था उनने स्वयं हिन्दी में रचना की है तथा अपने नाती खुसरो को हिन्दी सिखायी गई थी। मुसलमान भारतीय कृष्ण परम्परा से बड़े प्रभावित हुए, क्योंकि उन लोगों ने यहां की कविताओं के माधुर्य तथा भक्त कवियों की तन्मयता को देखा है। मुसलमान कवियों ने इस ओर अपना कदम बढ़ाया। यही नहीं, मुसलमान स्त्रियों ने भी इसमें काफी सहयोग दिया। यद्यपि उस समय शासन-सूत्र मुसलमानों के ही हाथ में था, पारस्परिक कटुता दोनों ओर से हृदयों में समाई हुई थी फिर भी मुसलमानों में भी कुछ महापुरुष ऐसे थे जो कृष्ण-भक्ति में और भक्ति-काव्य के प्रणयन में हिन्दुओं से कम नहीं थे। इन्हीं मुसलमान भक्त-कवियों की प्रशंसा में भारतेन्दु जी ने कहा है:—

"इन मुसमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये।"

यद्यपि हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही मुसलमान कवियों ने अपनी अमूल्य कृतियों से हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। खड़ी बोली हिन्दी के आदि कवि खुसरो से ही मुसलमानों का हिन्दी प्रवेश माना जाता है:—

खुसरो:—इनका असली नाम अब्दुल हसन खुसरो था। जिस समय राजपूतों की तलवार खटक रही थी और चारण रासो ग्रंथ लिखकर उनका यशोगान कर रहे थे उस समय खुसरो ने अपनी पहेलियां, मुकरियां और दोसखुने आदि लिख कर जनता का मनोरंजन किया। इनके जन्म के विषय में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोग इनका जन्म १२५३—में तथा मृत्यु १३२५ तथा दूसरे लोग १३१२ में और अन्य लोग १३०० के लगभग मानते हैं। पर संवत् १३२५ में मृत्यु मान लेना, उपयुक्त होगा। इन्होंने अपनी आंखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान तथा तुगलक वंश का आरम्भ देखा था। इन्होंने अपने जीवनकाल में दिल्ली के ग्यारह सुल्तानों में से सात की सेवा की थी।

खुसरो साहब यद्यपि अरबी-फारसी के अच्छे ज्ञाता और पण्डित थे परन्तु हिन्दी साहित्य को भी इनकी अपूर्व देन है। ये स्वभाव से विनोदी थे अतः इन्होंने विनोद को अपने साहित्य में विशेष स्थान दिया है उदाहरण स्वरूप कुछ रचनाएं उद्धृत की जा रही हैं:—

(क) पहेली—एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा

(ख) मुकरी—मेरा मोसे सिंगार करावे। आगे बैठ के मान बढावे॥

(ग) दोसखुने-घोड़ा अड़ा क्यों ? पान सड़ा क्यों ? फेरा न था।

मनोरंजन के अतिरिक्त इन्होंने गम्भीर रचनाएं भी की हैं। इन्होंने अपने गुरु औलिया की मृत्यु पर कितना गम्भीर दोहा पढ़ा:—

गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केश।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देश॥

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि खुसरो न केवल खड़ी बोली और ब्रजभाषा के ही सफल कवि थे प्रत्युत हिन्दी में हास्यरस की कविता का प्रवर्तन भी उन्हीं के द्वारा हुआ है।

ग्रंथ—खुसरो ने कई लाख शेरों की लगभग ९९ पुस्तकें लिखीं पर वर्तमान में तो इनके केवल २० या २२ ग्रंथ प्राप्य (उपलब्ध) हैं। इन ग्रंथों में किस्सा चहार दरवेश और खालिक बारी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका तुर्की-अरबी-फारसी और हिन्दी का पर्याय कोश नामक ग्रंथ भी बड़ा प्रसिद्ध है। इन्होंने फारसी से अधिक कहीं हिन्दी भाषा में लिखा है।

कबीर-जीवनवृत्त-कबीर का खुसरो के पश्चात् हिन्दी के छः मुसलमान कवियों में स्थान है—योग्यता की दृष्टि से नहीं बल्कि क्रम की दृष्टि से ! संतपरम्परा में सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली व्यक्तित्व कबीर का ही था। इनके जन्म-मरण के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका जन्मकाल संवत् १४५६ में माना जाता है। डा० श्यामसुन्दरदास और डा० हजारीप्रसाद ने भी शुक्ल के अनुसार ही १४५६ में इनका जन्म माना है पर डा० माताप्रसाद गुप्त ने निम्न दोहे के अनुसार—

"चौदह सौ पचपन साल गये चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रगट भये॥"

संवत् १४५६ की ज्येष्ठ सुदी पूर्णमासी सोमवार को कबीर का जन्म स्वीकार किया है। डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' ने भी १४५६ ही माना है।

इनके जन्म के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियां हैं, कुछ लोग इन्हें विधवा पुत्र बताते हैं। कबीर पन्थी इनका जन्म ही नहीं मानते। पर यह तो निश्चय है कि इनका पालन एक जुलाहा परिवार में हुआ था। महात्मा कबीर बड़े उदार, परमसंतोषी, स्वतन्त्र-चेता, निर्भीक, अहिंसा, सत्य और प्रेम के समर्थक वाह्य आडम्बर-विरोधी और क्रांतिकारी सुधारक थे। ये मस्त फकीर थे।

ग्रंथ—कबीर ने साहित्य के लिए नहीं गाया उन्होंने जन-जीवन के लिए अपनी वाणी का उपयोग किया। उनकी साखियों में आध्यात्मिक सिद्धान्तों और भावों क बहुत सुन्दर ढंग से उल्लेख मिलता है। जीवन के अनुभव ऐसे नपे-तुले शब्दों में कहे

के खरे उतर रहे हैं। कबीर की वाणी का संग्रह 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है। वैसे कबीर के ग्रंथों की संख्या ५७ से ६१ तक भी मानी जाती है, पर अप्राप्य है।

कबीर का वाद—कबीर के हमें तीन स्वरूप प्राप्त होते हैं—कवि, ज्ञानी तथा समाज-सुधारक। कबीर एक सच्चे समाज-सुधारक थे। उन्होंने ज्ञान की गहन गुत्थियों को प्रतीकों तथा रूपकों द्वारा जनता को समझाने का प्रयत्न किया। आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाला उक्ति-वैचित्र्य देखिये—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी ॥

इसी प्रकार 'नैया बिच नदिया डूबी जाय' आदि उलटबासियों के द्वारा अनेक समस्या सुलझाई है। अद्वैतवादियों की भांति नाथ 'शब्दवेद' में विश्वास करते थे, परन्तु वैदिक कर्मकाण्ड का घोर खण्डन करते थे। नाथों की यह प्रवृत्ति कबीर में भी पाई जाती है। हठयोग और सुरति साधना के लिए कबीर का स्थान महत्वपूर्ण है। उन्होंने 'जाति-पाति पूछे नहिं कोई हरि को भजै सो हरि का होई' की उक्ति कहकर रूढ़िवादिता का खण्डन किया है।

कबीर की भाषा प्रायः सधुक्कड़ी या खिचड़ी भाषा बताई जाती है। कहीं भी कबीर की प्रतिभाने एक प्रकार की भाषा का बन्धन नहीं आने दिया है। उन्होंने ब्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी, अरबी, फारसी आदि सभी का प्रयोग किया है।

कबीर का विशद वर्णन 'भक्तिकाल' शीर्षक लेख में किया गया है।

कुतुबन—चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। अतः इनका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी का मध्यभाग था। इन्होंने 'मृगावती' नाम की एक कहानी दोहे और चौपाई के क्रम से लिखी है जिसमें चन्द्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारी की कन्या मृगावती की प्रेम-कथा का वर्णन है।

जायसी—ये प्रसिद्ध सूफी कवि शेख मोहिदी के शिष्य थे और जायस में रहते थे इसी से ये जायसी कहलाये। इनकी छोटी सी पुस्तक 'आखिरी कलाम' सन् १५२८ में लिखी गई थी। इस पुस्तक में जायसी ने अपने जन्म के विषय में भी लिखा है—

भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बरी।

ये सूफी कवि थे और प्रेम-मार्ग के प्रथम सशक्त कलाकार। इस प्रेम-गाथा की परम्परा मुल्ला दाऊद की 'चन्दावत' से आरम्भ होती है। इसने मनसवी की शैली पर अपनी कथा लिखी है। जायसी से पूर्व भी कुछ प्रेम-कथाएं लिखी जा चुकी थीं जिनका उल्लेख जायसी ने अपने प्रसिद्ध काव्य पद्मावत में किया है—

बिक्रम धंसा प्रेम के बारा, सपनावत कहुँ अपेयु पतारा।
माधपाछ मुग्धावति लागी। गगन पूरि होइगा बैरागी ॥
राजकुंवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहुँ जोगी भयऊ।

साधे कुंवर खडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कह सुरपुर साधा। ऊषा लागि अनिरुध वर बांधा।

इस प्रकार स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, खण्डरावती, मधुमालती और प्रेमावती आदि रचनाएं जायसी से पहिले लिखी जा चुकी थीं। जिनमें मृगावती और मधुमालती के लेखक कुतवन और मंझन हैं।

जायसी ने अवधी भाषा में कविता कर उस भाषा की साहित्यिक संभावनाओं को प्रकाश में रखा और एक प्रकार से दोहा-चौपाइयों की परम्परा को चलाया। जायसी के प्रेम में आध्यात्मिकता की ओर संकेत मिलता है। इनकी कविता में सर्वेश्वरवाद के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जायसी का प्रमुख ग्रंथ 'पद्मावत' है जिसमें राजा रत्नसेन और रानी पद्मिनी की कथा है।

'भक्ति-काल' शीर्षक लेख में जायसी का विशद वर्णन देखिए।

उसमान--शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरम्परा में हाजी बाबा के शिष्य थे। ये गाजीपुर के रहने वाले थे तथा मुगल बादशाह जहांगीर के समकालीन थे। इन्होंने सन् १६२१ में 'चित्रावली' नामक पुस्तक की रचना की। कवि ने इस रचना में जायसी का बहुत हद तक अनुकरण किया है परन्तु कहानी बिल्कुल कवि की कल्पना-जन्य है। जैसा वे स्वयं कहते हैं—

'कथा एक में हिए उपाई, कहत मीठ औ सुनत सुहाई।' इस पुस्तक में नेपाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की कथा है।

शेखनबी--ये जौनपुर जिले के मऊ नामक स्थान के रहने वाले थे और जहांगीर के समकालीन थे। इनके काव्य का नाम 'ज्ञान-दीप' है जो कि एक आख्यान-काव्य है जिसमें राजा ज्ञान-दीप और रानी देवजानी की कथा है। यही ग्रंथ प्रेम-मार्गी सूफी-कवियों की प्रचुरता की समाप्ति भी है।

कासिमशाह--कासिमशाह ने 'हंस जवाहिर' नाम की कहानी की रचना की है जिसमें राजा हंस और जवाहिर रानी की कहानी का आधार है। इनकी रचना बहुत ही निम्न कोटि की है तथा स्थान-स्थान पर जायसी का अनुसरण किया गया है।

नूरमुहम्मद--ये जौनपुर जिले के जौनपुर-आजमगढ़ की सरहद पर स्थित 'सबरहद' नामक स्थान के रहने वाले थे। नूरमुहम्मद मुसलमान बादशाह मुहम्मदशाह के समकालीन थे। ये अपने श्वसुर शमसुद्दीन का कोई वारिस न होने की वजह से ससुराल ही में रहते थे। इन्हें हिन्दी का अन्य सूफी-कवियों से अधिक ज्ञान था। इन्होंने फारसी में 'दीवान' के अतिरिक्त 'रौजतुल हुकाम' आदि पुस्तकें भी लिखी। इनका 'इन्द्रावती' नामक एक प्रसिद्ध आख्यान काव्य है जिसमें कालिंजर के राजकुमार राजकुंवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की कथा है। अन्य सूफी-कवियों की भांति इन्होंने भी शाहेवक्त आदि की चर्चा की है। इन्होंने काव्य-पद्धति में जायसी का पूर्ण अनुसरण किया है तथा सूफी-पद्धति का अन्तिम ग्रंथ भी है। क्योंकि संवत्

१८०० के बाद में मुसलमान हिन्दी से दूर हटने लगे थे। कारण, फारसी का उत्थान चाहते थे और हिन्दी-हिन्दुओं को छोड़ना।

हिन्दी के रंग में कवि ही नहीं मुगल बादशाह तक भी रंग गये थे। अकबर स्वयं एक हिन्दी प्रेमी था और उसके दरबार में अनेक हिन्दू हिन्दी-कवि यथा गंग, बीरबल, नरहरि, रहीम, टोडरमल आदि थे। अकबर ने स्वयं हिन्दी में रचना की है–

जाको जस है जगत में, जगत सराहै ताहिं।
ताको जीवन सफल है, कहत अकब्बर शाहि॥

तानसेन--भी हिन्दी के कवि थे और अकबर के समकालीन तथा आश्रित थे। सूरदास की प्रशस्ति में प्रसिद्ध दोहा तानसेन का ही है—

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधों सूर की पीर।
किधों सूर को पद सुन्यो, रह रह धुनत शरीर॥

तानसेन भारत के महान संगीतज्ञ थे। इसलिए इनकी कविता भी संगीतमय है। इनके पदों की रचना समस्त राग और रागिनियों पर आधारित है।

रसखान—विशुद्ध कृष्ण-भक्ति का उज्ज्वल स्वरूप हमें रसखान में प्राप्त होता है। ये जाति के पठान थे। इन्होंने प्रेमबाटिका में अपने आपको शाही खानदान का बताया है। इनके जीवन वृत्त के बारे में कुछ भी स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है। दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में इनकी एक बनिये के लड़के के प्रति आसक्ति और विट्ठलनाथ के शिष्य का जो उल्लेख मिलता है वह आचार्य चन्द्रबली पाण्डे के अनुसार निराधार है। पाण्डेजी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि रसखान न तो विट्ठलनाथ के शिष्य थे और न ही कृष्ण-काव्य पुष्टि-मार्ग की पद्धति पर लिखा गया है। पर रसखान एक कृष्ण-भक्त कवि थे। सूरदास को छोड़कर कृष्ण-भक्ति में अन्य कोई कवि रसखान के बराबर नहीं ठहरता है। उनकी रचनाओं से यह स्पष्ट होता है कि वे एक रसिक कवि थे। उनके कवित्त बड़े ही सुन्दर और रसीले हैं—

'ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भरि छाछ पै नाच नचावै।
मानुष हों तो वही रसखानि बसों ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
रसखानि कबहुँ इन आंखिन से ब्रज के वन बाग तड़ाग निहारों।'

रसखान की दो छोटी-छोटी पुस्तकें 'प्रेम-वाटिका' और 'सुजान रसखान' हैं। प्रथम रचना में प्रेम के विषय में दोहों का संग्रह है और द्वितीय में छंद, कवित्त और सवैयों के माध्यम से एकनिष्ठ प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना की गई है। इनकी रचनाओं में कृष्ण-भक्त कवियों की तरह परम्परागत नीति-काव्यों की पद्धति न होकर कवित्त और सवैया हैं।

रसखान की भाषा सरल और सरस है। इनकी भाषा में जितना चलतापन पाया जाता है उतना अन्य कवि में दुर्लभ है। रसखान के काव्य में संयोग और वियोग का बड़ा ही सजीव चित्रण किया गया है। रसखान ने जितना यौवन-क्रियाओं का वर्णन किया है उतना बाल्य-चेष्टाओं का नहीं। ये जन-कवि थे।

आलम—ये अकबर के समकालीन थे तथा 'माधवानल कामकन्दला' प्रेम-कथा दोहा और चौपाई के रूप में लिखी। यह रचना सन् १६३६-४० पड़ती है। इसमें पांच-पांच चौपाइयां के पश्चात् एक-एक दोहा या सोरठा की र गई है। यह कोई उच्चकोटि की कृति नहीं है इसमें रुचिरता केवल कहानी भावव्यंजना आदि गौण हैं। काल्पनिक नहीं है वरन् प्रचलित है। यह पुस्तक की दृष्टि से रची गई है।

रहीम—रहीम का पूरा नाम अब्दुल रहीम खान खाना था। ये अ प्रसिद्ध मुगलसरदार बैरमखां के पुत्र थे। इनका जन्म लगभग १६१० था। ये सदैव कविसमूह से घिरे रहते थे और अरबी-फारसी तथा संस्कृत के होने के साथ-साथ हिन्दी के भी बड़े मर्मज्ञ थे। इनका जन्म संवत् १६१० में हु इनका राजदरबार में बड़ा सम्मान था और प्रधान सेनानायक बनकर अनेक भी भाग लिया था। ये बड़े दानी प्रवृत्ति के थे जहांगीर द्वारा धोखा देने के अ कैद कर लिये गये थे और समस्त सम्पत्ति जप्त करली गई थी। कैद से छूटने के भी इनकी दानशीलता कम नहीं हुई इनके पास जो कुछ होता था सब याचक क थे। इन्होंने मतलबी दुनियां का चित्रण इस दोहे से किया है—

ये रहीम दर-दर फिरैं, मांगि मधुकरी खांहि।
यारो यारी छोड़िये अब रहीम वे नांहि॥

जब ये दीनावस्था में थे उसी समय इन्हें एक याचक मिला। रहीम याचना को ठुकरा नहीं सके। उन्होंने उस समय एक दोहा लिखा तथा उसी के हाथों रीवां नरेश के पास भिजवा दिया। कहते हैं, रीवां नरेश ने उस याचक लाख रुपये दिये। दोहा इस प्रकार है—

चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध नरेस।
जा पर विपदा :परत है सो आवत यहि देस॥

रहीम को जीवन की बड़ी गहरी अनुभूति थी। इन्होंने जीवन के लगभग स पहलुओं का अनुभव किया था। ये बड़े से बड़े जागीरदार का अनुभव भी कर और दर-दर भटकते एक फकीर को भी जान चुके थे। इन्होंने बड़े-बड़े युद्ध चढ़ाइयां की थीं। इसलिए साहित्य क्षेत्र में इनकी भावुकता बे जोड़ थी।

रहीम की भाषा ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली तीनों ही प्रकार की वास्तविकता तो यह है कि ये कई भाषाओं के विद्वान थे अतः किसी का भी प्रयो लेते थे। कबीर और तुलसी के पश्चात् जन-समुदाय में रहीम का नाम ही सब प्रचलित है। इन्होंने नीति आदि के दोहे बड़ी समर्थता और सावधानी से लिखे हैं। द

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुं मांगन जाहिं।
उनसे पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं॥
रहिमन अंसुआ नयन ढरि, जिय दुःख प्रगट करेयि।
जाहि निकारौ गेहते कस न भेद कहि देयि॥

रहीम का 'बरव नायिका भेद' रीतिकाल के आदिग्रंथों में गिना जाता है। बरवै छंद का प्रचार करने में रहीमजी का विशेष हाथ है। इन्होंने साहित्य के शृंगार में आदरणीय स्थान प्राप्त किया है। इन्होंने फारसी का एक दीवान भी बनाया था और 'वाकयात बाबरी' का तुर्की से फारसी में अनुवाद किया था।

राम-भक्ति शाखा में यद्यपि कोई मुसलमान कवि नहीं हुआ परन्तु कृष्ण-भक्ति ने तो उन्हें इतना प्रभावित किया कि ताज नामक मुसलमान महिला भी कह उठी है–

नन्द के कुमार कुरबान तेरी सूरत पै।
हौं तो तुरकानी हिन्दुआनी ह्वै रहूंगी मैं॥

ताज की तरह शेख नाम की रंगरेजिन भी हिन्दी की भक्त-कवयित्री थी। जिसके प्रेम में फंसकर आलम कवि ब्राह्मण से मुसलमान बन गये थे।

कादिर--कादिर का पूरा नाम कादिरबख्श था। ये सैयद इब्राहीम के शिष्य थे। इनका जन्म पिहानी जिला हरदोई में संवत् १६६५ में हुआ था। इनकी कविता चलती भाषा में होती थी। कादिर साहब की अभी तक कोई भी रचना पुस्तक के रूप में नहीं पाई गई। हां, केवल कुछ फुटकल कवित्त पाये जाते हैं। इनका निम्न छन्द बड़ा प्रसिद्ध है--

गुन को न पूछै कोऊ, औगुन की बात पूछै,
कहा भयो दई? कलिकाल यों खरानो है।
पोथी और पुरानज्ञान ठट्टन में डारि देत,
चुगुल चवाइन को मान ठहरानो है॥
कादिर कहत यासों कछु कहिबे की नाहीं,
जगत की रीति देखि चुप मन मानौ है।
खोलि देखौ हियौ सब औरन सौं भांति-भांति,
गुन ना हिरानों गुन गाहक हिरानो है।

मुबारक--भक्तिकाल की भांति रीतिकाल में भी ऐसे अनेक कवि हुए जिन्होंने अपनी रस-सिक्त रचनाओं से जन-साधारण का मन मोह लिया। रीतिकाल के उन कवियों में से सैयद मुबारकअली बिलग्रामी भी एक हैं। इन्होंने शृंगार को लेकर ही अपनी रचनाएं की हैं तथा ऐसी मान्यता है कि इन्होंने नायिका के दस अंगों को लेकर प्रत्येक पर सौ-सौ दोहों की रचना की है। इनका जन्म संवत् १६४० में हुआ था। इनका रचनाकाल संवत् १६७० से प्रारम्भ होता है। इन्हीं दिनों इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'अलक-शतक' और 'तिलक-शतक' की रचना की। दोहों के अतिरिक्त सवैये और कवित्त जनवाणी में भी अपना महत्व रखते हैं। ये उत्प्रेक्षा का बढ़ा-चढ़ा कर प्रयोग करते थे। उदाहरण स्वरूप इस को देखिये--

पुरी मुबारक तिय वदन अलक ओप अति होय।
मनो चन्द की गोद में रही निसा-सी सोय॥

चिबुक कूप में मन पर्‌यो छवि-जल-तृषा विचारि ।
कढ़ति मुबारक ताहि तिय अलक डोरि-सी डारि ।।
चिबुक कूप रसरी अलक, तिलसु चरस दृग बैल ।
बारी वैस सिंगार की, सींचत मनमथ छैल ।।

अली मुहिबखां–खां साहब आगरा निवासी थे। इन्होंने अपनी 'खटमल बाईसी' अनुपम हास्य काव्यकृति की संवत् १७८९ में रचना की। रीतिकाल में प्रधानता शृंगार की ही रही। और खां साहब ही कदाचित अकेले ऐसे कवि थे जिन्होंने रीतिकाल में शृंगार के अतिरिक्त एक ही रसमें कविता की। इन्होंने परम्परागत चले आये हास्य के आलम्बनों को छोडकर नये आलम्बनों को अपना वर्ण्य विषय बनाया। इन्होंने शिष्ट हास्य रस को अपनी रचना में स्थान दिया है, तथा अपने ग्रंथ में हास्य विषय एक खटमल बनाया है जिसके लिए संस्कृत में यह उक्ति प्रसिद्ध है—

कमला कमले शेते, हरश्शेते हिमालये ।
क्षीराब्धौ च हरिश्शते मन्ये मत्कुणशंकया ।।

इसकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है परन्तु 'खटमल बाईसी' ने ही इन्हें अविस्मरणीय बना दिया है–

बाघन पै गयौ, देखि बनन में रहे छुपि,
सांपन पै गयौ, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयौ, धूल डारत हैं सीस पर,
बैंदन पै गयौ, काहू बारा न बताई है।
जब हहराय हम हरि के निकट गये,
हरि मो सौं कही तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ न उपाय भटकत जनि डोले सुन,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है ।।

रसलीन सैयद गुलामनबी—रसलीन साहब की जन्मभूमि भी वही बिलग्राम जिला 'हरदोई' है जहां अच्छे २ मुसलमान कवि होते आये हैं। इस गांव का होना तथा अपने नाम के आगे 'बिलगरामी, शब्द लगाना कवि अपने सम्मान में वृद्धि समझते थे। इन्होंने अपने ग्रंथ 'अंग-दर्पन' में अंगों की उपमा-उत्प्रेक्षायुक्त अभिव्यंजना की है। इस ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १७९४ है। इस ग्रंथ के अतिरिक्त नबीजी ने रस-बोध' नामक ग्रंथ की संवत् १७९८ में रचना की। इस ग्रंथ में रस-निरूपण किया गया है तथा नायिका भेद पटऋतु, बारह मासा आदि का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है। नबीजी के दोहों में उक्तिवैचित्र्य की प्रधानता पाई जाती है क्योंकि पदावली की गति द्वारा नाद-सौंदर्य जगह ही नहीं पाता।

अंग दर्पण का एक दोहा देखिये।

अमिय हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार ।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार ।।

ग्रालम—हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ग्रालम नाम के दो कवि हुए हैं। प्रथम तो १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जिन्होंने "माधवानल कामकंदला" नामक पुस्तक की रचना की ग्रौर दूसरे ग्रौरंगजेव के पुत्र मुग्रज्जमशाह के दरबारी कवि थे। हम यहां दूसरे ही ग्रालम की चर्चा कर रहे हैं। इनका कविता-काल संवत् १७४० से १७६० संवत् माना जाता है।

ग्रालम जाति के ब्राह्मण थे परन्तु शेख नाम की विदुषी कवयित्री रंगरेजिन के प्रेम में पड़ कर इन्हें उससे विवाह करना पड़ा ग्रौर वाद में ये मुसलमान भी बन गये थे। इनके प्रेम की कथा भी बड़ी रोचक है—ग्रालम ने ग्रपनी पगड़ी धोने के लिए शेख रंगरेजिन को दी जिसकी ठोक में बंधा हुग्रा एक कागज का टुकड़ा चला गया था जिस पर यह ग्राधा दोहा—'कनकछरी-सी कामिनी काहे को कटि छीन' लिखा हुग्रा था। जब शेख ने उसे पढ़ा तो उस पर ग्रागे की पंक्ति 'कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य भरि दीन' लिख कर जैसा का तैसा खूंट में बांध दिया। जब ग्रालम ने इसे पढ़ा तो वे शेख से बड़े प्रभावित हुए ग्रौर उससे ग्रटूट प्रेम करने लगे। ग्रालम साहब की कविताग्रों का संग्रह 'ग्रालम केलि' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पुस्तक के ग्रतिरिक्त इनके ग्रौर भी पद सुन्दर ग्रौर उत्कृष्ट पद्य-ग्रन्थों में पाये जाते हैं। इनमें प्रेम की पीर पाई जाती है ग्रतः इन पर सूफी मत का प्रभाव पाया जाता है—इनकी कविता रस की दृष्टि से घनानन्द ग्रौर रसखान की कोटि में ग्रानी चाहिए—इनके सवैये ग्रत्यन्त मार्मिक ग्रौर हृदयस्पर्शी हैं इन्हीं के कारण ग्रालम साहब काव्य-रसिकों के सिर-मौर बने हुए हैं—एक नमूना देखिये—

> जा थल कीने विहार ग्रनेक, ता थल कांकरी बैठि चुन्यौ करें।
> जा रसना सौं करी बहु बातन, ता रसना सौं चरित्र गुन्यौ करें।
> ग्रालम जौन से कुंजन में करी, केलि तहां ग्रब सीस धुन्यो करें।
> नैनन में जे सदा रहते तिनकी, ग्रब कान कहानी सुन्यौ करें।

ग्राधुनिक युग एक ऐसी स्थिति से प्रारम्भ होता है जहां भारत में शांति के स्थान पर फिसाद, झगड़े, एकता के स्थान पर ग्रनेकता तथा साम्प्रदायिकता ग्रौर लूट-खसोट मिलती है। इस युग में भारत ग्रंग्रेजों का गुलाम था। उन्होंने ग्रपनी भेद-नीति से साहित्य में भी भेद कर दिया। साम्प्रदायिकता की ग्राग उन्होंने सर्वत्र फैला दी ग्रौर स्वयं बाहर निकल कर जलते हुए घर को देखते रहे। फलस्वरूप मुसलमान कवि हिन्दी से दूर हटने की कोशिस करने लगे ग्रौर हिन्दी हिन्दुग्रों के लिए छोड़ कर फारसी तथा उर्दू में रचना करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु इतना होने पर भी कुछ ऐसे भी मुसलमान कवि हैं जिन्होंने साम्प्रदायिकता को छोड़ कर राष्ट्रीयता को पनपाया है ग्रौर सबकी ग्रनेकता में एकता लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। इनमें सैयद ग्रमीर ग्रली ग्रौर मुंशी नवीरत्न 'फलक' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ग्रमीर साहब का राष्ट्रीयता की भावना में पगा हुग्रा यह संदेश सुनिये—

हिन्द के हम हैं हमारा हिन्द है।
हैं भ्रमर हम और वह अरविन्द है ॥

फलक साहब ने राम, रहीम में तनिक भी भेद नहीं माना है और अन्य भक्त कवियों की तरह ही ईश्वर से विनय की है—

ज्यों जल के आधीन है, तन सौं मन सौं मीन।
दीन-बन्धु आधीन त्यों, यहै 'फलक' अति दीन ॥
हौं तो मूरख जनम कौ, मेरे हिय न चेत।
दीन-बन्धु मो दीन पै, काहे ध्यान न देत ॥

गद्य और मुसलमान कवि—पद्य के अतिरिक्त गद्य के क्षेत्र में भी मुसलमानों ने हिन्दी-साहित्य की प्रसंशनीय सेवा की है। जिस प्रकार पद्य में खड़ी बोली का श्रीगणेश अमीरखुसरो ने किया था उसी प्रकार गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग सर्वप्रथम इंशा अल्लाखां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिख कर किया और यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि इसमें 'हिन्दवी छुट किसी बोली का पुट' नहीं है। आधुनिक युग में मुसलमानों को अंग्रेजों ने अपनी भेद-नीति के द्वारा हिन्दी से अलग कर दिया है फिर भी कुछ कवि या लेखकों जैसे मुंशी, अजमेरी, अख्तर हुसैन रामपुरी, अध्यापक जहूरबख्श, मीर अहमद बिलग्रामी आदि ने हिन्दी गद्य में अच्छा कार्य किया है।

निष्कर्ष—आज भारत स्वतन्त्र है। उस पर किसी भेद-नीति का प्रभाव नहीं है और आज के भारत में सरकार द्वारा हिन्दी और उर्दू के लिए स्वतन्त्र रूप से प्रोत्साहन दिया जा रहा है। काफी मुसलनान हिन्दी में लिखने की कोशिश कर रहे हैं और सफल भी हो रहे हैं। दूसरा कारण हिन्दी की उन्नति का यह भी है कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार की जा चुकी है अतः प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र-भाषा सीखे तथा उसका प्रयोग करे।

१२

रीतिमुक्त काव्य और उसके कवि

१. सामान्य परिचय ।

२. रीतिकाल की तीन धारायें ।

३. स्वच्छन्द काव्यधारा ।

[अ] विषयगत प्रवृत्तियां,

[ब[शिल्प-सौन्दर्य ।

४. रीतिमुक्त कवि ।

५. निष्कर्ष ।

[illegible], [illegible], [illegible] आदि ही उनके काव्य में आते हैं [illegible] की व्यापकता के अभाव में प्रेम केवल नायिका तक सीमित रहता है उसमें [illegible] की [illegible] के दर्शन नहीं होते।" रीतिमुक्त धारा के कवियों में प्रेम की च[illegible] का अभाव है और इसके विपरीत शुद्ध प्रेम, शुद्ध हृदय की शुद्ध अनुभूति इनकी कविता का एकमात्र आधार बनी है।

२. कृत्रिम व्यापारों का त्याग—इस धारा के कवियों की दूसरी विशेष[ता] है कि इन्होंने प्रेम के मार्ग में बाहरी अस्वाभाविक व्यवहारों को छोड़ दिया अ[ौर] स्वाभाविक और आन्तरिक अनुभूतियों को प्रधानता दी जिनके आधार पर ये [सच्चे] और सच्चे प्रेमी कहलाये। वस्तुतः ये लोग प्रेम को गोपनीय वस्तु समझते थे औ[र] विपरीत प्रेम मार्ग के बाहरी बड़े-बड़े बन्धनों को इन्होंने काव्य क्षेत्र की वस्तु स[मझा] नहीं। बोधा और ठाकुर तो प्रायः यही कहा करते थे कि प्रेम को उद्घाटित क[रना] मानों ही उसका उपहास करना है। प्रेम व्यापार में वक्रता को तनिक भी स्थान नहीं देते थे और हां, इसके लिए तो ये पंक्तियां सही सिद्ध होती हैं—

'अति सूधो सनेह को मारग है जहां नेक सयानप बांक नहीं'

३. भावना प्रधान—इनकी कविता प्रेम की शुद्ध और निश्छल अभि[व्यक्ति के] कारण भावना को अधिक महत्व देती थी और इसके साथ ही यह भावनाप्र[धानता] इनकी प्रेम पद्धति में तो मिलती ही है साथ ही कविता की भाषा में भी दीख [पड़ती है।] डा० गौड़ का कथन है कि बुद्धि को तो इन्होंने गौण स्थान दिया है, प्रधान [स्थान] भावना को या रीति को ही प्राप्त है........रीतिकाव्य की रानी बुद्धि है, भा[वना उसकी दासी] [इसके प्र]तिकार पर स्वच्छन्दकाव्य की रानी है अनुभूति और उसकी दासी है बुद्धि। [इन्हीं] से ही सुनिये, क्या कहते हैं—

तत्परता से इन कवियों ने इन बाहरी बन्धनों को छोड़ दिया। इसी कारण इन ायों की कविता में प्रेमी की शुद्धता और वियोग की सच्ची अनुभूति मिलती है।

रीतिकाल के अन्य कवियों की तरह विरह में हाहाकार करती और इधर-उधर ी, जिह्वा पर पड़े फफोले वाली, गुलाबजल से शरीर की आग को शांत करने । नायिकाओं के चित्र इनमें नहीं मिलते हैं। इनकी तो 'मौन-मयी पुकार' है। उसमें ोरता है जिसे अनुभूत कर पाठक भी वेदना-सागर में गोते लगाने लगता है और ऐसा अनुभव होने लगता है कि वास्तव में ये कुछ कवि ऐसे हैं जो सच्चे विरही हैं : सच्ची पीड़ा से रो रहे हैं। स्वच्छन्द काव्यधारा की विशेषताओं को निम्नलिखित र्शकों में समझा जा सकता है—

१. **प्रेम की स्वतन्त्रता**—इस धारा की सबसे पहली और प्रमुख विशेषता प्रेम स्वतन्त्रता थी। ये कवि प्रेमी जीव थे तथा सच्ची उमंग से कविता लिखते थे। य कवियों की भांति इनका प्रेम अश्लीलता और वासना की जंजीरों से जकड़ा हुआ ीं था। वे शुद्ध प्रेमी थे। प्रेमित्व-भावनाओं की अभिव्यक्ति ही उनकी कविता का षय बनी है। ये प्रेम के उदात्त पक्ष को ही प्रस्तुत करने में लगे रहे हैं। उनके काव्य भी प्रेम का यह स्वरूप शायद ही आ पाता यदि ये मनोवेगों के प्रवाह में पड़कर विता न लिखते। घनानन्द के विषय में तो इनकी पंक्तियां ही सच्ची गवाह हैं—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत।
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत॥

प्रेम के मार्ग में इस धारा के कवियों की दृष्टि प्रेम भाव की अनुभूति पर ही ाधिक टिकी रही है। परिणामतः इनकी दृष्टि में प्रेम पहचानने की गहरी पैठ आ ई। इनका प्रेम इसी पैठ को पाकर राजमार्ग पर शुद्ध सात्विक भाव से चलने लगा। न कवियों ने प्रेम की शारीरिक भूख की तृप्ति का ही साधन नहीं माना है वरन् इससे ागे जाकर वह अलौकिकता की ओर भी झुका हुआ है। कहा जाता है कि घनानन्द ी सुजान लौकिक होकर भी अलौकिक है। मानस की रमणीयता पर अधिक दृष्टि टिकाने वाले ये कवि शरीर तक सीमित भी कैसे रह सकते थे। प्रेम का वाह्य पक्ष इसी कारण कमजोर और शिथिल हो गया है और इसके विपरीत अन्तः पक्ष प्रसार पाकर शक्तिपूर्ण हो गया है।

रीतिकाल के दूसरे कवियों ने भले ही प्रेम और शृङ्गार पर काव्य लिख डाले हों, किन्तु यह सत्य ही है कि उन कवियों का प्रेम हृदय की उमंग से परिचालित नहीं था। डा० मनोहरलाल गौड़ ने लिखा था कि "ये लोग एक चौथाई भक्त होते थे, एक चौथाई प्रेमी और दो चौथाई में कवि और आचार्य। इसलिए स्वच्छन्द प्रेम का एकांकी रूप ये अपने काव्य में नहीं दे सके। प्रेम इनकी अनुभूति न थी अतः न तो उसमें मनोवेगों का आवेग मिलता है न जीवनगत स्वच्छन्दता ही मिलती है। दूती, परिजन, सखी, अभिसार आदि से घिरी नायिका के हृदय की अन्तर्दशाओं का इन्हें परिचय नहीं।

उनके संकेत-स्थल, सपत्नी-दाह, लघु-गुरु-मान आदि ही उनके काव्य में आते रहे हैं। दृष्टि की व्यापकता के अभाव में प्रेम केवल नायिका तक सीमित रहता है उसमें किसी प्रकार की उच्चता के दर्शन नहीं होते।" रीतिमुक्त धारा के कवियों में प्रेम की चपलता आदि का अभाव है और इसके विपरीत शुद्ध प्रेम, शुद्ध हृदय की शुद्ध अनुभूतियां ही इनकी कविता का एकमात्र आधार बनी हैं।

२. **कृत्रिम व्यापारों का त्याग**—इस धारा के कवियों की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने प्रेम के मार्ग में बाहरी अस्वाभाविक व्यवहारों को छोड़ दिया और उन स्वाभाविक और आन्तरिक अनुभूतियों को प्रधानता दी जिनके आधार पर ये सफल और सच्चे प्रेमी कहलाये। वस्तुतः ये लोग प्रेम को गोपनीय वस्तु समझते थे और इसके विपरीत प्रेम मार्ग के बाहरी बड़े-बड़े बन्धनों को इन्होंने काव्य क्षेत्र की वस्तु समझा ही नहीं। बोधा और ठाकुर तो प्रायः यही कहा करते थे कि प्रेम को उद्घाटित करने का अर्थ ही उसका उपहास करना है। प्रेम व्यापार में वक्रता को तनिक भी स्थान ये कवि नहीं देते थे और हां, इसके लिए तो ये पंक्तियां सही सिद्ध होती हैं—

'अति सूधो सनेह को मारग है जहां नेक सयानप बांक नहीं'

३. **भावना प्रधान**—इनकी कविता प्रेम की शुद्ध और निश्छल अभिव्यक्ति के कारण भावना को अधिक महत्व देती थी और इसके साथ ही यह भावनाप्रियता हमें इनकी प्रेम पद्धति में तो मिलती ही है साथ ही कविता की भाषा में भी दीख पड़ती है। डा० गौड़ का कथन है कि बुद्धि को तो इन्होंने गौण स्थान दिया है, प्रधान स्थान तो भावना को या रीति को ही प्राप्त है........रीतिकाव्य की रानी बुद्धि है, भाव उसका किंकर पर स्वच्छन्दकाव्य की रानी है अनुभूति और उसकी दासी है बुद्धि। घनानन्द से ही सुनिये, क्या कहते हैं—

रीझि सुजान सची पटरानी।
बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी॥

सचाई यही है कि रीतिमुक्त कवियों की यह धारा भाव-प्रेरित ही है बुद्धि बेधित नहीं है। इसी कारण इसमें अनुभूति की गम्भीरता दिखाई देती है जो कवित का आन्तरिक गुण है।

४. **आत्मविवेचन**—रीति मार्ग का अनुसरण करने वाले कवि प्रेम को अपन न बना सके। उन्होंने बुद्धि से सोच-विचार कर प्रेम को सखी, नायिका, दूती आदि के हृदय में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है अतः इसमें पूरी तरह कृत्रिमता रह गई जबकि रीतिमुक्त कवियों ने प्रेम किया, स्वयं उसका अनुभव किया और विरह को सह तब कहीं उमंग के रूप में कविता उनकी वाणी का आधार पा फूट पड़ी है। अतः इ कवियों का प्रेम जीवनगत है क्योंकि वे स्वयं ही प्रेमी हैं और स्वयं ही उसको वाणी दे वाले। प्रेम की यह आत्मानुभूति की प्रक्रिया हमें उर्दू के शायरों में मिलती है।

५. प्रेम का पक्ष—इन कवियों ने जिस प्रेम के पक्ष को स्वीकार किया वह म का लौकिक पक्ष था। इन कवियों में रसखान, बोधा, ठाकुर आदि प्रेम के अनुभूति क्ष के गायक हैं। बोधा की ये पंक्तियां बड़ी मार्मिक व प्रभावकारी हैं—

जबते बिछुरे कवि बोधा हितू,
चित नैक हमारो थिरातो नहीं।
हम कौन सों आपनी पीर कहैं,
दिलदार तो कोउ दिखातो नहीं।

ठाकुर और बोधा की कविताओं में जो लोकपक्ष है वह बड़ा संयत है। कष्टों से पीड़ित प्रेमी स्वयं भी प्रेम मार्ग से विरत हो सकता है और बाधाएं भी बलात् उसे हटा सकती हैं। सच्चा प्रेमी इन बाधाओं से नहीं डरता है। वह अपने जीवन की साधना हर तरह से पूर्ण करता है। बोधा और ठाकुर दोनों ने ही प्रेम के निर्वाहपक्ष पर अधिक बल दिया है। यही कारण है कि वे ये पंक्तियां लिख गये हैं—

यह प्रेम का पंथ कराल महा,
तलवार की धार पै धावनो है।

६. संयोग और वियोग—इन कवियों ने संयोग तो कभी समझा ही नहीं, क्या होता है। प्रेम की पूर्णता प्रतिष्ठित करने के लिए इन्होंने विरहाग्नि में तप-तप कर उसका कंचनवर्णी रूप दिखाया है। इनको यदि कभी संयोग हुआ भी तो उसमें भी इन्हें वियोग का आभास हुआ।

इनका विरह रीतिमार्गी कवियों से पृथक है। रीतिबद्ध कविता में विरह के वर्णन शास्त्रानुमोदित है, आह से संयुक्त हैं। वहां पर कभी तो माघ मास में लूएं चलती हैं और सखियां जाड़े की ऋतु में विरह-विदग्धा नायिका को देखने के लिए गीले कपड़े पहन कर आती हैं। रीतिमुक्त कवियों ने इसके विपरीत आत्मानुभूति को काव्य का विषय बनाया है। व्यक्तिगत जीवन की निराशा और पीड़ा के काव्य के उदात्तीकरण या उन्नयन के परिणामस्वरूप ही इनकी कविताओं में प्रभावोत्पादकता और मार्मिकता अधिक है—

"रैन-दिना कुटिबो करै प्रान झरै दुखिया अंखियां झरवा-सी।"

इसके साथ ही विरह की वेदना अनुभवगम्य अधिक है। अभिव्यक्ति के वश की बात नहीं कि वह इसे कह सके और यदि कहीं कहने का प्रयास कर भी डालें तो उस वास्तविक अनुभूति और अभिव्यक्ति में दिन और रात का अन्तर पड़ जाता है—

"जानै वेई दिन-राति, बखाने तें जाय परै दिन-राति को अन्तर।"

संयोग में वियोग का अनुभव—

"मिलेहू में मारे और खटक बिछोह की।"

कहना यह है कि इन रीतिमुक्त कवियों की विरह-वेदना को समझने के लिए हृदय की आंखें चाहिए—

"समुझै कविता घन आनन्द की हिय आंखिन नेह की पीर तकी।"

७. **सौन्दर्य-चेतना और सौन्दर्य-वर्णन**—ये कवि सौन्दर्य के प्रति भी बड़े जागरूक कलाकार की भांति सचेत हैं। इनकी दृष्टि अंग-प्रत्यंग की ओर इतनी नहीं गई है जितनी की आन्तरिक सौन्दर्य की ओर। इन कवियों ने मन के सौन्दर्य की बड़ी लाजवाब तस्वीरें उतारी हैं और स्थूल सौन्दर्य की अपेक्षा सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण कुशलता से किया है। घनानन्द के विषय में तो कहा जाता है कि उनकी कविता को वही समझ सकता है जो 'सुन्दरतादनि' के भेद को जानता है। लज्जा भरी चितवन, सरस वार्तालाप और स्मितयुक्त भंगिमा का यह मोहक चित्र देखिये—

लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाव भरी,
लसति ललित लोल चल तिरछानि में।
छवि को सदन गोरो वदन, रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु बतरानि में।
आनन्द की निधि जगमगाति छवीली वाल,
अंगनि अनंग छुरि मुरि जानि में।

८. **ऋतु वर्णन**—ऋतुवर्णन की परिपाटी अत्यन्त प्राचीन है। रीतिकाल के रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनों ही कवियों को दो ऋतुएं बड़ी प्रिय रही हैं पावस और वसन्त। इनके चित्रण में भी रीतिमुक्त कवियों को विशेष कमाल हासिल है। घनानन्द के निम्न पद में अन्तःकरण की व्याकुलता और विरहानुभूति की तीव्रता देखते ही बनती है—

कारी कूर कोकिला! कहां को बैर काढ़त री,
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कौर लें।
पैंड़ परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यों ही,
चातक घातक त्यों ही तू कान फेरि लैं।

९. **प्रबन्धनिपुणता**—प्रबन्ध-निपुणता इन कवियों में प्रायः कम मिलती है। हां, आलम और बोधा ने तीन प्रबन्ध काव्यों की रचना की है।

१०. **लोकजीवन**—रीतिकालीन सभी कवि लोक से विमुख होकर चले थे। उन्हें प्रेम को मधुर वतियां और गलियों में घूमने से ही समय न था जिससे वे लोक या समाज के जीवन को अपनाते। हां, स्वच्छन्दमार्गी कवियों ने लोक-जीवन के मंगल पक्ष को ग्रहण किया है। प्रसिद्ध पर्व और त्यौहारों पर रीतिमुक्त शैली में रचनाएं उपलब्ध होती हैं।

११. **भक्ति भावना**—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन है कि रीतिबद्ध कवियों को शुद्ध भक्त न मानकर प्रेमोमंग के कवि माना है, जो ठीक ही है। उनकी मान्यता है कि कृष्ण-भक्ति की ओर इनके उन्मुख होने का कारण यह था कि वैयक्तिक

ीवन में इन्हें प्रेम क्षेत्र से निराशा हुई थी और उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप वे भगव ी भक्ति में प्रवृत्त हुए। उनकी रचनाएं भक्त कवियों की सी नहीं हैं। घनानन्द भव मुदाय में दीक्षित होकर भी 'सुजान' का नाम नहीं भूले। श्रीकृष्ण को सुजान, जा ानराव आदि सम्बोधनों से अभिहित किया गया है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमा है कि हृदय में टीस तो अन्त तक बनी रही।

१२. **शिल्पसौन्दर्य**—इस विवेचन के उपरान्त यह तो बड़ी आसानी से क जा सकता है कि इन कवियों की दृष्टि कला की ओर इतनी नहीं थी जितनी कि भ की ओर। ठाकुर का सवैया इस सम्बन्ध में 'सीखि तीनों कीन मृग' आदि प्रसिद्ध ही घनानन्द भी कला को उतना महत्व नहीं देते थे जितना कि अन्य रीतिबद्ध कवियों दिया है। 'लोग है लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत' घनानन्द यह उक्ति सभी स्वच्छन्द धारा के कवियों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध कही जा सकती है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि इनका कलापक्ष कमजोर है। वह तो सचमुच बड़ा परिमार्जित, व्यवस्थित और समृद्ध है। कारण भाषा भावानुमोदित है और भ भाषा के सहचर हैं। इनकी कविताओं में लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा को स बनाया गया है। भावों की गहराई और प्रेम भाव की एकनिष्ठता के परिचय के लि इससे सुन्दर और क्या भाषा हो सकती है—

"ऊधौ वे अंखियां जरि जाइ जो सांवरो छांडि तकै तन गोरो।'

घनानन्द ने तो लाक्षणिक और ध्वन्यात्मक शब्दावली के प्रयोग से यह रि कर दिया और आगे के कवियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। आचार्य शुक्लजी मत है कि "लक्षणा और व्यंजना का मैदान इतना विस्तृत और खुला पड़ा था फिर उसमें दौड़ लगाने का साहस सबसे पहिले घनानन्द ने ही किया ......भाषा पर इन अचूक अधिकार था। अलंकारों में मानवीकरण और संवेदना, ध्वन्यात्मक विरोध भास के सुन्दर प्रयोग घनानन्द में हमें मिलते हैं।" उक्तिवैचित्र्य और अर्थ की गरि से युक्त पंक्तियों को देखिए और तब निश्चित कीजिए कि ये पंक्तियां किस से कम हैं-

१—उजरानि बसी हैं हमारी अंखियन देखो,
सुबस सुदेस जहां रावरे बसत हों।

रीति-मुक्त कवि

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के पश्चात् जो काव्यधारा अवतीर्ण हुई उसे रीतिकाल या शृंगारकाल की अभिधा मिली थी। इस धारा के कवियों में अधिकांश परम्परा का पालन करने में लगे रहे और उनकी दृष्टि राज-दरबारों से निकल कर बाहर न आ सकी, किन्तु कुछ कवि ऐसे भी हुए जो संकीर्ण गलियों, गलियारों को पार कर विस्तृत मैदान में आये। ये रीति से पृथक् होने के कारण रीति-मुक्त कहलाये।

अठारहवीं शताब्दी में शृंगारी कविता में इस प्रकार की स्वच्छन्द प्रेम-धारा का विकास हुआ किन्तु इससे पूर्व भी भक्तिकाल में रसखान नाम से उन्मुक्त भक्ति-कवि हुए। यद्यपि वे भक्ति-काव्यों की श्रेणी में आते हैं तथापि उनमें उन्मुक्त प्रेम का वर्णन अधिकता से पाया जाता है। प्रेम की उमंग के कारण ही नहीं वरन् भक्त-कवियों की गीत-शैली के स्थान पर कवित्त-सवैया पद्धति को अपना कर भी इन्होंने भक्त-कवियों से अपने को अलग रखा। रसखान की कविता में शुद्ध भक्ति के स्थान पर शुद्ध प्रेम के दर्शन होते हैं।

रसखान अत्यन्त प्रेमी प्रकृति के जीव थे। इन्होंने हृदय के सहज प्रेम को सरल और सहज भाषा में अभिव्यक्त किया है। इनकी अनुभूति में बडी सरलता एवं तन्मयता है। इनकी कविता में प्रेम का वही उदात्त स्वरूप है जो इस धारा के प्रतिनिधि कवि घनानन्द में मिलता है। इनके प्रेम में अनन्यता है—

"मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं व्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन॥"
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयौ करि छत्र पुरन्दर कारन॥
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि, कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥"

स्पष्ट ही रसखान में वह साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं है जो सूरदास आदि में है। इनमें तो प्रेम की स्वच्छन्द वृत्ति का विकास हुआ है।

इस धारा में आलम भी अपना महत्व रखते हैं। आलम का रचनाकाल संवत् १६४० से सं० १६६० के आस-पास था। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'आलम केलि' निकला। उनकी पत्नी शेख भी कविता करती थी। आचार्य शुक्ल ने लिखा है— "ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदयतत्व की प्रधानता है। 'प्रेम की पीर' या 'इश्क का दर्द' इनके एक एक वाक्य में भरा पाया जाता है। उत्प्रेक्षाएं बड़ी अनूठी है, शब्दवैचित्र्य, अनुप्रास आदि की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से पाई जाती है। शृंगार की ऐसी उन्मादमयी उक्तियां इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुनने वाले लीन हो जाते हैं। यह तन्मयता सच्ची उमंग से ही सम्भव है—प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना रसखान और घनानन्द की कोटि में होनी चाहिए।" इनकी कविता में तन्मयता है

चामत्कारिक अलंकरण का विरोध है, उक्तिवैचित्र्य है और सबसे बड़ी वस्तु प्रेम की पीर है जिसका वर्णन देखिए—

"जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल कांकरि बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना से करी बहु वातन ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करि केलि तहां अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं॥"

आलम के पश्चात् इस धारा के प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कवि घनानन्द हुए। ये मुहम्मद शाह रंगीले के मीर मुन्शी थे और सुजान पर आसक्त थे। ये साक्षात् रस-मूर्ति और व्रज-भाषा के प्रमुख कवियों में से थे। इनकी सुजान ही आगे चल कर अलौकिक कृष्ण का प्रतीक बन गई और इनका प्रेम चिन्मुख हो गया। इनके काव्य में विरह-वर्णन की अधिकता है और उन्हीं वर्णनों में इनके हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति है। शुक्लजी ने लिखा है कि—"घनानन्द ने न तो बिहारी की तरह विरह ताप को बाहरी मान से मापा है, और न वाहरी उछल-कूद दिखाई है जो कुछ हल-चल है भीतरी है, बाहर से वियोग शान्त और गम्भीर है, न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-कूद कर भागना। उनकी मौन-मधि पुकार है।" घनानन्द के विरह में निश्चय ही एक आश्रित का अनुरोध एवं मर्यादित आत्मनिवेदन है जो अपनी स्वाभाविकता के कारण सुनने वाले का मन बरवस ही अपनी ओर खींच लेता है। घनानन्द का प्रेम विशिष्ट है। प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का जैसा उद्घाटन घनानन्द ने किया वैसा कोई दूसरा नहीं कर सका। रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं—"विरह तो घनानन्द की पूंजी ठहरा—रीतिकाल की बौद्धिक विरहानुभूति की निपुणता और कुण्ठा के वातावरण में घनानन्द की पीडा की टीस सहसा ही हृदय को चीर देती है और मन सहज ही मान लेता है कि दूसरों के लिए किराये पर आंसू बहाने वालों के बीच यह एक वैसा कवि है जो सचमुच अपनी पीडा से रो रहा है।"

घनानन्द की कविता में चत्मकार और पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं है, उनके पद तो उनके हृदय की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। घनानन्द के यहां तो 'रीझि-राची-पटरानी, बची-बुधि बावरी ह्वै करि दासी' जैसी स्थिति है। हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति की गई है। विरहिणी की अधीरता का वर्णन बड़ा मार्मिक बन पड़ा है।

"अन्तर हौं किधौं अन्त रहो हम फारि फिरौं कि अभागिन भीरौं।"

शरीर तो कामदेव से युक्त था वही अब वियोग से युक्त हो गया है। विरहिणी मेघ को दूत बनाकर कहती है तो कभी कोकिल को कोसती है—

"कारी कूर कोकिला कहां कौ बैर काढत री।
कूकि-कूकि अब ही करेजो किन कौरि लै॥"

भाषा पर घनानन्द का अचूक अधिकार था। भक्ति उनके हृदय के भावों के साथ जुड़कर ऐसी समर्पिती हो गई थी कि जब जिस रूप में उसे रखना चाहते थे तो

रख लेते थे। इनकी भाषा में लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का पूर्ण प्रौढ़ता के साथ प्रयोग हुआ है। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता तथा प्रयोग-वैचित्र्य की जो छटा इनकी कविता में दिखाई पड़ती है वह आधुनिक काल के अतिरिक्त कहीं नहीं दिखाई देती।

[क] "अरसानि गही वह बानि कछू, सरसानि सों आन निहोरत है।"
[ख] "उघरो जग छाय रहे घन आनन्द, चातक ज्यों तकिए अब तो।"

विरोधमूलक वैचित्र्य को भी इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

"उजरनि बसी है हमारी अंखियान देखो।
सुबस सुदेस जहां रावरे बसत हो॥"

घनानन्द की कविता में वचनवक्रता भी पूर्ण रूपेण विद्यमान है। आचार्य शुक्लजी ने लिखा है कि—"स्रोत जिस प्रकार टकरा कर कहीं-कहीं वक्रोक्ति के छींटे फेंकता है उसी प्रकार भाषा के स्निग्ध, सरल और चलते प्रवाह के रूप में भी प्रकट होता है।" स्पष्ट ही साहित्य में नादव्यंजना और अर्थ-गर्भत्व पूर्ण प्राप्य है।

घनानन्द के पश्चात् पन्ना दरबार के कवि बोधा का नाम लिया जाता है। इनका सम्बन्ध सुभान नामक वैश्य से था। उनके दो ग्रंथ हैं—विरह-वारीश और इश्क-नामा। कुछ फुटकल कवित्त भी मिलते हैं। इन पर सूफियों के प्रेम की पीर का स्पष्ट प्रभाव है—

जब से बिछुरे कवि बोधा हितू।
तब तै उरदाह थिरातो नहीं॥
हम कौन सों आपनी पीर कहैं।
दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं॥'

बोधा ने विरह-वर्णन भारतीय पद्धति पर वर्णित किया है। श्री दिनकर ने लिखा है कि—"रीतिकाल में अगर घनानन्द को लेकर एक अलग परिवार की कल्पना की जाय तो उनके सबसे अधिक विश्वासी कवि बोधा होंगे—बोधा घनानन्द के ही गुटके संस्करण से लगते हैं। प्रेम का वही नशा, विरह की वही बेचैनी, भावुकता की वही लहर और निराशा में तड़प कर जान देने की वही चाह, बल्कि जान देने का मजमून घनानन्द में बहुत थोड़ा सा है लेकिन बोधा इस मजमून के बहुत कायल हैं।" बोधा का व्यक्तित्व एक भावुक प्रेमी का व्यक्तित्व था जिसे प्रेम से निराशा हुई थी और जिसके मन की आग मन ही मन जल रही थी।

बोधा के पश्चात स्वच्छन्द प्रेम धारा के कवि ठाकुर ओरछा (बुन्देलखण्ड) के रहने वाले थे। इनकी रचनाओं में बुन्देलखण्डी मुहावरे और कहावतें प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं। इनकी कविता का संग्रह 'ठाकुर ठसक' नाम से निकला। पद्माकरजी के साथ कभी-कभी इनकी नौंक-झौंक हो जाया करती थी। एक बार पद्माकर ने कहा कि—"ठाकुर कविता तो अच्छी करते हैं पर कुछ हलके पड़ते हैं।" इस पर ठाकुर बोले, "तभी तो हमारी कविता उड़ी-उड़ी फिरती है।"

यदि हमारा देश पराधीन न होता और हमारे यहां राष्ट्रीय आंदोलन की आवश्यकता न रही होती तो भी आधुनिक औद्योगिक समाज का विकास होते ही काव्य में स्वच्छंदता-वादी भावना और व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति मुखरित हो उठती। इसलिए छायावादी कविता राष्ट्रीय आंदोलन या जागृति का सीधा परिणाम नहीं। बल्कि पाश्चात्य अर्थव्यवस्था और संस्कृति के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप हमारे देश और समाज में जो *बाहरी और भीतरी प्रत्यक्ष और परोक्ष परिवर्तन* हो रहे थे, उन्होंने *जिस तरह सामूहिक* व्यवहार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्रीय एकता की भावना जगाई और राष्ट्रीय संघर्ष को प्रेरणा दी, उसी तरह संस्कृति और पाश्चात्य काव्य साहित्य के प्रभावों को ग्रहण करती हुई छायावाद कविता राष्ट्रीय जागरण के कोण में पनपी और फली-फूली है।"

छायावादी काव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि—भी बिल्कुल स्पष्ट है। छायावादी काव्य रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गांधी, टैगोर और अरविन्द के दर्शनों की छाया में पला और बढ़ा है। इसमें जो दार्शनिक तत्व मिलते हैं वे प्राचीन अद्वैतवाद और सर्वात्मवाद के तत्वों से प्रभावित हैं। महादेवी वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि "छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिला कर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखंडता का भावन किया। हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्यसत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की, और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिला कर एक ऐसी काव्यसृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद और छायावाद आदि अनेक नामों का भार सम्भाल सकी।"

धार्मिक और राजनैतिक परिवर्तनों की प्रक्रिया ने जहां विचारों में क्रांति ला दी वहीं सामाजिक व्यवस्था भी पीछे नहीं रही। सामाजिक परिस्थितियों ने तो छायावादी कविता को सर्वाधिक प्रोत्साहन दिया। भारतीय समाज में पूजनीय सभ्यता और संस्कृति पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आने के कारण अपना चोला बदल बैठी। इस बदलाव में जहां सामाजिक क्रांति को जन्म मिला वहीं विचारों में नई भंगिमाएं और भावनाओं में नूतन उन्मेष किया। राष्ट्रीय एकता की वृद्धि के साथ साथ स्वच्छंद प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। परिणामतः व्यक्तिवाद का प्रचार बढ़ा। स्वच्छन्दतावादी नवीन पीढ़ी धार्मिक, सामाजिक रूढ़ियों से उद्भूत अनेक अन्धविश्वासों और मिथ्या आडम्बरों को समाप्त करने की बात सोचने लगी। किन्तु इन रूढ़ियों को तोड़ना इतना आसान काम नहीं था। अतः न तो ये रूढ़ियां पूरी तरह रह ही सकीं और न टूट ही सकीं। इन सबका अर्थ यह हुआ कि कल्पनाजीवी कवि, साहित्यकार कुण्ठा, अतृप्ति और निराशा से भरने लगे। छायावादी काव्य में यही सब देखने को मिलता है।

छायावादी काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के विवेचन में डा० केसरीनारायण शुक्ल ने उचित लिखा है कि 'छायावाद के व्यक्तिवाद, आत्माभिव्यक्ति, कलावाद आदि बुर्जुआई संस्कृति के ही विविध रूप हैं।' हमारे समाज की व्यवस्था प्रतिद्वन्द्विता के

आधार पर है। आज के समाज के मूल्यांकन का मानदण्ड अधिकार-स्वायत्त मूल्य के आधार पर है तो जनहित की अपेक्षा व्यक्तिगत सफलता की भावना प्रमुख हो गई। Capitalist Economy अर्थात पूंजीवादी मितव्ययता जिसका आधार ही व्यक्तिगत एकाधिकार है—संगठित समाज में व्यक्ति का प्राधान्य अनिवार्य था।

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने जहां जीवन को अपने रंग में रंग डाला, वहां दूसरी ओर अंग्रेजी की Romanticism वाली प्रवृत्ति ने हिन्दी के छायावादी काव्य को पर्याप्त प्रभावित किया। अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद का प्रारम्भ १८वीं शताब्दी में हुआ। इसी में आगे चलकर वर्डसवर्थ, शैली और कीट्स, वायरन आदि ने योगदान दिया। अंग्रेजी साहित्य के स्वच्छन्दतावाद से मिलते-जुलते होने के कारण कुछ विद्वानों ने तो छायावाद को ही अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद का हिन्दी संस्करण तक कह डाला। किन्तु यह बात नहीं। कारण स्पष्ट है—छायावाद का उद्भव भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल हुआ है। वास्तविकता यह है कि जैसे अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद के जन्म से पहिले साहित्य में अतिनैतिकता, सुधारवाद, इतिवृत्तात्मकता और शास्त्रीय रूढ़ियों का बोलबाला था बिल्कुल यही दशा छायावाद के अभ्युदय से पूर्व हिन्दी में द्विवेदी युग में थी, जिसकी प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप छायावाद का जन्म हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि छायावाद एक ओर जहां सामाजिक और आर्थिक ढांचे में परिवर्तन ला सका वहीं दूसरी ओर साहित्यिक दृष्टि से भी वह काफी आगे बढ़ा हुआ दिखाई देता है। छायावाद ने यदि काव्यगत शुष्कता को दूर किया तो शिल्पगत सूक्ष्म कल्पनाओं के मार्ग भी खोले।

छायावाद की परिभाषा—छायावाद काव्यधारा अपनी पूर्वगत काव्य-धाराओं से एक और नया कदम लेकर आई। भारतेन्दुयुगीन, द्विवेदीयुगीन कविता की नैतिकता और उपदेशात्मक प्रवृत्ति इतनी बढी कि लोग उससे ऊब उठे और उनके मन ही मन में बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक अभिव्यक्ति की भावना जागृत हुई। बाह्य की अपेक्षा आंतरिक अभिव्यक्ति को इतना महत्व देने वाली धारा काव्य में छायावाद नामसे अभिहित की गई। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त जीवन में एक खोखलापन और निस्सारपन आ गया था। पश्चिम के स्वतंत्र विचारों के सम्पर्क से राजनीति और सामाजिक बंधनों के प्रति असंतोष की भावना मधुर उन्माद के साथ उठ रही थी, भले ही उसके तोड़ने का निश्चित विधान अभी तक मन में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता, असंतोष व विद्रोह की इन भावनाओं को वहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं दे रही थी।

छायावाद में प्रारम्भ से ही जीवन की वास्तविकता और निकटता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है। नये विचारों से प्रेरित कवि की भावनाएं धीरे-धीरे अभिव्यक्ति के लिए छटपटा रही थीं। डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "नैतिकता और उपदेशात्मकता के प्रति विद्रोह लेकर जन्मी भावनाएं अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे

संक्षेप में छायावाद की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

१. आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति।

२. कल्पनातिशयता।

"सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब तनिक संकुचित बैठी-सी।"

३. सौंदर्य के प्रति अत्यधिक आकर्षण।

४. विस्मय की भावना।

५. सर्व चेतनावाद।

६. सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और साहित्यिक बन्धनों एवं रूढ़ियों से विद्रोह।

७. उन्मुक्त प्रेम की प्रवृत्ति।

८. छायावाद की अन्य विशेताएं जो पूंजीवादी व्यक्तिवाद के कारण नहीं वरन् अन्य कारणों से उद्भूत हुई हैं—

(अ) भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तन की विविध परम्पराओं की अभिव्यक्ति।

(ब) भारतीय सांस्कृतिक नव-जागरण के विविध पक्ष।

(स) राष्ट्रीयता की भावना, विदेशी शासन के प्रति विद्रोह।

छायावादी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां—छायावादी कविता प्रधानतः प्रेम और सौंदर्य के स्वरूप को प्रकट करने में अपना सानी नहीं रखती। इस काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों को हम तीन भागों में विभक्त करके देख सकते हैं—

(१) विषयगत प्रवत्तियां. (२) विचारगत प्रवत्तियां. (३) शिल्पवैचित्र्य-

छायावादी कवियों ने सौंदर्य के स्थूल चित्रण की अपेक्षा उसके सूक्ष्मप्रधान का ही अधिक अंकन किया है। इस सौंदर्य में नग्नता, अश्लीलता और स्थूलता नहीं के बराबर है। प्रेम के क्षेत्र में छायावादी कवि किसी प्रकार की जातीय रूढ़ि और धार्मिक संकीर्णता का पुजारी नहीं है। निराला ने लिखा है—

"दोनों हम भिन्न वर्ण,
भिन्न जाति भिन्न रूप
भिन्न धर्म भाव, पर
केवल अपनाव से प्राणों से एक थे।"

छायावादी कवियों के प्रेम की दूसरी विशेषता वैयक्तिकता है, तीसरी सूक्ष्मता है तथा चौथी विशेषता प्रणयगाथा की निराशा और असफलता है। इसी कारण इन कवियों ने मिलन की अपेक्षा विरह के ही अधिक गीत गाये हैं—

शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर
विरह अहा ! कराहते इस शब्द को
विष कुलिश की तीक्ष्ण चुभती नोक से
निष्ठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा" —पंत

प्रकृति के सौंदर्य और उससे प्रेम का वर्णन भी छायावादी कवियों की शृङ्गारिकता का ही दूसरा रूप है। वे प्रकृति के रूप में भी नारी का रूप देखते हैं। ये छायावादी कवि प्रकृति-प्रेम का नाटक खेलते हैं किन्तु इस नाटक की पृष्ठभूमि में नारी ही होती है। जिस पंत ने कभी द्रुमों की मुदुलता में सांस ली थी और जो प्राकृतिक सौंदर्य के सामने नारी-सौंदर्य को हेय और अधूरा समझता था वही आगे चल कर भावी पत्नी के मुमधुर स्वप्नों में लीन हो जाता है। निराला की 'जूही की कली' आलोचकों की दृष्टि में भले ही प्रकृति-वर्णन का उत्कृष्ट नमूना हो, पर हमारी समझ में वह निश्चय पुरुष और नारी के संगम का ही चित्रण है। उसका भौंरा कंदर्प है, जो छायावादी कवियों के हृदय में विराजमान है—उदाहरण देखिये—

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी
जाने कैसे प्रिय-आगमन वह
नायक ने चूमे कपोल
डोल उठी वल्लरी की जड़
जैसे हिण्डोल ! —जूही की कली

छायावादी कवियों ने प्रकृति के अनेक चित्र प्रस्तुत किये किन्तु इनसे भी आगे प्रकृति-वर्णन में वे रहस्यवादी बन गए। इसका उदाहरण प्रेम-पथिक, आंसू आदि हैं जिनमें लौकिक अभिव्यक्ति है। रहस्यवादी कवियों की यह विशेषता है कि वे लौकिकता

से अलौकिकता की ओर अग्रसर होते हैं लेकिन छायावादी पंत, प्रसाद और निराला का क्रम उल्टा है,

प्रसाद की इन पंक्तियों को देखिए—

"मिला कहां वह सुख जिसका
मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिंगन में आते आते
मुसकाकर जो भाग गया।"

रहस्यवाद के क्षेत्र में महादेवी अवश्य दृढ़ प्रतीत होती हैं। इनको विरह औ मिलन का अन्तर ही स्पष्ट नहीं। 'दुःख-सुख में कौन तीखा, मैं न जानूं और न सीख आदि पंक्तियों में इसी भाव का पुनरावर्तन है।

विचारगत प्रवृत्तियां—छायावादी कविता की विचारगत प्रवृत्तियां प्रायः बताई जाती हैं—

१. दर्शनक्षेत्र में अद्वैतवाद, सर्वात्मवाद।

२. धर्म के क्षेत्र में रूढ़ियों और बाह्याचारों से मुक्त व्यापक मानव-हितवाद

३. समाज के क्षेत्र में समन्वयवाद।

४. राजनीति के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्वशांति का समर्थन।

५. गार्हस्थ्य, पारिवारिक एवं दाम्पत्य-जीवन के क्षेत्र में हृदय-वाद या प्रेमपू व्यवहार।

६. साहित्यिक क्षेत्र में व्यापक कलावाद या सौंदर्यवाद।

कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं जिनमें अद्वैतवाद, मानवतावाद, समन्वयवाद वैचारिक पक्ष स्पष्ट हैं।

अद्वैतवाद—तुम तुङ्ग हिमाचलशृङ्ग
और मैं चंचलगति सुरसरिता
तुम विमल हृदय उच्छ्वास
और मैं कांत कामिनी कविता।"

मानवतावाद की व्यापक भूमिका हमें कामायनी में मनु के निम्न कथन में दे को मिलती है। वैसे सारा छायावादी काव्य मानवता की भावना से ओत-प्रो किन्तु निम्नलिखित पंक्तियों में इसका व्यापक रूप है—

"मनु ने कुछ कुछ मुसकाकर
कैलास ओर दिखलाया
देखो कि यहां पर अब तक
कोई भी नहीं पराया"

श्रौर प्रसाद का यह कथन—

"श्रौरों को हंसते देखो मनु
हंसो श्रौर सुख पाश्रो
श्रपने सुख को विस्तृत करलो
सब को सुखी बनाश्रो"

समन्वयवाद की दृष्टि से छायावादी कविता के प्रतिनिधि कवियों के रूप में साद श्रौर पंत का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। कामायनी का दर्शन तो मन्वयवाद पर ही श्राधारित है—

"ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से मन न मिल सके,
यही विडम्बना जीवन की"

शिल्पगत प्रवृत्तियां—छायावादी कविता ने श्रपने पूर्ववर्ती काव्य के प्रति जो द्रोह किया वह विषय के क्षेत्र तक ही सीमित न रह सका वरन् वह तो शिल्प के त्र में भी कुछ नवीनता लेकर श्राया। पुरानी परम्परागत शैलियों श्रौर प्रयोगों के यान पर सूक्ष्म श्रभिव्यक्ति को प्रधानता मिली। भाषा में सीधी श्रभिव्यक्ति के स्थान र लाक्षणिकता श्रौर व्यंजनात्मकता को प्रधानता दी गई। भाषा ने व्यंजना के क्षेत्र एक गाम्भीर्य ला दिया जिसका इसकी पूर्ववर्ती कविता में प्रायः श्रभाव-सा है। भिव्यक्ति में हृदय की सरसता श्रौर सजीवता के साथ-साथ कुशलता भी देखने को मलती है। छायावादी शैली की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

१. गीति-शैली का प्रयोग—वैयक्तिकता, भावात्मकता, संक्षिप्तता श्रौर ोमलता।

२. प्रतीकात्मकता।

३. प्राचीन श्रलंकारों के साथ-साथ नवीन श्रलंकारों का प्रयोग—मानवीकरण, वशेषण, विपर्यय, विरोधाभास श्रादि।

४. कोमलकांत, संकेतमय पदावली।

५. चित्रात्मकता श्रौर लाक्षणिकता।

६. सफल बिम्बों की सृष्टि।

विशेषतायें हैं जिनके आधार पर इन कवियों ने अपनी कविता को सजाया और सं
है। कुछ उदाहरण देखिये—

मूर्त को अमूर्त और अमूर्त को मूर्त उपमा देना—

१. "बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल"

२. "नीरवता की शिला चरण से टकराता फिरता पवमान"

३. "पवन पी रहा था शब्दों को
निर्जनता की उखड़ी सांस"

अलंकारों में विरोधाभास, मानवीकरण और रूपकातिशयोक्ति का
देखिए—

विरोधाभास— "शीतल ज्वाला जलती थी
ईंधन होता दृग जल का
यह व्यर्थ सांस चल चल कर
करती है काम अनल का"

मानवीकरण— "कहो कौन तुम दमयंती-सी
इस तरु के नीचे सोई
क्या तुमको भी छोड़ गया
सखि! नल-सा निष्ठुर कोई"

रूपकातिशयोक्ति— "बांधा है विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा आज हीरों से"

वस्तुतः छायावादी कविता ने भाषा, भाव, अलंकार और नवीन प्रयो
दृष्टि से कुछ नई सीढ़ियां पार कीं। इस काव्य में कुछ तो क्या, अनेक पक्ष पु
गये ? किन्तु फिर भी कुछ पक्ष छूट गए और वे थे—सामाजिक जीवन और सांस्
पक्ष। इन दो पक्षों पर कविता में कम लिखा गया है। कल्पनातिशयता के चक्क
पड़ कर सामाजिकता को ये कवि अधिक आग्रह के साथ न अपना सके। सा
व्यक्तिवाद ने भी इन्हें सामाजिकता की ओर से मुख मोड़ने को बाध्य कर दिया।

कुछ लोगों की धारणा है कि छायावादी काव्यधारा अब मर गई है।
लिखा है कि "छायावाद इसलिए अधिक दिन तक नहीं टिक सका कि उसके
भविष्य के लिए उपयोगी आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौंदर्य-बोध और
विचारों का रस नहीं था।"

हमारी दृष्टि में छायावाद का पतन नहीं हुआ है और न वह मरा है
कोई भी काव्यधारा कभी मरती नहीं है ठीक वैसे ही काव्य में कोई नई धारा

ा जाती है। हां, यह मानने में तनिक भी हिचक नहीं होनी चाहिए कि वह
ऱ्भी परिस्थिति विशेष के कारण मंद अवश्य पड़ जाती है। छायावाद के साथ
ो हुआ है। वह आज नये दृष्टिकोण की उपस्थिति में धीमी गति से चल रहा है।
ाद की इस धीमी गति के और भी कई कारण हैं। प्रमुख कारण यह है कि
के प्रति सबल और स्वस्थ दृष्टिकोण इस काव्य में नहीं पाया जाता है। छायावाद
ावट के सम्बन्ध में कवि पंत एक जगह और लिखते हैं—"छायावाद के शून्य,
आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्य के निर्जन शिखर
राम करने वाली कल्पना को (एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती की आवश्यकता
और इसलिए तो काव्य में छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में व कुछ अन्य
ों से प्रगतिवाद का अवतरण हुआ।" महादेवी वर्मा इस विषय पर अपने विचार
कार व्यक्त करती हैं—"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धांतों
चय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मतम सौंदर्य सत्ता की ओर
क कर दिया था।"

उपर्युक्त इन्हीं कारणों से छायावाद हमारे काव्य में ह्रास पाता गया। कुछ
परिस्थितियों से उत्पन्न वातावरण के कारण प्रगतिवादी साहित्य राजनीतिक
ा का कारण बना लिया गया। यदि सीधे-सीधे शब्दों में यह कह दिया जाय कि
ा की गम्भीर समस्याओं का सामना करने में छायावाद की असफलता के कारण
गतिवाद का जन्म हुआ तो अधिक उपयुक्त रहेगा। इसके उपरान्त छायावादी
ों ने एक मृदुल और सुन्दर शैली हमारे साहित्य को दी है। भाषा के रूप में भी
ार किया है। आज भी ऐसे बहुत से कवि हैं जो छायावादी विश्वास और सौंदर्य
कर जी रहे हैं।

१४

प्रगतिवाद

१. अर्थ और व्याख्या।
२. पृष्ठभूमि और प्रेरणास्रोत।
३. प्रमुख प्रवृत्तियां।
४. प्रगतिवादी कविता के कुछ दोष।
५. निष्कर्ष।

अर्थ और व्याख्या—सामान्य रूप में प्रगति का अर्थ उन्नति या आगे बढन लेकिन हिन्दी, विशेषकर आधुनिक कविता की यह एक धाराविशेष है। उसक दिशा है जिसका उदय छायावाद के पश्चात हुआ। अतः वहां पर प्रगति का अर्थ बढना न होकर एक विशिष्ट अर्थ है। और यह अर्थ मार्क्सवादी विचार धार प्रमुख रूप से द्योतक है। डा० नगेन्द्र ने प्रगतिवाद के तत्वों की विवेचना का स देते हुए लिखा है कि "प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का ना जिसके मूल तत्व ये हैं—

१. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—केवल भौतिक विधान की मान्यता, ईश्वर आत्मा की अस्वीकृति।

२. साम्यवाद—(जिसके मूल में मानववाद भी अन्तर्निहित है) साम्यवा समर्थन : पूंजीवाद और उससे सम्बद्ध राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक साहित्यिक रूढियों के विरुद्ध क्रांति।

३. राष्ट्रीय भावना—प्रगतिवाद का राष्ट्रवाद सर्वहारावाद या जनवा ही पर्याय है।

पृष्ठभूमि और प्रेरणा-स्रोत—ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिवाद का सन् १९३५-३६ के आसपास हुआ और ८-१० साल पश्चात् प्रयोगवाद ने मृतप्राय कर दिया। इस समय भारत में गांधीजी का विचार-दर्शन व्याप्त हो रहा इसकी पृष्ठभूमि और प्रेरणा-स्रोत प्रमुख रूप से ये रहे हैं—

१. मार्क्सवाद।
२. गांधीवाद।
३. फ्रायड।

प्रगतिवाद के यही वे स्रोत हैं जिनके द्वारा वह हिन्दी साहित्य में अवतरित

इनमें से मार्क्सवाद प्रमुख रूप से प्रगतिवाद का पोषक रहा है। कुछ कविगण मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों को मिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। फ्रायड के प्रभाव से उन्होंने नग्नता के चित्र यथार्थ की भूमि पर उकेर कर काव्य-जगत को आलोकित करने में भी कोई कसर नहीं छोडी। इन कवियों ने मार्क्स से प्रभावित होकर यह माना कि भौतिक ही वास्तविक है। उन्होंने सत्य-शिव और सुन्दर तीनों को भौतिक वास्तविकता माना है। उनकी दृष्टि में शिव क्या है ? भौतिक जीवन। सुन्दर ? स्वाभाविक एवं प्रकृत। फ्रायड ने शिव और सुन्दर की इस धारणा को और भी बल दिया और प्रगतिवाद में शरीर और वासना मुखर हो उठी।

संक्षेप में प्रगतिवाद की यही पृष्ठभूमि है। हां, डा० गोविन्द त्रिगुणायत जैसे अनेक विद्वानों ने इस पृष्ठभूमि पर प्रगति के आगमन का एक कारण और बताया है। उन्हीं के शब्दों में "ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिवाद का उदय छायावाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ।"

डा० प्रेमशंकर ने प्रगतिवाद को सम्पूर्ण छायावाद की प्रतिक्रिया न मान कर उत्तरवर्ती छायावादी गीत-सृष्टि जिसमें असामाजिकता भरी पड़ी थी, के प्रतिक्रिया स्वरूप प्रगतिवाद का आगमन स्वीकार किया है। लेकिन डा० नगेन्द्र ने इसे राजनीति का ही प्रतिपादक स्वीकार किया है। आपने लिखा है—"........व्यावहारिक रूप में प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक विचारधारा का ही उच्चार है, जो बलपूर्वक साहित्य द्वारा अपनी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति चाहता है।" इसीलिए उसमें रोटी-रोजी की समस्या का समाधान और दिशानिर्देशों की अभिव्यक्ति खूब हुई है। इससे प्रगतिवाद में सस्तापन आ गया है। किन्तु यह भी सकारण है। जब नेता लोग सामाजिक वैषम्य को मिटाने में असमर्थ दिखाई पड़े तो नये तरुण कवियों ने यह भार अपनी कलम पर सम्हालने के लिए साहित्य को राजनीति के स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया। अस्तु।

प्रगतिवाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—जैसा कि स्पष्ट रूप से ऊपर कहा जा चुका है कि प्रगतिवाद अधिक दिनों तक टिक नहीं सका। इसलिए कि उसमें चतुर्मुखी प्रवृत्तियों का उदय सम्भव नहीं था। फिर भी उसकी अपनी कुछ निजी प्रवृत्तियां अवश्य रही हैं। उनका निम्नलिखित ढंग से नामकरण और विवेचन किया जा सकता है—

१. परम्परागत रूढियों का विरोध—प्रगतिवादी साहित्यकार को ईश्वर की सत्ता, आत्मा, परलोक, भाग्यवाद, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि पर विश्वास नहीं है। उसकी दृष्टि में मानव ही सर्वोपरि है। उसकी दृष्टि में धर्म तो एक अफीम का नशामात्र है और प्रारब्ध या भाग्य एक धोखा है। वास्तव में उसकी दृष्टि में मन्दिर, मस्जिद और सभी तरह की प्राचीन रूढियां व्यर्थ हैं। प्राचीन विश्वासों और मर्यादाओं के सहारे जीने वाला प्राणी इस प्रगतिवाद की दृष्टि में तुच्छ है। इसी कारण से इसके कवि ने मिथ्या परम्पराओं पर करारी चोट की है—

"भ्रान्ति यह अतिरंजित इतिहास
व्यर्थ के गौरव गान

दर्प से एक महान्
अमर मुख म्लान
किसी को आर्य अनार्य
किसी को यवन
किसी को हूण यहूदी द्रविण
किसी को शीर्ष
किसी को चरण
मनुज को मनुज न कहना आह।"

२. **समाज के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण**—जनसमूह की आर्थिक विषमता एवं राजनीतिक चेतना से उत्पन्न इस काव्य की प्रवृत्ति सामाजिक यथार्थ का चित्रण करना है। इसके कवि की दृष्टि में उच्च समाज के आधार-स्तम्भ कृषक और मजदूर हैं। ग्रामीणजन और उनके ऊवड़-खावड़ खपरेल-छप्परों वाले घरों की नींव पर प्रासादों का निर्माण हुआ है। यह हिन्दी का पहला अवसर है जब उसने इस प्रकार के यथार्थ को सादर और साग्रह ग्रहण किया—

यह भारत का ग्राम, सभ्यता संस्कृति से निर्वासित।
झाड़ फूंस के विवर यही क्या जीवनशिल्पी के घर॥

वास्तव में प्रगतिवादी कवि ने कल्पना विलास नहीं किया उसने तो उसी धरती से अपना सम्बन्ध जोड़ा है जिससे उसने जन्म पाया है। इस काव्य के रचयिता कवियों को व्यक्ति और समाज के कटु सत्यों के सामने ऐश्वर्य, विलास और छायावादी सुमन, सुरभि, मादक वसन्त, चांदनी, तारों वाली रात, ओसों वाली घास आदि सभी फीके लगते हैं। पंत ने ताजमहल जैसे सौंदर्य तक के लिए लिखा है—

हाय! मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन।
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन॥

३. **शोषितों का करुण गान**—प्रगतिवादी कवि ने अपनी खुली आंखों से यह देख लिया था कि पूंजीवादी वैभव सभी कुछ किसानों और मजदूरों के बल पर टिका है। उसकी दृष्टि में यह बात जम गई थी कि शोषण अभिशाप है और इसका निवारण साम्यवादी विचारों से ही सम्भव है। आज मजदूर और किसान गरीबी और अमीरी के दो पाटों के बीच पिसते हुए दम तोड़ रहे हैं। यही कारण है कि प्रगतिवाद के कवि की लेखनी से शोषितों के प्रति विशेष सहानुभूति उमड़ी और उसने उनकी करुणा-गाथा का गान दर्दीले स्वरों द्वारा समाज तक पहुँचाने का जिम्मा अपने ऊपर ले लिया। अंचल ने लिखा है—

वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़े से आज गई बीती।
बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती॥

महाकवि निराला ने भी लिखा—

६. **मानवतावाद**—यह सामाजिक यथार्थ का ही शुभ परिणाम है कि कवि ने मानव और मानवता को अपने काव्य का आलम्बन बनाया है। इसी कारण कवि ने शोषित और पीड़ित वर्ग के लोगों को कर्म का संदेश सुनाया है। मानववाद को तो कवियों ने इतना महत्व दिया है कि उनकी दृष्टि में ईश्वर का अस्तित्व भी खतरे में दिखाई देता है। वह ईश्वर को भी चुनौती और फटकार देने लगा है। एक तरह से उसे ईश्वर के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं रहा है—

जिसे तुम कहते हो भगवान
जो बरसाता है जीवन में
रोग-शोक-दुख-दैन्य अपार
उसे सुनाने चले पुकार।

प्रगतिवादी कवियों के दो समुदाय हैं। एक तो वह जो मातृभूमि पर न्योछावर है और अपने देश में फैली हुई गरीबी, वेश्यावृत्ति और विधवा-प्रथा के उन्मूलन के लिए चिंतित है। दूसरा वह जो सभी प्रकार के अत्याचारों से मानव को मुक्त करना चाहता है। 'देश में आये धरा निखर, पृथ्वी हो सब मनुजों का घर' जैसी पंक्तियों में पंत ने यही बात दुहराई है। नरेन्द्र शर्मा की ये पंक्तियां भी इस सन्दर्भ में उल्लेख्य हैं—

जाने कब तक घाव भरेंगे इस घायल मानवता के।
जाने कब तक सच्चे होंगे सपने सबकी समता के॥

७. **वेदना और निराशा**—वैसे यह प्रवृत्ति छायावाद में भी प्रचुर मात्रा में मिलती है किन्तु प्रगतिवाद की वेदना और निराशा का स्वरूप उससे नितान्त भिन्न है। प्रगतिवाद की वेदना सामाजिक है जबकि छायावाद की वैयक्तिक थी। थोड़े शब्दों में समाज और व्यक्ति में जितना अन्तर है उतना ही दोनों काव्यों की वेदना और निराशा में भी है। प्रगतिवादी कवि संघर्षों को चुनौती देता है और कभी एकदम निराश हो जाता है। वर्ग-वैषम्य-जनित यह वेदना और निराशा प्रगतिवादी काव्य में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है।

८. **नारी का स्वरूप**—प्रगतिवादी कवियों ने नारी को भी शोषित माना है। वह पुरुष की दासी बन कर अपना अस्तित्व खो बैठी है। सामन्त युग के स्त्री-पुरुष-सदाचार का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित है। पंत ने पुरुष की वासना को तृप्त करने वाली नारी के स्वातन्त्र्य की गुहार लगाई है—

योनि नहीं है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित॥

इन कवियों ने वेश्या के प्रति भी सहानुभूति प्रकट की है। उन्होंने उसके वेश्या होने का दायित्व समाज पर ठहराया है। अंचल ने तो उसे आदमी की वासना का जीवित प्रतीक माना है—

माता बनी, दूध भर आया किन्तु न भरता पापी पेट।
जननी बन कर भी पशुओं के आगे नग्न सकेगी लेट॥

कवि ने यहां वासना के साथ ही अर्थ-विषमता, गरीबी से भी नारी का पतन होता है, यह स्वीकार किया है। कहीं-कहीं इसके चित्रण में इतनी यथार्थता आ गई है कि वह नीतिवादियों की दृष्टि में अश्लीलता तक की सीमा को भी पार कर गई है।

६. **प्रेम का स्वरूप**—कुछ आलोचकों की कलम से हर बार लिखा जाता है कि प्रगतिवादी कवियों के काव्य में शुष्कता और नीरसता का कारण प्रेम का अभाव है, किन्तु यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो इस काव्य में प्रेम का अभाव तो नहीं है, हां, अन्य सामाजिक समस्याओं के आगे प्रेम का रंग कुछ फीका अवश्य पड़ गया है। डा० रांगेय राघव ने लिखा है "प्रेम का अपना स्थान है। गतिशील लेखकों ने प्रेम के प्रति प्रायः उदासीनता दिखाई है, क्योंकि उन्होंने प्रेम को बुर्जुआ वर्ग की विरासत माना है। उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष का प्रेम वर्गीय संस्कृति का अवशेष है। मनुष्य की सत्ता का सबसे जीवन्त भाग उनकी दृष्टि में अलग रहा है। यह सब ठीक है कि प्रेम मूल प्रवृत्ति होते हुए भी समाज पक्ष में अपना रूप निरन्तर युगों से बदलता रहा है। किन्तु वह प्रेम का वाह्य पक्ष है। वह पक्ष क्योंकि स्त्री और पुरुष की सामाजिक स्थिति पर टिका हुआ है इसलिए उसका विरोध करना भी ठीक है।" वास्तव में प्रेम जीवन में प्रेरणा देता है और उस रूप को न देखना भी एक अपूर्णता का प्रतिबिम्ब है। दो मनुष्यों की चेतना का यह समाश्रय प्रेम जब हृदय में उत्पन्न होता है, तब व्यष्टि की भूमि में समष्टि का बीज पड़ता है और एक व्यापकता सामने आती है—

कि चूम लिया तुमने प्यार से मेरी मुग्ध मुंदी पलकों को
कि पुलकित हो ज्यों ही आंखें खोल कर देखा मैंने
तुम्हारा यह अमिताभ मुख-मण्डल
कि लो, खुल पड़े
सत्ता के अगम देवालय के वातायन
अरे, यह मैं क्या देख रहा स्वप्न है कि सत्य है यह?
तुम्हारे हृदय-पद्म से उफन रहा ज्योतिर्मय
जीवन का आदि स्रोत
शिशु की मुस्कान-सी निर्मल यह मुग्ध धार
मानव की चिरकाम्या
तुम्हारे प्यार की संजीवन सुधा-धारा

ऐसे ही प्रेम के सम्बन्ध में डा० रांगेयराघव ने लिखा है—"इस प्रेम में छायावादी दुरूहता नहीं है। इसमें रूप एक जाल नहीं, जो कि जीवन को एकांगी बना रहा हो। यह तो उसकी वास्तविकता का आभास दे रहा है।"

१०. **सामयिक समस्यायें**—प्रगतिवादी कवि यह कभी नहीं भूलता कि उसके समकालीन जीवन में कौन-कौन-सी प्रतिक्रियाएं और परिस्थितियां चल रही हैं। संस्कृति और मानवता के पुजारी के लिए यह आवश्यक भी है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान-विभाजन, काश्मीर-समस्या, बंगाल का अकाल, मंहगाई, दरिद्रता, बेकारी, चरित्र-हीनता आदि अपनी सामयिक समस्याओं को उसने काव्य का मूलाधार बनाया है। इनके साथ राष्ट्रपिता के लिए भी वह आंसू बहाये विना नहीं रह सका है—

"बापू मरे........
अनाथ हो गई भारत माता........
अब क्या होगा........?"

कहीं-कहीं वह चुटीले व्यंग्य भी करने से नहीं चूका है। नागार्जुन की ये पंक्तियां देखिये—

"कागज की आजादी मिली
ले ले दो दो आने में।"

११. **साम्राज्यवाद का विरोध**—प्रगतिवादियों ने अपने एक घोषणा-पत्र में साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए स्पष्ट लिखा था "प्रगतिशील साहित्य सदा साम्राज्य विरोधी होता है।" इससे स्पष्ट है कि यह काव्य सिद्धांत-मूलक हो गया था और सिद्धांत राजनीति को लेकर खड़े किए गए थे। यहां तक तो काव्य को कोई क्षति नहीं पहुँचती थी जहां तक कवि शोषितों के उद्धार को लेकर मानववाद और मानवता का पोषण कर रहा था। लेकिन इस प्रकार के सिद्धांतों ने काव्य को रागात्मकता से बहुत दूर ले जाकर खड़ा कर दिया था।

१२. **प्रचार करने के लिए साहित्य-सर्जन**—लेलिन ने अपने ग्रन्थ 'On Art and Literation' में यह मत व्यक्त किया था कि साहित्य प्रचार का एक सर्वश्रेष्ठ मान साधन है। अपने गुरु के वाक्य को इन कवियों ने ब्रह्मवाक्य समझ कर प्रचार और प्रसार के लिए साहित्य को एक माध्यम के रूप में प्रयुक्त करने में कहीं भी हिचक महसूस नहीं की। किन्तु हिन्दी-काव्य के सौभाग्य से महाकवि दिनकर ने इस प्रवृत्ति की भर्त्सना की और अपने ग्रन्थ 'मिट्टी की ओर' में लेनिन के मत का खण्डन करते हुए लिखा कि—"साहित्य जब प्रचार का साधन बन जाता है तो उसमें साहित्यिकता नहीं रहती।" डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इस प्रकार के सिद्धांत-प्रचार की प्रवृत्ति को अनुचित बताया। उन्होंने अपनी पुस्तक "हमारी साहित्यिक समस्याएं" में लिखा है "साहित्य का लक्ष्य साहित्य को संवेदनशील बनाना है, सिद्धांतों को रटाना नहीं।"

डा० नगेन्द्र ने प्रगतिवाद की इसी प्रवृत्ति पर आक्षेप लगाते हुए लिखा है "वास्तव में अपने मूल रूप में जीवन का एक दृष्टिकोण होते हुए भी, व्यावहारिक रूप में प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक विचारधारा का ही उच्चार है, जो बल

ाहित्य द्वारा अपनी प्रत्यक्षाभिव्यक्ति चाहता है। इसलिए इसमें प्रायः वही सामयिक त्साह और प्रचार भावना मिलती है, जो सम्प्रदायों में सर्वत्र पायी जाती है। .... झे सबसे बड़ी आपत्ति प्रगतिवाद के मूल्यों से ही है, वह साहित्य और पैदावार का ीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे रोटी-पानी या जीवन के सामयिक प्रश्नों को हल रने का सीधा साधन मानकर बहुत ही सस्ता बना देता है।"

प्रगतिवादी कविता में रस—'रस' काव्य की आत्मा है। वही वाक्य काव्य ी कोटि में आ सकता है जो रसमय हो। युगों से अब तक साहित्य की कसौटी के प में, उसके मूल्यांकन के मूलाधार के रूप में 'रस' या आनन्द विभिन्न रूपों में मीक्षकों द्वारा एकमात्र मापदण्ड के रूप में ग्रहण होता हुआ चला आ रहा है। डा० गेन्द्र के शब्दों में "साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी जो अब तक चली आयी है वही ीक है—अर्थात् आनन्द।........हमें जो साहित्य जितना ही गहरा और स्थायी आनन्द सकेगा उतना ही वह महान होगा चाहे उसमें किसी सिद्धांत का—साम्यवाद, गांधी-ाद, मानववाद, पूंजीवाद, किसी भी वाद का—समर्थन हो या विरोध।....जिसमें स नहीं है वह अपने उच्च सिद्धांतों या किसी भी अन्य कारण से काव्य से भी ऊंची स्तु हो जाय पर काव्य नहीं हो सकता।"

लेकिन खेद है कि प्रगतिवाद ने यथार्थवाद की दुहाई देते हुए, मार्क्सवाद का ारा लगाते हुए काव्य की आत्मा 'रस' को तिलांजलि दे दी। डा० त्रिगुणायत ने इस म्बन्ध में लिखा है कि—"प्रगतिवादी कविता में रस ढूंढने वालों को निराश ही होना ड़ेगा। पंत, निराला आदि दो एक पुराने खेवे के कवियों को छोड़कर अन्य कवियों में रस-धारा के स्थान पर रस-बूंद भी नहीं मिलेगी। हां, रसवंती आदि नाम अवश्य मिल जायेंगे।" आगे उन्होंने बताया है कि प्रगतिवाद में रसाभास मिल सकता है। प्रगतिवादी काव्य कुरुचिपूर्ण वासना के नग्न वर्णनों से साधारण नवयुवकों का क्षणिक अवसादन-प्रसादन भले ही कर दे, हृदय को मुग्ध नहीं कर सकता। डा० साहब ने रसानुभूति के चार प्रकार बताते हुए लिखा है—"प्रगतिवादी साहित्य बहुत निम्न कोटि की रसानुभूति की अवस्था उत्पन्न करता है। मैं रसानुभूति की चार कोटियां मानता हूं। उन्ही के आधार पर रसानुभवकर्त्ताओं के भी चार प्रकार होते हैं—

१. लम्पट
२. रसिक
३. सहृदय
४. आत्मानंदी।

इन चारों की उपस्थिति सिनेमा गृह में बताते हुए डा० साहब ने चारों का परिचय देते हुए विस्तार से स्पष्ट किया है कि लम्पट आत्मबोधहीन होता है। उसकी रसानुभूति बांध तोड़ कर फूटती है। रसिक भाव विभोर होकर एक दूसरे से छेड़खानी

करता है। सहृदय भाव-मग्न होता है। आत्मानन्दी सच्चा रसानुभव-कर्त्ता है, भावलीन होकर डूब जाता है।"

विद्वान समीक्षक के अनुसार "प्रगतिवाद में हमें लम्पटों की कोटि की रस भूति होती है। इसीलिए प्रगतिवादी साहित्य अधिक प्रभावोत्पादक और स्थायी नहीं सकेगा ऐसी मेरी धारणा है।" इसके मूल कारण पर प्रकाश डालते हुए डा० न ने बताया है कि "प्रगतिवाद साम्यवाद का पोषक है ......। बल्कि यों कहिये प्रगतिवाद साम्यवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है।" और साम्यवाद जीवन के एक दृष्टिकोण मात्र है—"दूसरे यह एक परीक्षणविधि मात्र है मूल्यांकन की क नहीं। इस नयी विधि का प्रयोग हमें रस परीक्षण के ही लिए, इसकी सीमाये स्वीकार करते हुए करना चाहिए।" अर्थात् प्रगतिवाद की आत्मा रस नहीं, मार्क्स है। दोनों में मूलतः ही विरोध है। रस काव्य की आत्मा है। उसके मूल्यांक कसौटी है। जबकि मार्क्सवाद भौतिक जीवन का आधार है वह काव्य में ग्रहण किया जा सकता है लेकिन रस की सीमाओं में होकर। प्रगतिवाद ने ऐसा नहीं कि करता भी कैसे? "इसका दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक आलोचनात्मक है। अतएव स्वभाव से ही उसमें वह तन्मयता या आत्म-विर्सजन है, जो काव्य के लिए अनिवार्य है।" प्रमाण के लिए एक दो पंक्तियां देखिये—

लुच्चे टुच्चे उल्लू के बच्चे पूंजीपति।

× × × ×

आधा शिशु बाहर था आधा अन्दर।

× × × ×

चली जा रही बढ़ती लाल सेना
मास्को अब दूर नहीं है।

इनमें से ऐसा कौनसा वाक्य, वाक्य न सही तो कौनसा शब्द ऐसा है रस न हो तो कोई भाव ही हृदय को छूने में समर्थ हो। प्रगतिवादी काव्य ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

निष्कर्ष यही है कि प्रगतिवादी कविता कविता का बाना उतार कर क्रान्ति यथार्थ के धागों से बनी हुई खुरदरी नग्न ओढनी को ओढकर गला फाड़-फाड़ कर लोक-प्रियता और सिद्धान्तों के प्रचार के लिए थोडी देर मंच पर रहकर लुप्त हो लेकिन कहीं-कहीं वह रस के छींटे भी छिटकाती जाती है।

प्रगतिवादी काव्य में अलंकारः—जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट प्रगतिवादी कवि अपने समाज की दयनीय स्थिति से व्याकुल है। वह ऐसी स्थि समूल मिटाने के लिए संघर्ष कर रहा है। फिर भला संघर्ष की राह में भटकते हु कवि को सिवाय लक्ष्योन्मुख होने के और सूझ भी क्या सकता है? अतः उसके में अनुभूति की सच्चाई किन्तु उसकी कच्चाई के साथ-साथ हड़बड़ाहट में अनि भी अधिक सशक्त नहीं हो सकी है। इन कवियों ने सरलता और सहजता को अप

है। वह वर्ण्य वस्तु के स्वभाव, क्रिया आदि का जैसे का तैसा वर्णन करने वाली स्वभावोक्ति का कवि है। उसमें छायावादी कवि की सी उन्नत कल्पना शक्ति का अभाव दिखाई देता है। कहने का अर्थ यह है कि प्रगतिवादी काव्य में अलंकारों को महत्व नहीं दिया जा सका है। यही नहीं, इन कवियों ने तो संस्कृतनिष्ठ शब्दावली के प्रति भी विद्रोह किया है। प्रगतिशील कवियों ने कविता में भाषा, भाव, कल्पना, अलंकार आदि सभी क्षेत्रों में सहजता और स्वाभाविकता को ग्रहण किया है। कवि का लक्ष्य राजनीति और जन-समाज के विचारों को बिना किसी लाग-लपेट के व्यक्त कर देना है। पंत ने अलंकारों को व्यर्थ का भार माना है—

तुम वहन कर सको जन-जन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार॥

श्री नगेन्द्र शर्मा अलंकारों को तोड़ कर उन्हें फेंक देने के पक्ष में है—क्योंकि
"ये अलंकार
वह भार मोह के वन्धन हैं,
दे तोड़ उन्हें।"

डा० त्रिगुणायत ने इस प्रगतिवादी प्रवृत्ति को उचित न बताते हुए लिखा है- "मैं प्रगतिवादियों से उस दिशा में केवल इसी अर्थ में सहमत हूँ कि प्रगतिवादी कवि को अपनी कविता को प्रयत्नज और अनावश्यक अलंकारों से नहीं लादना चाहिए। किन्तु अभिव्यक्ति और वाणी में वह सहज चमत्कार होना चाहिये जो सहज अलंकारों द्वारा उद्भूत होता है।" लेकिन प्रगतिवादी डा० रामविलास शर्मा यह मानते हैं कि अलंकार समाज-हितैषी साहित्य को उत्पन्न नहीं कर सकते। यह धारणा किसी भी रूप में साहित्यिक नहीं कही जा सकती। और न ही इसमें कोई अन्य तथ्य ही ऐसा दिखाई देता है, जिसके आधार पर इसे वहुत महत्व की वस्तु समझा जा सके।

सन्तोष की वात है कि यह प्रगतिवाद एक-दो ऐसे कवियों की कलम को ही शृङ्गार गौरव पा सका जो छायावादी थे। पंत और निराला ऐसे ही कवि हैं। इन कवियों के काव्य में सहज और रमणीय अलंकारों के प्रयोग ने प्रगतिवाद के काव्य सौंदर्य को क्षीण होने से वचा लिया। पंत की 'ग्राम-युवती' नामक कविता की इन पंक्तियों में देखिये उपमादि अलंकार कितने सहज ढंग से समाविष्ट हो गये हैं—

"उन्मद यौवन उभर
घटा सी नव प्रसाद से सुन्दर
अति श्याम वरण
श्लथ भेद चरण
इठलाती आती ग्राम-युवती
वह गज-गति
सर्प डगर पर।"

प्रगतिवादी काव्य में छन्दः--प्रगतिवादी कवि को छन्द-बन्धन स्वीकार नहीं वह अन्य बन्धनों—नीति, रीति, अलंकार, रस की भांति ही छन्द-बन्धन को भी तो डालने के पक्ष में है। पंत ने तो यह घोषणा भी करदी थी—

'खुल गये छन्द के बन्ध
प्रास के रजत-पाश।'

और इन बन्धनों से मुक्त होकर युगवाणी सहज अनायास ढंग से प्रवाहित हो लगी है। डा० त्रिगुणायत ने छन्द और भाषा पर संकेत रूप में प्रकाश डालते हु लिखा है--"उन्होंने स्वतन्त्र छन्दों की योजना की है और नये से नये ढंग से लिखने प्रयास किया है। भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण इनका अपना अलग है। वे भाषा में प्रसा प्रवाह और सरल प्रयोगों के अनुयायी हैं।" भाषा को किसी प्रकार के चमत्कारों लादना नहीं चाहते और न ही अनुभूति को छन्दों के कठोर बन्धन में फंसाकर उसे बना कर काव्य में उतारना चाहते हैं। यथार्थवादी और रूढ़ि-विरोधी होने के कार ये कवि हर क्षेत्र में उन्मुक्तता को ही अपना ध्येय मानकर चले हैं।

निष्कर्ष--उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१. प्रगतिवाद साम्यवाद के भौतिकवादी दृष्टिकोण पर आधारित है।

२. यह साहित्य को सामूहिक चेतना मानता है, व्यक्ति चेतना नहीं।

३. प्रगतिवाद एक ही मूल्य को महत्व देता है। वह है--जनहित।

४. डा० नगेन्द्र के शब्दों में--"उसकी अलंकरण सामग्री सूक्ष्म कोमल चुनी हुई नहीं है, वह स्थूल और प्राकृत है। एक शब्द में, उसकी कला विल रूप-रंग, रोमांस से प्रेम नहीं करती।

५. इसी तरह प्रगतिवाद की शब्द-योजना में भी प्राकृत जन-जीवन अनगढपन मिलता है रीतकाल की पालिश और छायावाद की अमूर्त मधुचर्या नहं

प्रगतिवाद की अभिव्यक्ति में यह रूक्षता और तीखापन इसलिए आ गय क्योंकि प्रगतिवाद भावात्मक न होकर आलोचनात्मक और प्रचारात्मक अधिक हो है। किन्तु यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने व साहित्य भावात्मक कैसे हो सकता है। और दूसरे यह कि प्रगतिवाद अपनी बाल्याव में ही साहित्य-मंच से संन्यास लेकर चल दिया। प्रगतिशील अन्य देशों में भी देखा तो वहां भी प्रगतिशील काव्य में सृजन कम और आलोचना अधिक देखी जा स है। हिन्दी में इस आलोचनात्मक दृष्टि के कुछ अन्य कारणों की ओर भी डा० न ने संकेत किया है—

१. "हिन्दी कवियों का दृष्टिकोण अभी वैज्ञानिक अर्थात् भौतिक एवं बौ नहीं बन पाया। अभी वह अधिकांश में भाव प्रधान है।" अर्थात् साहित्य में प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के पूर्ण रूप से स्थायी न होने के कारण आलोचनात्मक दृष्टिकोण बना रहा।

२. हिन्दी में अभी सामाजिक चेतना इतनी प्रबल नहीं हुई है कि व्यक्तिगत तिक्रियाएं उसमें लय हो जायें। अभी अधिकांश कवियों में वैयक्तिक गीततत्व की चुरता है।

३. छायावादी प्रवृत्तियां बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों और प्रोपेगण्डा के रिणामस्वरूप दब गईं। यानी छायावाद की अकाल मृत्यु हुई थी। प्रगतिवाद-छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोट कर ही उठ खड़ा हुआ।

४. अधिकांश प्रमुख प्रगतिवादी कवि कल के छायावादी कवि ही थे। इसीलिए प्रयत्न करने पर भी छायावाद का वह क्षयी रोमांस उभर ही आता था।

५. प्रगतिवादी लेखक उस जीवन से दूर है जो उनकी प्रेरणा के मूल स्रोत हैं। उन्होंने पढ़कर लिखा है, प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर नहीं। इसीलिए हिन्दी में इस साहित्य के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि ने जन्म लिया।

आगे चलकर गांधीवाद ने भारत में साम्यवाद की जड़ों को हिला दिया। फलस्वरूप यह प्रगतिवादी काव्य स्थिर नहीं रह सका। स्वतंत्रता के बाद तो जैसे यह धारा एकदम लोप ही हो गयी है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रगतिवाद ने अपने भविष्य को साम्यवाद के हाथ में सौंप दिया था और भारत में साम्यवाद के प्रति जो थोड़ा बहुत आकर्षण था उसे कांग्रेस की नीतियों, यहां कम्युनिस्टों की राष्ट्रद्रोही विचारधारा तथा चीन की बर्बरता ने एकदम समाप्त कर दिया। इन्हीं कतिपय प्रभावों को देखने पर ही डा० नगेन्द्र ने इस साहित्य के सम्बन्ध में यह धारणा बनाई थी कि--"एक और आक्षेप जो प्रगतिवाद के मूल सिद्धान्तों पर किया जा सकता है, यह है कि इसका दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक एवं आलोचनात्मक है। अतएव स्वभाव से ही उसमें वह तन्मयता या आत्म-विसर्जन नहीं है जो काव्य के लिए अनिवार्य है।' वास्तव में प्रगतिवादी कविता में जीवन की स्थूल समस्याओं के विवेचन ने साहित्यिकता को समाप्त कर दिया। इस काव्य में सिद्धान्तों के मनन करने से ही काव्य-सृजन की प्रवृत्ति ने अनुभूतियों को कच्ची और अभिव्यक्ति को अशक्त बना दिया।

और अन्त में यह साहित्य एकांगी था। इसमें ढोंग तो सामाजिक होने का भरा जाता था लेकिन वस्तुतः यह श्रमिक, नंगे, भूखे लोगों तक ही सीमित था। आत्मा में ही विरोधाभास होने के कारण इसका प्रभाव क्षीण रूप में या अस्थायी रूप में मन पर पड़कर पानी के बुलबुले या ओस की बूंद के समान क्षण भर में ही समाप्त हो जाता था। और आज तो इसका मूल रूप में कोई महत्व रह ही नहीं गया है।

१५
प्रयोगवादी कविता

१. प्रयोगवाद-सूत्रपात और अर्थ
२. पृष्ठभूमि—सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक
३. प्रयोगवाद और नई कविता
४. नयी कविता के आधार
५. नयी कविता के प्रमुख कवि
६. नयी कविता का शिल्प
७. विषयगत प्रवृत्तियां
८. उपसंहार—उपलब्धि और अभाव।

प्रयोगवाद का अर्थ:—हिन्दी काव्य-धारा के अन्तर्गत प्रयोगवाद की चर्चा अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार-सप्तक' के प्रकाशन के साथ प्रारम्भ हुई। 'प्रतीक' के प्रकाशन का सहारा पाकर जैसे यह नया वाद उठ खड़ा हुआ और आगे चलकर 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन ने इसका विकसित रूप ही प्रस्तुत नहीं किया अपितु नया संस्कार कर डाला। प्रयोगवादी धारा को समर्थन देने वाले पत्रों में पटना से प्रकाशित 'दृष्टिकोण' और 'पाटल' का विशेष हाथ रहा है।

'प्रयोग' शब्द अंग्रेजी के Experiment के वजन पर अपना रूप संवारने में सफल हुआ है किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि अंग्रेजी में कोई 'एक्सपेरीमेन्टलिज्म' नामक वाद चला था। उर्दू, बंगला में भी नये ढंग की कविता का सृजन सिंचन हुआ, किन्तु वहां कोई नवीन वाद न चल सका। डाक्टर नामवरसिंह के शब्दों में "यह हिन्दी की अपनी विशेषता है।" प्रयोगवाद की भावना कवियों और पाठकों में बड़ी तेजी से फैली और वे यह समझने लगे कि इस काव्य के मूल में प्रयोगों की नवीनता पर विशेष बल है। यह बात सच अवश्य है कि प्रयोगवाद में प्रयोगों की विशिष्टता दिखाई देती है, किन्तु इससे आगे बढ़कर भी प्रयोगवाद ने अपना स्वरूप संभाला।

प्रयोगवाद के सम्बन्ध में हिन्दी के पाठकों ने जो धारणाएं निश्चित कीं वे कुछ इस प्रकार हैं—

१. प्रयोगवाद ह्रासशील भावना की कविता है।
२. यह प्रगतिवाद या प्रगतिशील भावना से अलग है।
३. इसमें कुछ कविताएं प्रयोग के लिए प्रयोग हैं।
४. प्रयोगवाद की कुछ कविताएं काव्य-शिल्प की दृष्टि से काफी अनगढ़ और दीक्षागम्य हैं।

५. प्रयोगवादी कविता के ही क्षेत्र में नहीं बल्कि साहित्य के अन्य रूपों में भी किसी न किसी नाम-रूप से मौजूद है।

तारसप्तक के संपादक ने लिखा था कि 'प्रयोगवाद के कवियों के एकत्र होने कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए ो हैं, अभी राही हैं—राही। नहीं, राहों के अन्वेषी। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का ष्टकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है। दावा केवल इतना है कि वे सातों वेषी हैं।' इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि प्रयोगवादी कवि अन्वेषक थे र दूसरी यह कि अन्वेषण के दौरान प्रयोगों की ओर भी इनकी प्रवृत्ति थी या यों हिये कि अन्वेषण में प्रयोग की भावना निहित है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "प्रयोगवादी साहित्यिक से धारणतः उस व्यक्ति का बोध हो जाता है जिसकी रचना में कोई तात्विक अनुभूति, ई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सृजन और तिदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली प्रसाधन ही उसकी विशेषता होती। अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चय और उद्देश्यहीनता की भावना वह उत्पन्न करता है। स्रष्टा और सन्देशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्ता ात्र होता है।"

आचार्य जी का यह मत उनकी मानसिक प्रवृत्ति का परिचय देता है। वास्तव प्रयोगवाद काव्य-शिल्प के क्षेत्र में जो क्रान्ति लेकर आया था और वस्तु के क्षेत्र में ो नवीन राहें खोल रहा था उसे पूर्वाग्रहों से ग्रसित होने वाले आचार्यजी ा नहीं पाये और इस प्रकार की बातें कह गये। आचार्यजी ने अपनी मान्यताओं को स प्रकार प्रस्तुत किया—

१. प्रयोगवादी रचनाएं पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं। वे तिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं।

२. प्रयोगवादी रचनाएं वैचित्र्यप्रिय हैं। वृत्ति का सहज अभिनिवेश नमें नहीं।

३. प्रयोगवादी रचनाएं वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और ामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा नहीं करती।

प्रयोगवाद आधुनिक कविता की नव्यतम शैली के रूप में प्रकट हुआ। इन वियों ने नयी अनुभूतियों को समाज तक प्रेषित करने के लिए नवीन शिल्प को पनाया, नये प्रयोग किये। अतः नये सत्य और नवीन प्रयोगों को अभिव्यक्त करने ाली काव्य-धारा ही प्रयोगवाद कहलाई। प्रयोगवादी कलाकार वस्तु और शैली में वीन और क्रान्तिकारी परिवर्तन लेकर चला। इन कवियों को नयी अनुभूतियों से सजी ़न्दगी को व्यक्त करने के लिए पुरानी भाषा, अलंकार और छन्द सभी कुछ 'अनफिट' े। अतः काव्य क्षेत्र में

३. छांदिक दृष्टि से मुक्त छन्द को विशेष प्रोत्साहन मिला।

प्रयोगवादी कवि इसी नवीनता का पुजारी बनने के कारण नये प्रयोगों की ओ आकर्षित हुआ। कारण स्पष्ट है—छायावाद तो समाज से अलग जा पड़ा औ प्रगतिवाद समाज की गोद में खेलते रहने पर भी प्रचारक बन गया, शिल्प के प्र उदासीन रहा और इसी से प्रगति की पगडंडी पर न चल पाया। प्रभाकर माचवे क कथन है—"आधुनिक हिन्दी कविता में आत्मरति, मृत्यु से प्रेम और सकेतों से स्वप्नपू की आदत के कारण घोर अनिश्चय, तीन दोष Autoerotism, Necrophili और Aboulia इतने स्पष्ट हैं कि इन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं छायावाद हिस्टीरिया की भांति एक मानसिक रोग है। दोनों में स्मृतियों की प्रच्छन्न औ अज्ञात पुनरावृत्ति तथा तज्जन्य अहेतुक त्रास दिखाई देते हैं, अतः एक तरुण स्वस्थमन कवि के लिए छायावाद का माध्यम स्थविर, स्रैण और Spent up जान पड़ता है।"·········प्रगतिवाद में एक अनावश्यक प्रदर्शन-प्रियता "दमित इच्छाओं से निर्मि होने वाला, औद्धत्य की सीमा तक पहुंचाने वाला परपीडन, प्रेम और प्रचार के विद्र कुनैन पर कला का शर्करावरण पहनाने की या राजनीतिक पक्ष विशेष की 'माइक कविता बनाने की प्रवृत्ति आदि दोष रह गये हैं" इस कथन से माचवेजी ने छायावा और प्रगतिवाद की दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है।

पृष्ठभूमि और प्रेरणा-स्रोत:—जब किसी काव्य-धारा के प्रति प्रतिक्रिया होती है तो काव्य और समाज दोनों में परिवर्तन होता है। परिवर्तन की राह पर चल वाली काव्य-धारा सदैव नयी भंगिमाओं से युक्त होती है। हिन्दी काव्य को ही लीजि, जब द्विवेदीयुगीन काव्य के प्रति छायावादी कवियों ने प्रतिक्रिया व्यक्त की थी तो का में सभी दृष्टियों से परिवर्तन आया— विषय, वस्तु और शैली सभी बिन्दुओं पर ए अनोखा लावण्य दिखाई दिया। छायावादी काव्य ने जो प्रतिक्रिया व्यक्त की थी उ कई कारण थे। एक तो द्विवेदीयुगीन काव्य शुष्क नीरस और उपदेशात्मक तत्वों से था। ऐसी स्थिति में सरल और काव्यात्मक प्रयत्नों की आवश्यकता थी जिसकी छायावाद ने की। दूसरे छायावाद से पहले काव्य के बाहरी जीवन पर काफी जा चुका था, अतः कवि का मानस अब बाह्य से हटकर अन्तस् की ओर मुड़ गया

इस प्रतिक्रिया स्वरूप जन्मे छायावादी काव्य में अतिशय कल्पना, और सौंदर्य की कोमलता इतनी बढ़ी कि वास्तविकता से दूर हटकर काव्य विलाससा हो गया। छायावाद ने इसी कल्पना-लोक के फेर में पड़कर मोहक की सृष्टि की जो स्वप्न, भावुकता और कल्पना की सीमा में ही घूमती रही। ने ठीक लिखा है कि "जन-रुचि ने मांग की कि कविता स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म धारण करे तथा उड़ान में वह इतनी समर्थ हो कि उसके पाठक भी कल्पनालो विचरण कर सकें।"

छायावाद में विषय-वस्तु को तो नवीन रूप दिया ही गया साथ ही भाषा, छन्द और शैली को भी नवीनता का बाना पहनाया गया। छायावाद ने

ने भी उपेक्षा सी की या यों कहिये कि कल्पना-विलासी जीवन का अभ्यस्त छायावाद समाज की आवश्यकताओं से मुंह मोड़ बैठा। एक बात यह भी है कि छायावाद में जिस सौंदर्य की सृष्टि हुई वह केवल कोमल पक्ष था उसके परुष पक्ष की ओर, जो वास्तविक है, दृष्टि गई ही नहीं। द्विवेदीयुगीन काव्य-भाषा जो छायावाद में परिष्कार पा सकी वही इतनी कृत्रिम और स्वप्निल सी हो गई कि उसका कोई सम्बन्ध जन-जीवन से नहीं रह गया।

प्रयोगवादी कविता के उद्भव के कारणों का उल्लेख करते हुए श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा—'प्रथम तो छायावाद ने अपने शब्दाडम्बर में बहुत से शब्दों और बिम्बों के गतिशील तत्वों को नष्ट कर दिया था। दूसरे प्रगतिवाद ने सामाजिकता के नाम पर विभिन्न भाव-स्तरों एवं शब्द-संस्कारों को अभिधात्मक बना दिया था। ऐसी स्थिति में नये भाव-बोध को व्यक्त करने के लिए न तो शब्दों में सामर्थ्य थी और न परम्परा से मिली हुई शैली में। परिणामस्वरूप उन कवियों को, जो इनसे पृथक् थे सर्वथा नया स्तर और नये माध्यमों का प्रयोग करना पड़ा।

इससे स्पष्ट होता है कि प्रयोगवाद छायावाद और प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप जन्मा माना गया है। डा०नगेन्द्र के ये शब्द भी बड़े ध्यान देने योग्य हैं–'शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्व और रूप-आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असन्तोष हो गया था। धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की वैयक्तिक-वृत्ति और उसी के अनुरूप अत्यन्त सीमित काव्य-धारा सामग्री और शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। भाव-वस्तु में छायावाद की तरल अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक, सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की मांग हुई दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का जोर बढ़ा और शैली-शिल्प में छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म कोमल काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक् हो गये। एक वर्ग ने सचेत होकर निश्चित सामाजिक, राजनैतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा, उसने किसी राजनीतिकवाद की दासता स्वीकार नहीं की वरन् काव्य की वस्तु और शैली-शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा आज के अनेकरूप अस्थिर, चिर प्रयोगशील नवीन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवाद और दूसरे को प्रयोगवाद नाम दिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों का पार्थक्य सर्वथा स्थिर और सीमा रेखाएं एकान्त दृढ़ नहीं है। साहित्यिक वर्गविभाजन में यह कभी सम्भव नहीं होता अनेक प्रगतिवादी शैली-शिल्प के प्रयोगों के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं, उधर अनेक प्रयोगवादियों की भाव भूमिका पर ...

उद्देश्य का है—पहला वर्ग जहां सामाजिक चेतना की जागृति को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानता है, दूसरा अर्थात् प्रयोगवादी वर्ग वहां वस्तु और शैली दोनों में ही चिर प्रयोगशीलता को प्राथमिकता देता है।"

यह बात भली-भांति स्पष्ट है कि प्रयोगवादी काव्य नवीनता का पक्ष लेकर चला और इसी प्रक्रिया में प्रयोगों की प्रवृत्ति बढी। प्राचीन रूढ़ियों और संस्कारों से जब मनुष्य ऊब जाता है तब वह नवीनता की ओर उन्मुख होता है। जीवन और जगत के सौंदर्य के मानदण्डों के समान साहित्य-सौंदर्य की अभिव्यक्ति के मानदण्ड भी बदलते रहते हैं। नयी कविता से पहले की हिन्दी कविता रूढ़िबद्ध और परम्पराग्रस्त हो चुकी थी। नयी कविता ने अपनी जीवन-मान्यताओं से प्राचीनता के प्रति संघर्ष किया। पुरानी कविता समाज के साथ कदम मिलाकर नहीं चल रही थी, परिणामतः उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए नई कविता का उद्भव हुआ।

स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद और उसकी विकसित काव्य धारा निम्न कारणों से उद्भूत हुई—

१. प्रयोगवाद पुरानी वस्तु के प्रति उपेक्षा बरतता है।

२. पुरानी रूढ़ियों और आदर्श मान्यताओं में परिवर्तन की प्रवृत्ति के कारण।

३. जीवन और जगत को नई दृष्टि से देखकर अभिव्यंजना में नवीन प्रतीक नये बिम्ब और उपमानों की योजना।

प्रयोगवाद या नई कविताः—प्रयोगवाद और नई कविता को लेकर भी हिन्दी साहित्य-जगत में पर्याप्त चर्चा रही है। कुछ विद्वानों ने प्रयोगवाद और नई कविता को अलग-अलग माना है तो कुछ ने दोनों को एक ही समझा है। कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जिन्होंने प्रयोगवाद को रूपवाद या फार्मालिज्म का पर्यायवाची स्वीकार किया है। इस वर्ग के लोगों का कथन है कि यह साहित्य यूरोपीय साहित्य की जूठन है—प्रथम युद्धोत्तर कालीन पाश्चात्य साहित्य में जिस तरह का व्यक्तिवाद अनेक साहित्यिकवादों और प्रवादों की दुहाई देता हुआ व्यक्त हुआ और उसने काव्य की भाषा, वस्तु-विन्यास और व्यंजना में जैसे चित्रित बौद्धिक प्रयोग किये, कुछ उससे मिलती-जुलती या प्रभावित हिन्दी की तथाकथित प्रयोगवादी कविता भी है। यह बात तो मानी जा सकती है कि प्रयोगवाद अंग्रेजी साहित्य या पाश्चात्य साहित्य से प्रभाव ग्रहण करके विकसित हुआ किन्तु उसको मात्र अनुकरण कहना या जूठन कहना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता है। प्रोफेसर हरिचरण शर्मा के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—"प्रयोगवाद विदेशों से प्रभावित होकर भी इसी धरती से उगा पौधा है जिसकी जड़ों में भारत का पानी है और यहां की मिट्टी है। हां, इसे बाहर का प्रकाश मिला हो तो केवल उसी आधार पर हम उसे ऐसा पौधा नहीं कह सकते जो विदेश से लाकर भारत में लगाया गया है।"

नामकरण और आधारः—प्रयोगवाद का नाम उसकी प्रयोगशील प्रवृत्ति को देखकर पड़ा था। नई कविता प्रयोगवाद से भिन्न कोई दूसरी चीज नहीं है। यह तो इसी की विकसित काव्यधारा है। १९४३ से ५० तक साहित्य में जो प्रयोग हुए

उनको विकास देने में और समुचित मूल्य प्रदान करने में नई कविता का विशेष हाथ रहा है। प्रयोगवाद प्रयोगों की प्रारम्भिक अवस्था है और नई कविता उसकी बाद की विकसित स्थिति। अतः दोनों का लक्ष्य एक है, दोनों एक हैं भिन्न नहीं। दोनों की काव्यगत प्रवृत्तियां भी अभिन्न हैं। नई कविता नाम इस बात का परिचय देता है कि पुरानी कविता में जो विषयगत और शैलीगत रूढ़िग्रस्तता आ गई थी वह इस काव्य-धारा ने दूर की। कवियों का सौंदर्यबोध बदला या यों कहें कि उनमें आधुनिक भाव-बोध आया।

नई कविता के कविः—प्रयोगवादी काव्यधारा का विकास कई प्रकार से हुआ है—एक तो इस ढंग से कि अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने इसे प्रोत्साहन दिया और दूसरे तारसप्तक के प्रकाशन से या यों कहिये कि सप्तकों के क्रमिक विकास ने नई कविता को प्रतिष्ठा प्रदान की। सन् १९५४ में जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी के सम्पादन में प्रयोगवादी कविताओं का संग्रह नई कविता नाम से निकलना प्रारम्भ हुआ।

प्रयोगवाद या नई कविता के महत्वपूर्ण कवियों में हम इन कवियों का नाम ले सकते हैं-अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, भारतभूषण अग्रवाल, मुक्तिबोध, शमशेर, नरेश मेहता, मदन वात्स्यायन, केदारनाथसिंह, अजितकुमार, कुंवरनारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कीर्ति चौधरी, दुष्यन्तकुमार और जगदीश गुप्त आदि।

अज्ञेय के प्रकाशित काव्य-ग्रंथः—भग्नदूत, चिन्ता, इत्यलम्, हरी घास पर क्षण भर, बावरा अहेरी, इन्द्रधनुष, रौंदे हुए ये, अरी ओ करुणा प्रभामय और आंगन के पार द्वार।

गिरिजाकुमार माथुरः—मंजीर, नाश और निर्माण, धूप के धान और शिलापंख चमकीले।

धर्मवीर भारतीः—ठंडा लोहा, अन्धा युग, सात गीत वर्ष, कनुप्रिया तथा देशान्तर (विदेशी कविताओं का हिन्दी रूपान्तर)।

भारतभूषणः—कवि के बन्धन. जागते रहो, मुक्तिमार्ग, ओ अप्रस्तुत मन और कागज के फूल।

मुक्तिबोधः—पत्र-पत्रिकाओं में और 'चांद का मुंह टेढ़ा है' काव्य-संग्रह।

शमशेरः—दूसरे सप्तक में संगृहीत कविताएं, कुछ कविताएं और कुछ और कविताएं।

नरेश मेहताः—संशय की एक रात, वनपाखी सुनो, मेरा समर्पित एकान्त और बोलने दो चीड़ को।

डा० केदारनाथः—तीसरे सप्तक के कवि और 'अभी बिल्कुल अभी' कविता संग्रह।

अजितकुमारः—कविताएं, संकलन, अकेले कण्ठ की पुकार और अंकित

कुंवर नारायण:—तीसरे सप्तक के कवि, चक्रव्यूह और परिवेश, हम-तुम काव्य-संकलन ।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना:—तीसरे सप्तक के कवि, काठ की घण्टियां ।

कीर्ति चौधरी:—तीसरे सप्तक की कवयित्री और एक स्वतन्त्र संग्रह कविताएं ।

दुष्यन्तकुमार:—सूर्य का स्वागत, पत्र-पत्रिकाओं में ।

जगदीश गुप्त—नयी कविता के सम्पादक—नाव के पांव, शब्द देश और हिम विद्ध काव्य संकलन ।

नई कविता का शिल्प:—काव्य के दो पक्ष होते हैं—शिल्पपक्ष और भावपक्ष कविता में अकेले किसी पक्ष का महत्व नहीं है । कवि की अनुभूति यदि सच्ची है तो उसे पाठक तक भेजने के लिये अभिव्यक्ति भी कुशल होनी चाहिए । नई कविता में भी अनुभूति और अभिव्यक्ति का बड़ा मधुर सम्मेलन हुआ है, किन्तु कुछ कवियों ने ऐसी रचनाओं के प्रयोग किये हैं जिन्हें साहित्य में कदापि स्थान नहीं मिलना चाहिए ।

नई कविता में शिल्प-पक्ष के प्रति विशेष सावधानी वरती गई है । गिरिजाकुमार माथुर का कथन है कि 'कविता में विषय से अधिक टेकनीक पर ध्यान दिया गया है विषय की मौलिकता का पक्षपाती होते हुए भी मेरा विश्वास है कि टेकनीक के अभाव में कविता अधूरी रह जाती है' इससे जो बात स्पष्ट होती है वह यही कि प्रयोगवाद या नई कविता में विषय-वस्तु की अपेक्षा शिल्प की ओर अधिक सम्मान है । प्रगतिवादी कवि जिस प्रकार विषय-वस्तु को महत्ता प्रदान करते थे उस प्रकार इन नये कवियों ने कोई सचेष्टता विषय-वस्तु के प्रति नहीं वरती है । शिल्प के क्षेत्र में किये गये प्रयोग इस प्रकार हैं—

१. उपमानों की नवीनता
२. प्रतीकों की भव्य योजना
३. विम्व की सफल सर्जना
४. भाषा का स्वच्छन्द और स्वाभाविक प्रयोग
५. छन्दों में अतुकान्त छन्द और लोकगीत, उर्दू शैली का प्रयोग

नये उपमान:—काव्य में अप्रस्तुत विधान का विशेष महत्व है । इन कवियों ने नये उपमान जुटाये हैं । अज्ञेयजी ने उपमानों की नवीनता के सम्बन्ध में कहा है—

अगर मैं तुमको
ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता
या शरद के भोर की नीहार में न्हायी हुई

टटकी कली चम्पे की
वगैरह तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है
बल्कि केवल यही
ये उपमान मैले हो गये........ ।

नये कवियों ने जीवन के विविध पक्षों से उपमान जुटाते हुए भी प्रकृति, धर्म, पुराण और विज्ञान के क्षेत्र से भी अप्रस्तुत योजना को साकार बनाया है। उपयुक्त उपमानों का चयन करने वालों में अज्ञेय, भारती, सर्वेश्वर, नरेश और गिरिजाकुमार का नाम लिया जा सकता है—

पाण्डवराज युधिष्ठिर के काले कुत्ते-सी
पीछे-पीछे पूंछ दबाये,
आखिर कब तक साथ निभायेगी मेरा !

इसी प्रकार भारती की ये पंक्तियां भी—

प्रात: सद्य:स्नात
कन्धों पर बिखरे केश
आंसुओं में ज्यों धुला
वैराग्य का संदेश
यह सरल निष्काम
पूजा-सा तुम्हारा रूप

और भी—

१. दुल्हन-सा सजा हुआ ड्राइंग रूम
२. जार्जेट के पीले पल्ले-सी यह दोपहर नवम्बर की
३. क्वार की सूनी दुपहरी
श्वेत गरमीले रुएं-से बादलों में
तेज सूरज निकलता फिर डूब जाता

(गिरिजाकुमार माथुर)

४. मानो कोई तपक्षीण कापालिक
साध्य-साधना की वल बुझी झरी
बची-खुची राख पर धीर पैर रखता—
नीरव चपलतर गति से
चांद भागा जा रहा है
द्रुतपद

—(अज्ञेय)

इस प्रकार स्पष्ट है कि नई कविता में उपमानों की नवीनता को प्राथमिकता दी गई है और यह प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया गया है कि नये कवि अपनी बात कहने के लिए पुराने उपमानों को ताज्य ठहराते हैं और अधिक घिसे हुए बताते हैं जिनकी कलई छूट गई है। उपमानों में आज अनेक क्षेत्रों से सामग्री जुटाई गई है।

प्रतीक-योजना—नयी कविता में जिन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है उनमें सांस्कृतिक, पौराणिक और धार्मिक प्रतीकों का बाहुल्य है, साथ ही फ्रायड आदि के प्रभाववश कुछ यौन-प्रतीकों की दृष्टि भी इस काल की कविता में हुई। यौन प्रतीकों के प्रयोगकर्त्ताओं में अज्ञेय, भारती और शमशेर का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। प्रतीकों के प्रयोग में पौराणिक प्रतीक दुष्यंतकुमार की कविताओं में मिलते हैं। डा० भारती ने प्राकृतिक प्रतीकों को एक आग्रह के साथ अपनाया है।

यौन भावनाओं से प्रभावित प्रतीक—

सो रहा है झौंप अंधियाला
नदी की जांघ पर
डाह से सिहरी हुई यह चांदनी
चोर-पैरों से उचक वह झांक जाती है।

शिवदानसिंह चौहान ने प्रयोगवादी तथोक्त नयी कविता की प्रतीक पद्धति पर फ्रांसीसी प्रतीकवाद के प्रभाव का आरोप लगाते हुए कहा है कि 'यद्यपि वादों से ऊपर सिर करने के लिए वह अपने को प्रयोगशील किसी मंजिल तक पहुँचे हुए या किसी राह के राही नहीं बल्कि राहों के अन्वेषी ही घोषित करते हैं, जिसमें प्रतीकवाद. प्रतीकशीलता के छद्मवेश में तरुण प्रतिभाओं को आकर्षक और ग्राह्य लगे इसलिए अज्ञेय के हाथ में पड़कर 'प्रयोग' सत्य को अभिव्यक्ति देने या जानने का साधन नहीं रहा...... प्रतीकवादी शैली को अपनाया जाने लगा।' अज्ञेय को शिवदानसिंह जी प्रतीकवादी तो मानते हैं किन्तु वास्तव में वे प्रतीकवादी नहीं क्योंकि फ्रेंच कवियों जैसी रहस्य प्रवृत्ति, धार्मिकता, संगीतात्मकता, अलौकिक सौंदर्य-सृष्टि का मोह आदि बातें अज्ञेय और उनके अनुभवियों में नहीं मिलती हैं। अज्ञेय की सावनमेघ कविताओं के प्रतीक तो निश्चय ही (यौनप्रतीक) फ्रायडवादी हैं, इस प्रकार की यौनप्रतीक रचनाओं के सन्दर्भ में अज्ञेय को विषय-वस्तु की दृष्टि से किसी सीमा तक इलियट के निकट कहा जा सकता है बोदलेयर या मलार्मे के नहीं, फ्रेंच कवियों का प्रत्यक्ष प्रभाव अज्ञेय या अज्ञेयवादियों पर नहीं पड़ा, जो कुछ भी इनका प्रभाव आया इलियट के माध्यम से आया, लेकिन स्वयं प्रतीकवादी नहीं हैं। उन्होंने प्रतीकवादियों से प्रेरणा अवश्य ली है। प्रतीकवादी कवियों और हिन्दी के प्रयोगवादी कवियों में यदि किसी प्रकार का साथ है तो वह यह है कि दोनों ने नये-नये प्रतीकों का विधान किया।

बिम्ब योजना—आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि कविता में अर्थ ग्रहणमात्र से ही काम नहीं चलता है, उससे बिम्ब-ग्रहण भी अपेक्षित है। वास्तव में नयी कविता

ने अपने पूर्व की सभी काव्यधाराओं से आगे बढ़कर अनेक नये बिम्ब पाठक को प्रदान किये हैं, बिम्ब का महत्व इस बात में निहित है कि वह पाठक के सामने चित्र खड़ा कर दे। बिम्ब का सृजन चित्रात्मकता और संवेदनात्मकता के आधार पर ही हो सकता है। नई कविता में अज्ञेय, भारती, मुक्तिबोध और गिरिजाकुमार और नरेश ने बड़े सुन्दर बिम्बों की सृष्टि की है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१. चांद कट पतंग-सा
दूर उस झुरमुट के
पीछे गिरता जाता.......
किलकारी भर भर खग
दौड़-दौड़ अम्बर में
किरण-डोर लूट रहे —कुंवरनारायण

२. गोमती तट
दूर पेंसिल रेख-सा
वह बांस का झुरमुट —नरेश

३. पतिसेवारत सांझ
उचकता देख पराया चांद
ललाकर ओट हो गई —अज्ञेय

भाषा-शैली—भाषा के क्षेत्र में इन कवियों ने सर्व व्यावहारिक भाषा को अपनाया है। ये कवि भाषा की संस्कृतनिष्ठता के पक्षपाती नहीं हैं। भाषा में बोल-चाल का रूप मिलता है। अंग्रेजी, फारसी और उर्दू के शब्दों को इन कवियों ने बिना किसी संकोच के अपना लिया है। शैली में उर्दू की सी लचक है। भारती और शमशेर में खास तौर पर यही बात है। इन कवियों ने भाषा को नई कविता का प्रथम आयाम माना है। भाषा के सम्बन्ध में उनकी यह मान्यता ठीक ही है कि प्रत्येक शब्द के अपने वाच्यार्थ के अतिरिक्त लक्षणायें और व्यंजनायें होती हैं, संस्कार और ध्वनियां भी होती हैं, किन्तु यह कहना कि शब्द का वैयक्तिक प्रयोग भी होता है और प्रेरणा का माध्यम भी बनता है, ठीक नहीं। छंदों के क्षेत्र में भी इन कवियों ने नवीनता का पथ लिया है। मुक्त छंद का प्रवर्तन तो निराला ही कर गए थे, किन्तु इन कवियों ने इसे और विकास दिया। अर्थ की लय और शब्द की लय पर आधारित अनेक स्वच्छंद छन्दों का सृजन इस कविता में दीख पड़ता है। बालकृष्ण राव ने सोनेट का प्रयोग भी किया है। बात-चीत की शैली का प्रयोग भी बढ़ा-चढ़ा है। अज्ञेय ने निम्नलिखित पंक्तियों में अपनी शैली को लोक-गीतों के निकट लाकर खड़ा कर दिया—

कांगड़े की छोरियां कुछ भोरियां कुछ गोरियां,
लालाजी जेवर बनवा दो खाली करो तिजोरियां।

गिरिजाकुमार माथुर अन्त्यविरामहीन (Ruuon) पंक्तियों के मुक्त छन्द को काव्य के लिए उपयुक्त मानते हैं। इस प्रकार की मान्यताओं पर अंग्रेजी काव्य का अत्यधिक प्रभाव है।

विषयवस्तु—नयी कविता में शिल्प की भांति ही विषयों का वैविध्य भी है। आज से पूर्व जो विषय कभी भी कविता के विषय नहीं रहे वे आज कविता की सीमा में घुस आये हैं। उपेक्षित विषयों को आज आदर के साथ कविता में अपनाया जा रहा है। दैनिक जीवन की सारी क्रियाएं आज कविता में आकर जम कर बैठ गई हैं, इस दृष्टि से इस कविता में निम्नलिखित प्रवृत्तियां पाई जाती हैं—

१. अहंवाद या घोर वैयक्तिकता
२. आस्था-अनास्था
३. अतियथार्थवाद
४. भोगवाद और क्षणवाद
५. सामाजिकता
६, निराशावाद
७. व्यंग्यात्मकता

१. नई कविता में अहंभावना है और अहं से जुड़ी अतिवैयक्तिकता भी विद्यमान है। कहा जाता है कि नये कवि ने अहं से अपना सम्बन्ध बड़ी गहराई से जोड़ लिया है। अनेक स्थलों पर तो यह प्रवृत्ति प्रचारवादी बन गई है—

"साधारण नगर के
एक साधारण घर में
मेरा जन्म हुआ
बचपन बीता अति साधारण
साधारण खान पान ......!

इन कवियों में जो वैयक्तिकता का स्वर है उसके सम्बन्ध में डा० शिवदानसिंह जी का मत है कि "साधारणतया प्रयोगवादी कविताओं में एक दयनीय प्रकार की झुंझलाहट, खीझ और हीन भावना ही व्यक्त हुई है जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नहीं, खण्डित करने का मार्ग है।"

२. आस्था-अनास्था के प्रश्न को लेकर बड़ी-बड़ी चर्चाएं इस कविता के विषय में होती रही हैं। नई कविता में जो अनास्था, घुटन और शंकालु भाव मिलते हैं उनका कारण अनेक आन्तरिक संघर्षों से जूझना है। ये भावनाएं कुछ गहरे तक भी दिखाई देती हैं, किन्तु विचार करने पर मालूम होता है कि आस्थामूलक स्वर भी नई कविता में मिलते हैं। भारती, कीर्ति चौधरी, गिरिजाकुमार, नरेश आदि में आस्था का स्वर है। अज्ञेय तो मूलतः आस्थावादी कवि ही हैं। भारती की ये पंक्तियां देखिए—

"हमको तो चलना होगा ही
चलने में ही हम टूटों और अधूरों का
शायद होगा कुछ नया गठन"

३. अतियथार्थवाद भी नई कविता की अपनी विशेषता है। इन कवियों ने ार्थ के वातावरण में सांस ली है और इसी कारण जीवन के साथ इन्होंने सम्पर्क नाया है वह व्यावहारिक जगत की वास्तविकताओं की पृष्ठभूमि पर निर्मित हुआ है। i, अति यथार्थवादी प्रवृत्ति ने अनेक दूषित और भेद संयुक्त चित्र नई कविता को दिये । वास्तव में अतियथार्थवाद की भावना भोगवाद से मिल कर चलती है। भोगवाद ो प्रवृत्ति का ही परिणाम है कि इस कविता में दमित वासनाओं का चित्रण मिलता । काम जीवन में आवश्यक है—माना लेकिन वह जीवन का सर्वस्व नहीं—

मेरे मन की अंधियारी कोठरी में
अतृप्त आकांक्षाओं की वेश्या बुरी तरह खांस रही है।

और शकुन्तला माथुर के स्वर में—

चली आई वेला सुहागिन पायल पहने.......
वाणविद्ध हरिणी-सी
बांहों में सिमट जाने को
उलझने को, लिपटने को
मोती की लड़ी समान॥

नई कविता में क्षणबोध को विशेष महत्व दिया गया है। क्षणवादी भावनायें ाणिकता का दर्शन प्रस्तुत नहीं करती हैं। हां, एक छोर पर इनका सम्बन्ध भोगवाद ो अवश्य बैठता है। कवि की कामना यह है कि वह क्षणानुभूति को कविता में चित्रित कर दे और प्रत्येक क्षण को उसकी पूर्णता और समग्रता में भोग ले। क्षणिकता के इस आग्रह से कुछ अश्लील और वासनात्मक कवितायें भी लिखी गई हैं। क्षणवादी ाचारों के मूल में लारेन्स, वर्ग शाज्या, फ्रायड आदि का प्रभाव दिखाई पड़ता है? कवि अज्ञेय ने लिखा है—

"एक क्षणः क्षण में प्रवहमान
व्याप्त सम्पूर्णता
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
पिया था अगस्त्य ने"

क्षणवादी विचार इन कविताओं में काफी गहरे तक व्याप्त हैं। अज्ञेय, भारती, [illegible] आदि सभी की कविताओं में हम इसे पा सकते हैं। नई कविता में यह [illegible] अनेक बार बड़ी वासनात्मक पंक्तियों को जन्म देता है—

"आमाशय
यौनाशय
गर्भाशय
जिसकी जिन्दगी का यही आशय
यही इतना भोग्य
कितना सुखी है वह
भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य।"

आस्था और अनास्था की भांति ही नई कविता में सामाजिकता का अभाव बताया जाता है। यह ठीक है कि इन कवियों ने अपना ध्यान सामाजिकता की ओर कम ही झुकाया है किन्तु आज का कवि व्यक्ति के माध्यम से समाज को देखता है यह विस्मरणीय नहीं है। कवि की प्रेमिका की कजरारी आंखें बड़ी सुन्दर हैं किन्तु यु की कातर आंखें उससे भी अधिक महत्व रखती हैं। अज्ञेय के शब्द हैं—

"युग की कातर आंख
तुम्हारी कजरारी आंखों से
कहीं अधिक सुन्दर है
मुझको मिला बुलावा
मैं जाऊंगा
प्राण! तुम्हारी इन अतृप्त साधों से
मेरे युग की साध कहीं ऊपर है।"

इन सभी बातों के होते हुए भी यह सच है कि इस कविता में व्यंग्यात्म प्रवृत्ति बड़ी निखरी है। प्रभाकर माचवे ने सामाजिक परिस्थितियों पर व्यंग्य किए और वर्तमान जीवन की कुण्ठा, घुटन, मर्यादा, नैतिकता और नग्नता पर म वात्स्यायन और अनन्तकुमार की कवितायें अच्छा व्यंग्य करती हैं। अज्ञेय की 'सां कविता में शहरी जीवन पर व्यंग्य किया गया है और सर्वेश्वर ने भी आदमी से अधि बड़ा सत्य 'पोस्टर' को कहा है जो व्यंग्यात्मकता की स्थिति है—

"सांप तुम सभ्य तो हुए नहीं न होगे
नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया
एक बात पूछूं? उत्तर दोगे
फिर कैसे सीखा डसना
विष कहां पाया।"

और सर्वेश्वर की कविता में—

"लेकिन मैं देखता हूँ
कि आज के जमाने में

ब्दावली में यही प्रकृति और अनुकूल शब्दार्थ को प्रेषित करना है। गद्य शब्द-रचना के बाह्य रूप का ही नहीं, उसकी आन्तरिक प्रकृति का भी द्योतक है। यह मुख्य रूप से बोध, व्याख्या, तर्क, वर्णन और कथा के क्षेत्रों तक ही सीमित है।

साहित्यकोष में लिखा है—"प्रयोग की दृष्टि से गद्य का साधारण रूप वह है जो व्यावहारिक उपयोग में आता है, परन्तु दो व्यक्तियों के बीच साधारण वार्तालाप से लेकर बड़ी-बड़ी सभाओं के बीच कलापूर्ण प्रभावशाली भाषणों तक तथा क्षेमकुशल सम्बन्धी साधारण पत्र-व्यवहार से लेकर शास्त्र और विज्ञान के विविध विषयों के विश्लेषण, विवेचन, अनुशीलन और अनुसंधान पूर्ण प्रबन्धों तक गद्य के इस व्यावहारिक उपयोग में प्रयोग सम्बन्धी इतनी विविधता और अनेकरूपता है कि सामान्यतः इसकी गणना नहीं की जा सकती है। गद्य के इन विविध प्रयोगों में जहां एक ओर पारिभाषिक शब्दावली उसे विशेषता प्रदान करके उसके प्रेषक क्षेत्र को सीमित कर देती है, वहां दूसरी ओर गद्य के व्यावहारिक क्षेत्र में अलंकृत-पदावली साहित्यिक शैली का प्रयोग उसे उपयोगिता के साथ-साथ सौंदर्य से समन्वित कर देता है, जिसमें प्रेषणीयता के क्षेत्र में विस्तार आ जाता है। गद्य का इसी प्रकार का लिखित प्रयोग आधुनिक काल में साहित्य की एक विशिष्ट विधा के नाम से अभिहित होने लगा।"

प्रायः गद्य प्रयत्न करके लिखा जाता है। गद्यकार जो भी लिखता है उसकी पृष्ठभूमि में विचारों की पुष्ट शृङ्खला और तर्क की मीनार होती है। लेखक को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। वह अपने विचारों को अपनी इच्छानुसार व्यक्त कर सकता है। गद्य की अपेक्षा पद्य में यह बात नहीं है।

गद्य और पद्य में अन्तर—जब लिखने के लिए कुछ लिखा जाता है, उसका नाम है गद्य और जो स्वयं लिखा जाता है उसे पद्य कहते हैं। स्पष्ट शब्दों में गद्य प्रयत्नशील रचना है और पद्य स्वतः स्फुरित प्रवाह है। गद्य का सम्बन्ध विचारों से अधिक है और भावनाओं से कम है (इस अर्थ में कि गद्यकार अभिव्यक्ति के लिए स्वच्छन्द है।) जब कि पद्य में भावों की प्रधानता होती है। गद्य और पद्य का अन्तर

१६
हिन्दी गद्य का विकास

१. परिभाषा।
२. गद्य और पद्य में अन्तर।
३. गद्य की प्रारम्भिक परिस्थितियां।
४. गद्य के चार लेखक।
५. गद्य का विकास।
६. गद्य का आधुनिक स्वरूप।
७. उपसंहार।

परिभाषा—'काव्यं च द्विविधं गद्यं च पद्यं च' कह कर संस्कृत साहित्य-शा ने निर्णय देने का प्रयत्न किया है कि गद्य को भी काव्य-कोटि में परिगणित कर लि जाय। इस निर्णय को थोड़े परिवर्तन के साथ स्वीकार किया जा सकता है। काव्य हो सकता है किन्तु सब प्रकार का गद्य काव्य-कोटि में आ सकता है, यह मान भ्रामक होगी। गद्य-काव्य के कुछ विशेष लक्षण हैं, भावप्रवणता जिसका वि लक्षण है। यदि हम ध्यान पूर्वक देखें तो गद्य एक शैली है जो पद्य से भिन्न साधारण रूप से गद्यशैली में व्यावहारिकता का रूप ही अधिक होता है। बोल- का गद्य तो नितान्त व्यावहारिक होता है। हां, साहित्य-गद्य उससे भिन्न हो सकत और उसी का एक रूप गद्य काव्य हो सकता है।

आचार्य विश्वनाथ ने गद्य-काव्य का निरूपण करते हुए उसके चार भेद हैं—मुक्तक, वृत्तगंधि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। पहला समास-रहित होता दूसरे में पद्य के अंश पड़े रहते हैं, तीसरे में दीर्घ समास होते हैं और चौथे में छोटे समास होते हैं।

शब्दावली में यही प्रकृति और अनुकूल शब्दार्थ को प्रेषित करना है। गद्य शब्द-रचना के बाह्य रूप का ही नहीं, उसकी आन्तरिक प्रकृति का भी द्योतक है। यह मुख्य रूप से बोध, व्याख्या, तर्क, वर्णन और कथा के क्षेत्रों तक ही सीमित है।

साहित्यकोष में लिखा है—"प्रयोग की दृष्टि से गद्य का साधारण रूप वह है जो व्यावहारिक उपयोग में आता है, परन्तु दो व्यक्तियों के बीच साधारण वार्तालाप से लेकर बड़ी-बड़ी सभाओं के बीच कलापूर्ण प्रभावशाली भाषणों तक तथा क्षेमकुशल सम्बन्धी साधारण पत्र-व्यवहार से लेकर शास्त्र और विज्ञान के विविध विषयों के विश्लेषण, विवेचन, अनुशीलन और अनुसंधान पूर्ण प्रबन्धों तक गद्य के इस व्यावहारिक उपयोग में प्रयोग सम्बन्धी इतनी विविधता और अनेकरूपता है कि सामान्यतः इसकी गणना नहीं की जा सकती है। गद्य के इन विविध प्रयोगों में जहां एक ओर पारिभाषिक शब्दावली उसे विशेषता प्रदान करके उसके प्रेषक क्षेत्र को सीमित कर देती है, वहां दूसरी ओर गद्य के व्यावहारिक क्षेत्र में अलंकृत-पदावली साहित्यिक शैली का प्रयोग उसे उपयोगिता के साथ-साथ सौंदर्य से समन्वित कर देता है, जिससे प्रेषणीयता के क्षेत्र में विस्तार आ जाता है। गद्य का इसी प्रकार का लिखित प्रयोग आधुनिक काल में साहित्य की एक विशिष्ट विधा के नाम से अभिहित होने लगा।"

प्रायः गद्य प्रयत्न करके लिखा जाता है। गद्यकार जो भी लिखता है उसकी पृष्ठभूमि में विचारों की पुष्ट शृङ्खला और तर्क की मीनार होती है। लेखक को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। वह अपने विचारों को अपनी इच्छानुसार व्यक्त कर सकता है। गद्य की अपेक्षा पद्य में यह बात नहीं है।

गद्य और पद्य में अन्तर—जब लिखने के लिए कुछ लिखा जाता है, उसका नाम है गद्य और जो स्वयं लिखा जाता है उसे पद्य कहते हैं। स्पष्ट शब्दों में गद्य प्रयत्नशील रचना है और पद्य स्वतः स्फुरित प्रवाह है। गद्य का सम्बन्ध विचारों से अधिक है और भावनाओं से कम है (इस अर्थ में कि गद्यकार अभिव्यक्ति के लिए स्वच्छन्द है।) जब कि पद्य में भावों की प्रधानता होती है। गद्य और पद्य का अन्तर स्पष्ट करने के लिए यह निम्न वर्णन समीचीन होगा—

है। इससे गद्य और पद्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इन दोनों में रूप और प्रकृति का अन्तर है।

लिखित रूप में गद्य का प्रयोग बहुत बाद में हुआ है क्योंकि गद्य में मूलतः भाषा का रूप प्रकृति, अकृत्रिम और व्यावहारिक रहता है। शब्दों की कम खर्ची प्रवृत्ति पद्य में देखी जा सकती है। पद्य में शब्दों के कम से कम प्रयोग होने के कारण यह गद्य की अपेक्षा अधिक तीव्र और मार्मिक प्रभाव छोड़ता है। इसमें कोई दो मत नहीं है कि लिखित रूप में पद्य प्राचीनतर है, किन्तु इसमें भी कभी दो राय नहीं हो सकती है कि ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन में विविधता आई, विकास हुआ, त्यों त्यों गद्य का प्रसार होता गया। आज स्थिति यह है कि गद्य ने पद्य को नीचा दिखा दिया है। गद्य की जितनी विविध विधाएं आज देखने में आ रही हैं उतनी पद्य को नहीं। गद्य की प्रगति को जानने के लिए आवश्यक है कि उसके विकास पर संक्षेप में विचार किया जाय।

हिन्दी गद्य के प्रारम्भ काल की परिस्थितियां—हिन्दी गद्य का देर से विकास हुआ इसका मुख्य कारण वे परिस्थितियां हैं जो हिन्दी गद्य के विकास के समय इस देश में विद्यमान थीं। हिन्दी के जन्म के साथ ही साथ देश विदेशियों से आक्रांत होने लगा था। विदेशियों की अपनी अलग भाषा थी जिसका वे बड़े जोरों से प्रचार कर रहे थे और हिन्दी भाषा की स्वभावतः प्रतिद्वन्द्विता हो रही थी। दूसरी मुख्य बात यह थी कि साहित्यकार धन और मान पाने की इच्छा से अपने स्वामी की प्रशस्ति के गान गाता था या वह विदेशियों से मुक्ति पाने के लिए भगवान की शरण में जा उससे प्रार्थना किया करता था। दासता ने साहित्यकार के मन पर पूर्णतः अधिकार कर लिया था इससे उसे जीवन की विविध जटिलताओं की ओर सोचने का अवसर ही न मिलता था। फलस्वरूप गद्य साहित्य बोलचाल की भाषा तक ही सीमित रहता आया उसे साहित्य में स्थान न मिल पाया। तीसरी विशेषता यह थी कि उस समय साहित्य में अनेक भाषाएं प्रचलित थीं, ऐसी स्थिति में एक भाषा जो नई हो—का विकास होना बड़ा ही मुश्किल कार्य होता है। यदि साहित्य की भाषा एक होती, तो सम्भव था सबके सम्मिलित प्रयत्न से किसी एक भाषा में गद्य लिखा जाता और उसमें गद्य भाषा विकसित होती। राष्ट्रीय भावना के अभाव में, एक राष्ट्र एक भाषा की भावना का भी पूर्णतः जनता में अभाव था। तत्कालीन साहित्यिक भाषाओं में—राजस्थानी, ब्रज, अवधी, बुन्देलखण्डी आदि प्रमुख थीं। ऐसी स्थिति में गद्य का विकास होना कैसे? इसके अतिरिक्त हिन्दुओं की धार्मिक विचारधारा के द्वारा भी हिन्दी गद्य के मार्ग में रोड़ा अटकाया गया, क्योंकि धार्मिक भावना पर आत्मानुभूति आधारित है जो पद्य के माध्यम से व्यक्त की जा सकती है। इसके विपरीत जीवन की गहनता, दार्शनिक विचारों एवं राजनैतिक तथा आर्थिक समस्याओं के लिए गद्य का होना आवश्यक है। डा० श्यामसुन्दरदास ने कहा है 'गद्य मनुष्य के व्यावहारिक कार्य

ामय का साधन होने के कारण अधिक स्पष्ट और नीरस होने को बाध्य है।"
ी तरफ हमारा धार्मिक जीवन संगीत आपेक्षी है जो गद्य में सम्भव नहीं। उपर्युक्त
ो परिस्थितियां हिन्दी गद्य के विकास में बाधा स्वरूप थीं।

व्रजभाषा गद्य

मध्यकाल में गद्य के दो रूप उपलब्ध होते हैं—ब्रजभाषा गद्य और खड़ी
ी गद्य। ब्रजभाषा गद्य के कुछ उत्तम नमूने गोरखपंथी महात्माओं के उपदेशात्मक
ा सामान्यतः धार्मिक कथाओं के रूप में प्राप्त होते हैं। इसका एक उदाहरण कितना
ोहारी है—

"सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ-स्नान करि चुकौ अरु सम्पूर्ण पृथिवी ब्राह्मननि को
चुकौ अरु सहस्त्र यज्ञ करि चुकौ अरु देवता सब पूजि चुकौ।"

गोरखनाथ के समकालीन एक ग्रन्थ 'उक्ति व्यक्ति' का भी परिचय मिलता है।
ामें वाराणसी के निकटवर्ती भू-भाग की बोल-चाल के गद्य का दर्शन होता है। १६वीं
ताब्दी में पुष्टि-मार्ग के प्रवर्तक के पुत्र श्री विट्ठलदास ने ब्रजभाषा में 'शृङ्गार रस-
उन' नामक ग्रन्थ की रचना की—

"प्रथम की सखी कहतु है, जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि,
ो इनके प्रेमामृत में डूबिके इनके मन्द हास्य में जीते हैं। अमृत समूह ताकरि निकुञ्ज
में शृङ्गार रस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।"

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में श्री विट्ठलनाथ के सुपुत्र श्री गोकुलनाथ ने
"चौरासी वैष्णवन् की वार्ता" तथा "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" की रचना
ी जो ब्रजभाषा गद्य में थी। अकबर के समय में गंगभट्ट ने 'चंद छंद बरनन की महिमा'
जभाषा गद्य में लिखी। खड़ी बोली के कुछ शब्द भी इस समय के ब्रजभाषा गद्य में
ेखने को मिलते हैं। ब्रजभाषा गद्य में लिखे गए कतिपय और ग्रन्थों का भी पता
लता है जैसे नाभदास का 'अष्टयाम', अज्ञात नामा लेखक का 'नासिकेतोपारकान',
रतिभि का 'बैताल पच्चीसी' का अनुवाद आदि। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने दादू-
ंथियों द्वारा लिखे गए कुछ ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है पर भाषा की दृष्टि से
नका कोई महत्त्व नहीं है।

परिवर्तन के कारण राजनीतिक परिस्थितियों में निहित हैं। जब मुसलमान यहाँ आये तो उन्होंने विचार-विनिमय के लिए जिस बोली को चुना वह दिल्ली और मेरठ के आस-पास की बोली थी। जब अंग्रेजों ने भारत पर शासन किया तो यह भी आवश्यक था कि वे भारतीय भाषा से भी परिचित हों। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज का उद्‌घाटन हुआ। इसके प्रिन्सिपल श्री गिलक्राइस्ट ने १८६० के लगभग कई विद्वानों को खड़ी बोली के गद्य में ग्रन्थ लिखने को उत्साहित किया।

मूलतः खड़ी बोली दिल्ली और मेरठ के आस-पास की बोलचाल की भाषा है। खड़ी बोली गद्य का प्रथम उदाहरण अकबर के समकालीन गंग कवि विरचित 'चंद छंद बरनन की महिमा' में मिलता है। रामप्रसाद निरंजन ने १७९८ विक्रमी में संस्कृत के योगवाशिष्ट का हिन्दी गद्य में अनुवाद किया, इन्होंने खड़ी बोली का प्रयोग किया। भाषा में पहिले की अपेक्षा परिष्करण आ गया—"मन मलीन वासना जन्म का कारण है। ऐसी वासना को छोड़ जब तुम स्थित होगे, तब तुम कर्ता हुए भी निर्लेप रहोगे और हर्ष, शोक आदि विकारों से तुम अलग रहोगे।"

तदनन्तर "जैन पद्म पुराण" नामक ग्रन्थ दौलतराम ने लिखकर खड़ी बोली गद्य को प्रसार और बढ़ावा दिया।

ब्रजभाषा यद्यपि प्रौढ़ रूप में पद्य क्षेत्र को अपना चुकी थी, किन्तु खड़ी बोली के प्रतिष्ठापकों के समक्ष इसकी एक न चली और धीरे-धीरे खड़ी बोली का विकास हुआ। खड़ी बोली का आभास कबीर, नानक और खुसरो की 'पहेलियों' तथा 'मुकरियों' में दिखाई दे रहा था, वही आगे चल कर विकसित और प्रवर्धित हुई।

आरम्भिक चार गद्य लेखक—वैसे तो खड़ी बोली का अस्तित्व खुसरो और कबीर के समय में ही था और बीच में मुस्लिम शासकों तथा चारों ओर रमने वाले साधुओं द्वारा भी उसका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ था, परन्तु साहित्य द्वारा उसका प्रसार उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ क्योंकि उस समय गद्य की आवश्यकता थी और वह उसके लिए विशेष उपयोगी समय था।

ली शब्दों के स्थान पर संस्कृत तथा तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया था, दाहरणार्थ—

"इसी बीच वीणा हाथ में लिए हुए नारद जी आ पहुँचे और प्रणाम कर खड़े ए, बीन बजाय, श्री कृष्ण की भूत भविष्य लीला और चरित्रों को गाय कै बोले।"

सदल मिश्र ने भी खड़ी बोली गद्य के विकास में पर्याप्त सहायता दी। मल जी ने फोर्ट विलियम कालेज में कार्य किया और साथ ही 'नासिकेतोपाख्यान' मक ग्रन्थ की रचना की। भाषा में परिष्कृति का प्रयोग हुआ। भाषा को व्यावहारिक ब्दावली के रंग में रंग दिया। ब्रजभाषा की जो क्रियाएं अब तक 'ह्वोय', 'जाय' आदि चलित थीं, उनको पूर्णतः वहिष्कृत कर दिया गया तथा उनके स्थान पर शुद्ध खड़ी ली को अपनाया गया। इतना सब कुछ होने पर भी भाषा में व्याकरण की त्रुटियां ाखिर रह ही गईं।

इंशाअल्ला खां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इनकी भाषा उर्दू मिश्रित है। इनकी भाषा में एक प्रकार की सजीवता पाई जाती है। किन्तु हिन्दी गद्य ा वास्तविक रूप इसे भी प्राप्त न हो सका। उन्होंने यह कहानी (रानी केतकी) ौक गुसाय ही लिखी। उनकी स्वयं की भूमिका इस बात का स्पष्ट प्रमाण है—

"........कोई कहानी ऐसी कहिए कि हिन्दवी घुट और किसी बोली का पुट न मले ताकि, तब जाके मेरा रूप फूल कली के रूप में खिले।" वह चाहते थे कि "उसमें हरीपन भी न निकले और भाषापन भी न हो।" इंशा के सामने उर्दू तथा संस्कृत मिश्रित हिन्दी दोनों के नमूने थे, पर वह न तो अपनी भाषा को उर्दू-फारसी मिश्रित बनाना चाहते थे और न संस्कृत मिश्रित। वह उसे गंवारन या प्रान्तीय भी न होने देना चाहते थे। अतः उन्होंने अपनी भाषा को एक नये पथ पर चलाया। एक नमूना खिए—

इसमें कोई संदेह नहीं कि इन चारों लेखकों के प्रयास ने हिन्दी खड़ी बोली को बढ़ावा दिया और एक ऐसा मार्ग प्रशस्त किया जिस पर आगे आने वाले प्रतिभा सम्पन्न लेखकों को पथ मिला, दृष्टि मिली और नया क्षेत्र मिला।

इन चारों लेखकों के अतिरिक्त ईसाई धर्म-प्रचारकों ने बाईबिल का शुद्ध और शुद्ध हिन्दी में अनुवाद किया।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने सन् १८७५ के विद्रोह में अंग्रेजों को बड़ी सहायता की, और साथ ही शिक्षा विभाग में इन्सपैक्टर के पद पर आसीन हो आपने हिन्दी की सराहनीय सेवा की। उन्होंने स्कूलों में हिन्दी को स्थान दिलाने और पाठ्य पुस्तकें लिखने-लिखाने का स्तुत्य प्रयास किया। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा शुद्ध हिन्दी है, किन्तु 'इतिहास तिमिर नाशक' आदि इनकी परवर्ती पुस्तकें उर्दू व 'मिलाप', 'प्रताप' आदि आधुनिक पत्रों में प्रयुक्त होने वाली आज की उर्दू से मिलती-जुलती हिन्दुस्तानी में हैं।

इन्हीं के समकालीन राजा लक्ष्मणसिंह भी गद्य के क्षेत्र में आये। आपका गद्य संस्कृत मिश्रित था। आपने कालीदास के प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का हिन्दी अनुवाद शुद्ध हिन्दी में पाठकों को अर्पित किया। इन्होंने 'प्रजाहितैषी' नामक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया। राजा लक्ष्मणसिंह के पश्चात् बाबू हरिश्चन्द्र ने वर्तमान हिन्दी गद्य का प्रारम्भ किया। अतः अब गद्य के दो रूप प्रच हो गए।

१. अरबी फारसी मिश्रित गद्य।

२. संस्कृत निष्ठ गद्य।

भारतेन्दु युग (सन् १८७०-१९००) : भारतेन्दुजी का आगमन उस स हुआ जब भाषा अस्वस्थता और अव्यवस्था की भूमि में पनप रही थी। इन्होंने भ को परिमार्जित किया तथा उसे चलता, मधुर और स्वच्छ रूप प्रदान किया। इ प्रयास से ही गद्य एक नये मार्ग पर आकर खड़ा हो गया। विविध विषयों, भावों अलंकरण के नये प्रयोगों ने खड़ी बोली को प्रोत्साहित किया। इन्होंने नाटक रचे, निब और पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जिससे खड़ी बोली को विकास पथ स ही मिल गया। भारतेन्दुजी ने एक साहित्यिक मण्डल तैयार किया जो कि भा मण्डल के नाम से प्रचलित हुआ। इस मण्डल के प्रमुख साहित्यकार लाला श्रीनि दास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, बालमुकुन्द गुप्त प्रेमधन हैं। इस मण्डल के सदस्यों द्वारा हरिश्चन्द्र की भाषा आदर्श मानी जाती जो कि हरिश्चन्द्री हिन्दी ही कहलाती थी, फिर भी विषय और रुचि की भिन्नता कारण इनका गद्य साहित्य-सृजन भी भिन्न है।

भारतेन्दु युग एक सुधार का युग था और सुधार का मंत्र फूंकने के लिए ह व्यंग्य आवश्यक है। इस भारतेन्दु मण्डल के अनेक लेखक इस हास्य और व्यंग्य के रचनाकार थे। प्रतापनारायण मिश्र स्वयं एक बड़े विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे। इ

स्य भी इससे वंचित नहीं रह सका। वे अपनी भाषा को विभिन्न प्रयोगों द्वारा मर्या और व्यंग्यपूर्ण बना देते थे। आत्माभिव्यंजन की इनमें अद्भुत क्षमता थी। ; स्थानों पर व्याकरण के नियमों की अवहेलना करके भी इनकी शैली में बड़ी हृता है। पण्डित बालकृष्ण भट्ट में भी हास्यविनोद का पुट है परन्तु उसमें त्य अधिक है। संस्कृत सारगर्भित पदावली के साथ उर्दू, फारसी के शब्द, हिन्दी- को एक साथ रखना, एक-एक शब्द के लिए तीन-तीन शब्द रखना, उनकी भाषा विशेषता है। पण्डित बालकृष्ण भट्ट अंग्रेजी के शब्दों का अचूक प्रयोग करने से भी ी चूके हैं। इस युग के सभी लेखकों की कृतियों में उनके हृदय का उल्लास, स्वभाव जिंदादिली, और सजीवता तथा सुखद निजीपन मिलता है।

द्विवेदी युगः—भारतेन्दु के पश्चात हिन्दी गद्य के समक्ष एक बाधा आ खड़ी ई। संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला के अनेक लेखक महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रोत्सा- न पाकर हिन्दी गद्य लेखन क्षेत्र में अवतरित हुए, किन्तु इनके लेखों में संस्कृतपन और ंगालीपन आने लगा। परिणामतः हिन्दी गद्य के विकास में एक रोड़ा आ गया। इस मस्या को दूर करने के लिए महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन करना प्रारम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा सम्बन्धी जितनी भी वरूपण, व्याकरण के जितने भी शिथिल प्रयोग उनके सामने आते थे, वे उन्हें शुद्ध रते थे, अशुद्ध लिखने वालों की भर्त्सना करते और उन्हें शुद्ध लिखने के लिये प्रेरित रते थे। वे स्वयं शुद्ध खड़ी बोली में लेख लिखकर आदर्श उपस्थित करते थे। हिन्दी ाहित्य को सम्पन्न बनाने के लिए जहां भी किसी अन्य साहित्य में कुछ सामग्री मिलती तुरन्त उसे हिन्दी माध्यम से लिखकर पाठकों तक पहुँचा देते थे। उन्होंने विभिन्न ाषाओं से चुनकर तथा उनसे मिलते-जुलते कुछ शब्द स्वतः गढ़ कर हिन्दी शब्द- ोष में बढ़ोतरी की। आचार्यजी की आलोचनाओं ने भाषा की बहुत सी गड़बड़ियों को र कर दिया, मिश्रबन्धुओं ने कवियों की समालोचना का सूत्रपात किया। पण्डित ामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास ने गम्भीर आलोचनाओं के माध्यम से भाषा ं नयापन भरा। शुक्लजी ने विचारात्मक निबन्ध लिखे। गुलाबराय ने विचारात्मक ौर हास्य व्यंग्यात्मक निबन्ध लिखे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना के क्षेत्र में एक नई जान डाल दे
शुक्लजी से पूर्व सैद्धान्तिक समीक्षा का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। उ
व्यवहारिक पक्ष भी दुर्बल और क्षीण था। शुक्लजी ने सर्वप्रथम अपनी तुलसी, सूर
जायसी की विस्तृत समीक्षाओं द्वारा समीक्षा का शुद्ध रूप प्रस्तुत किया। निबन्धों
क्षेत्र में भी शुक्लजी की देन सराहनीय है। उन्होंने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर नि
लिखे हैं। मनोवैज्ञानिक निबन्ध लिखने का श्रेय उन्हीं को दिया जाता है।

नाटकों को गद्य में बड़े लाड़ दुलारे से स्थान दिया गया। स्वर्गीय कवि 'प्र
ने नाटकों के माध्यम से हिन्दी गद्य को एक नया मोड़ दिया। आपने नाटकों, उपन्
समालोचनाओं तथा निबन्धों के माध्यम से गद्य को विकास देने में कुछ उठा नहीं र
प्रसाद के ही समकालीन लेखक मुंशी प्रेमचन्द भी अपनी लेखनी के पूरे धनी
मुंशीजी का गद्य साहित्य बड़ा अनुपम और समृद्ध है। नये लेखकों में शांतिप्रिय द्वि
का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी में बड़ी
साधना के पश्चात् बोलना प्रारम्भ किया तथा लिखना शुरू किया। रघुवीरसि
भावात्मक निबन्ध लिखे। इस समय गद्य का पर्याप्त विकास हुआ। विविध विधा
रूप में गद्य ने अपना वास्तविक स्थान बना लिया। अब यह नाटक, उपन्यास, क
रेडियो रूपक, एकांकी, निबन्ध, रेखाचित्र, संस्मरण और रिपोर्ताज, यात्रा की
माध्यम से पर्याप्त विकसित हुआ।

ारतेन्दु का गद्य आचार्य द्विवेदी द्वारा परिमार्जित हुआ है और आधुनिककाल में द्धि की ओर अग्रसर हुआ है।

आज गद्य का स्वरूप:—पहिले से पर्याप्त मात्रा में बदल कर सामने आया है। जहां भाषा की दृष्टि से बोल-चाल की भाषा का प्रसार बढ़ा है तो दूसरी ओर णिक और व्यंजनात्मक भाषा का भी गद्य के विस्तार में विविध विधाओं का विशेष रहा है तथा इनसे विकसित और प्रवर्धित गद्य आज विकास की सीमा को स्पर्श रहा है। प्राचीनकाल में लिखा जाने वाला गद्य यदि आज के गद्य के मेल में खड़ा दिया जाय तो दोनों में जमीन आसमान का अन्तर दिखाई देगा।

इस युग की दूसरी विशेषता हिन्दी गद्य का व्यापक विस्तार, इसका कारण है-दी का राष्ट्रभाषा बन जाना। जहां हिन्दी गद्य का इतना प्रचार बढ़ रहा है, उसके थ-साथ अनेक समस्याएं हमारे सामने आ रही हैं। सबसे विकट समस्या शब्दों के न की है। क्या बोल-चाल की भाषा गम्भीर साहित्य में काम दे सकती है? क्या हित्यिक भाषा और बोल चाल की भाषा में सदा अन्तर रहेगा? दूसरा प्रश्न यह है कि हिन्दी का प्रचार और बढ़ेगा तो उसमें प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग भी बढ़ेगा। क्या शब्दों का स्वागत किया जाय, अन्यथा संस्कृत की तरह हिन्दी पर भी बन्धन गाया जाय। मैं तो सब तरह के शब्दों को अपनाने के पक्ष में हूँ। सजीव भाषाएं दा दूसरी भाषाओं के शब्द अपनाया करती हैं। इसी से उनका शब्द-भण्डार बढ़ता ता है। यदि संस्कृत की तरह हिन्दी में नये शब्द को आने से रोक दिया जाय तो की उन्नति रुक जायगी। नये खून को रोकने से शरीर मर जायगा।

प्रवृत्तियों का भी विकास हो रहा है। एक तो अपने ज्ञान की धाक जमाने के लिए कुछ निबन्धकार पाश्चात्य लेखकों से उधार लिए हुए विचारों को बिना समझे ही अपनाते जा रहे हैं जिससे उनकी भाषा में न तो प्रवाह मिलता है और न ही कला का सौन्दर्य। दूसरे हमारे गद्य-निबन्ध साहित्य में वैयक्तिकता का तत्व न्यून होता जा रहा है। तीसरे हमारा दृष्टिकोण साहित्य की समस्याओं तक ही सीमित है, क्या हम राजनैतिक एवं सामाजिक समस्याएं अपने साहित्य का विषय नहीं बना सकते। हमारे गद्य साहित्य में सहज प्रफुल्लता, ताजगी, रोचकता एवं व्यंग्यात्मकता का ह्रास होता जा रहा है। आशा है हिन्दी के लेखक इस ओर ध्यान देंगे!

१७
हिन्दी गद्य की विविध विधाएं

१. सामान्य परिचय।
२. निबन्ध का अर्थ, प्रकार और विकास।
३. कहानी, तत्व, उद्भव और विकास।
४. उपन्यास-स्वरूप, उद्भव और विकास।
५. नाटक-उत्पत्ति, तत्व।
६. एकांकी-अर्थ, उद्भव और विकास।
७. रेडियो रूपक।
८. फीचर।
९. संस्मरण।
१०. रेखाचित्र।
११. रिपोर्ताज।
१२. डायरी।
१३. गीत नाट्य।
१४. निष्कर्ष।

परिचयः—गद्य का जो विकास भारतेन्दु काल में हुआ था, बाद में उसको पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया और गद्य के अनेक रूप सामने आये। वर्तमान काल में जो विविध रूप सुलभ होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, रेडियो रूपक, फीचर, यात्रा-वृत्तान्त, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, जीवनी, डायरी, आत्म-कथा और गद्य गीत आदि।

अनुभूति, चिन्तन या कल्पना को प्रकट करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि निबन्ध में स्वानुभूति और मौलिक चिन्तन का विशेष महत्व है।

निबन्ध लेखक स्वतन्त्र होता है। उसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति की पूरी छूट तो होती है, किन्तु वह उच्छृंखल नहीं बन सकता।

गुलाबराय ने निबन्ध की परिभाषा में लिखा है—"निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबद्धता के साथ किया गया हो।"

पश्चिम के निबन्धकारों ने मांनटेन के आदर्शों के अनुसरण पर ही निबन्ध लिखे हैं। निबन्ध अभिव्यक्ति का एक प्रकार है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध समालोचक डा० जानसन का कहना है—"निबन्ध मन की ऐसी मुक्त भटकन हैं या विशृंखल विचार तरंग है जो अनियमित और अपच है (A loose sally of mind, an irregular indigerted piece not a regular and orderly performance)."

जे. बी. प्रीस्टले की मान्यता है कि "निबन्ध वह साहित्यिक रचना है, जिसे एक निबन्धकार ने रचा हो।" इसी प्रकार एक अन्य लेखक महोदय की मान्यता है कि लेखक की सामयिक चित्तवृत्ति को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त करने वाली साहित्यिक रचना को निबन्ध कहते हैं।

निबन्ध के विषय में जो विवेचन या विश्लेषण ऊपर किया गया है उसका निष्कर्ष यों दिया जा सकता है—

१. निबन्ध गद्य में अभिव्यक्त एक प्रकार का स्वगत भाषण है, जिसका मुख्य उद्देश्य अपने व्यक्तित्व को अथवा किसी विषय पर अपनी वैयक्तिक अनुभूति, भावना या आदर्श को प्रकट करना है।

२. निबन्ध का आकार छोटा होता है। उसमें किसी एक पक्ष की विवेचना की जाती है। गीतों की भांति निबन्ध भी अपने अन्तर की वेदना को प्रगट कर देता है।

३. अपने दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में ही निबन्ध कला की इति कर्तव्यता है।

निबन्धों के प्रकारः-निबन्धों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है, विषय की दृष्टि से और शिल्प की दृष्टि से। सामान्यतः निबन्ध के ये चार प्रकार स्वीकार किये जा सकते हैं—

१. वर्णनात्मक निबन्ध।

२. विवरणात्मक निबन्ध।

३. विचारात्मक निबन्ध।

४. भावात्मक निबन्ध।

वर्णनात्मक निबन्धों में किसी स्थान, वस्तु या दृश्य का, कल्पना व अनुभूति में मिला ऐसा वर्णन किया जाता है कि पाठक उसे पढ़कर अभिभूत हो

तिक दृश्य, ऋतु, पर्वतोत्सव, ग्राम और नगर आदि से सम्बन्धित निबन्ध इसी
आते हैं।

विवरणात्मक निबन्धों में किसी घटना या वृत्तान्त का क्रमिक वर्णन प्रस्तुत
ाता है। जिन घटनाओं का वर्णन इस प्रकार के निबन्धों में किया जाता है
नी की आत्मीयता निबन्धों को मधुर और रुचिकर बना देती है।

विचारात्मक निबन्धों में लेखक और बौद्धिक-चेतना का स्वर बड़ी ऊंचाई से
होता है। विचारों की मौलिकता को तर्क, युक्ति और विवेचना के बल पर
दित किया जाता है।

भावात्मक निबन्धों में रागात्मक तत्वों की प्रमुखता होती है। कल्पना का
ा प्रकाश सर्वत्र रहता है। लेखक के हृदय की तीव्र अनुभूति और भावुकता सरल
रंगीन शैली में प्रगट होती है।

हिन्दी निबन्ध का विकासः—हिन्दी गद्य का विकास भारतेन्दु युग में हुआ और
गाथ निबन्ध साहित्य का भी। प्रारम्भिक निबन्धों में जो निबन्ध लिखे गये थे वे
क और साप्ताहिक पत्रों की सहानुभूति ही पा सके। एक बात और भी है कि उस
ा जो निबन्ध लिखे गये उनका विषय भी प्रायः सामाजिक और धार्मिक ही रहा।
यों की धार्मिकता और सामाजिक प्रवृत्ति ने लेखक की शैली की जिंदादिली और
व कल्पना-शीलता को कम नहीं होने दिया। इसी जिन्दादिली के कारण उसके
न्धों में हास्य, व्यंग्य और विनोद आता चला गया। इस समय के निबन्ध लम्बक
ोकार न थे, या यों कहिये कि निबन्ध की असली शैली से अपरिचित थे तभी तो
ोंने भाषा की अव्यवस्था तथा शैली की अस्तव्यस्तता को प्रदर्शित किया है। कुछ
न्धों में स्वभावतः ही निबन्ध—लेखन की कला सजी-सजाई मिल जावे यह बात
ती है।

[२] १६०२ में किशोरीलाल गोस्वामी के 'गुल वहार' और मास्टर भगवान-दास की 'प्लेग की चुडैल' नामक कहानियां प्रकाश में आई ।

[३] १६०३ में आचार्य शुक्ल लिखित 'ग्यारह वर्ष का सपना' तथा बंग महिला की 'दुलाई वाली' और गिरजादत्त वाजपेयी की 'पण्डित और पण्डितानी' शीर्षक कहानियां प्रकाशित हुई ।

(४) १६०७ में वंग महिला की'जम्बुकी न्याय', वृन्दावनलाल वर्मा की 'रा वंद भाई' तथा मैथिलीशरण गुप्त की 'नकली किला' नामक कहानियां लिखी गई ।

हिन्दी में आधुनिक कहानी की परम्परा का सूत्रपात और विकास प्रसादजी 'ग्राम' और प्रेमचन्दजी की 'पंच परमेश्वर' से ही मानना चाहिए। प्रसाद औ प्रेमचन्द के लेखन-कार्य के प्रारम्भ में वंगला कहानियों का दौर-दौरा चल रहा था अंग्रेजी और रूसी कहानियों के अनुवाद भी छपने लगे थे। १६११ से लेकर आज त के कहानी साहित्य के विकास को किन्हीं निश्चित युगों में वांटना वड़ा कठिन है हिन्दी कहानी को एक नया मोड़ और नई दिशा देने वालों में प्रसाद, प्रेमचन्द, उ जैनेन्द्रकुमार और यशपाल हैं। अन्य दूसरे कहानीकार जिनमें कई प्रथम कोटि के और कई द्वितीय श्रेणी के तथा अधिकांश अनुल्लेखनीय रूप से साधारण अथवा अत्य साधारण कोटि के सीमित अर्थों में ही मौलिक हैं। अधिकतर उन्होंने प्रसाद, प्रेमच उग्र, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय द्वारा विकसित और निर्धारित की हुई कथा-वस जीवन-दृष्टि, शैली और टैकनीक की सीमाओं में बन्धकर ही कहानियों की रच की है।

प्रसादजी हिन्दी साहित्य के एक अमर कलाकार के रूप में हमारे सामने आ और आज भी साहित्यकारों को पंक्ति में उनका नाम अग्रणी है। अपनी 'ग्राम' कहा के पश्चात आप ने समय-समय पर कहानियां लिखीं। आपके कहानी संग्रह 'छाय 'प्रतिध्वनि', 'आकाश दीप', 'आंधी', और 'इन्द्रजाल' प्रकाशित हुए हैं। उन आरम्भिक कहानियों पर वंगला का प्रभाव है किन्तु वाद में वे अपनी स्वतन्त्र शै का विकास कर सके। उनके दृष्टिकोण में भावात्मकता की रंगीनी होने के कार उनकी कहानियां भी इससे अछूती नहीं रह सकीं। प्रसादजी की कहानियों में रहस्यव की अस्पष्टता, दर्शन की जटिलता एवं विचारों की दुरुहता के कारण मनोरंजन की मात्रा कम हो जाती है।

मुंशी प्रेमचन्द का प्रादुर्भाव एक अभूतपूर्व घटना है। प्रेमचन्द यथार्थवादी परम्परा के कर्णधार हैं। अतः इनकी कहानी-कला में समस्त शिल्पगत वृत्तिय देखने को मिलीं। आपके शिल्प-विधान में कथानक, चरित्र और शैली-तीनों ने आश्चर्यजनक सुगमता और कला का सहज आकर्षण मिलता है। प्रेमचन्द के समकालीन लेखकों में सुदर्शन, रामकृष्णदास, हृदयेश, उग्र, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, इलाचन्द्र जोशी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

केवल तीन कहानियां लिखकर अमर हो जाने वाले कहानीकार श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का हिन्दी साहित्य में बहुत ऊंचा स्थान है। इनकी प्रथम कहानी 'उसने कहा था' सन् १९१५ में प्रकाशित हुई थी जो अपने ढंग की अनूठी रचना है। उर्दू से हिन्दी में आने वाले लेखकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा हैं। उनकी प्रथम कहानी 'रक्षाबन्धन' सन् १९१३ में प्रकाशित हुई। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का प्रवेश हिन्दी कहानी जगत में सन् १९३२ में हुआ। आपकी उग्रता के प्रभाव को विद्वानों, ने धूमकेतु, उल्कापात या तूफान की उपमा दी है। इनके कहानी संग्रह 'दो खज की आग,' 'चिनगारियां', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर' आदि प्रकाशित हुए हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी अपनी कहानियों में सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है।

हिन्दी कहानी साहित्य का दूसरा युग जैनेन्द्रकुमार के साथ प्रारम्भ होता है। आपने स्थूल समस्याओं के स्थान पर सूक्ष्म मनोविज्ञान का चित्रण किया। इन्होंने हिन्दी कहानी को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और दार्शनिक गहराई प्रदान की। घटनाओं की अपेक्षा उन्होंने चरित्र-चित्रण एवं शैली की ओर विशेष ध्यान दिया। आपकी कहानियों के संग्रह हैं—वातायन, स्पर्धा, फांसी, पाजेब, जय-संधि, एक रात, दो चिड़ियां आदि। श्री ज्वालादत्त शर्मा ने कुछ ही कहानियां लिखकर हिन्दी साहित्य में अच्छा स्थान बना लिया है। उनकी कहानियों में 'भाग्य-चक्र,' अनाथ-बालिका आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने मार्मिक कहानियां लिखकर हिन्दी कहानी की गति में सहायता की। श्री गोविन्दवल्लभ पंत और चण्डीप्रसाद हृदयेश भी कहानी क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने कहानी की अपेक्षा उपन्यास में ही अधिक कार्य किया है। इनकी कहानियों में भी कल्पना और इतिहास का समन्वय मिलता है। वर्माजी की शैली में सरलता और स्वाभाविकता होती है।

तारा-पान्डेय, चन्द्र किरण सौनरेक्शा। इनकी कहानियों में प्रायः पारिवारिक जीवन और हिन्दू समाज में नारी की दारुण स्थिति के चित्र हैं।

वस्तुतः हिन्दी कहानी साहित्य का विकास आधुनिक युग में इतने अधिक लेखकों द्वारा इतनी अधिक संख्या में हुआ है कि उनका संक्षिप्त परिचय देना भी यहां संभव नहीं है। नई कहानी में आज का युग बोध है तथा सामाजिक जीवन का पूर्ण वैविध्य है।

उपन्यास

हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकासः—हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं का प्रचलन प्रायः आधुनिककाल में हुआ है। भारतेन्दुजी ने यथाशक्ति साहित्य के सभी रूपों पर प्रकाश डाला किन्तु तीव्रता के साथ उपन्यास साहित्य का विकास बाद में ही हुआ। भारतेन्दु ने दो उपन्यासों का अनुवाद प्रस्तुत किया। हिन्दी में सबसे पहिले उपन्यास लेखक का श्रेय 'परीक्षा-गुरु' के लेखक लाला श्री निवासदास को प्राप्त है। भारतेन्दु युग में कुछ अनेक विद्वानों ने उपन्यास लिखे। इनमें श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती', रतनचन्द का 'नूतन चरित', बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ आजान एक सुजान', राधाकृष्णराय का 'निःसहाय हिन्दू,' राधाचरण गोस्वामी का 'विधवा विपत्ति', कार्तिकप्रसाद खत्री का 'जया', बालमुकुन्द गुप्त का 'कामिनी' आदि उल्लेखनीय हैं। इस काल के लेखकों ने मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त बंगला उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद भी किये।

हिन्दी में मौलिक उपन्यास कला का प्रवर्तन इन तीन विद्वानों द्वारा हुआ—देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी। खत्री ने 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' की रचना की। कहा जाता है कि खत्री की कलम का जादू पढने के लिए ही अनेक व्यक्तियों ने हिन्दी सीखी। गहमरी का 'जासूस' नामक पत्र निकला जिसमें पांच दर्जन से भी अधिक उपन्यास थे। गोस्वामीजी की भी उपन्यास पत्रिका निकली थी जिसमें छोटे-बड़े सभी ६५ उपन्यास थे। कलात्मक दृष्टि से इन तीनों की रचनाएं सामाजिक हैं और साधारण कोटि की ही बैठती हैं। खत्री, गहमरी, गोस्वामी तथा हरिऔध, लज्जाराम मेहता ने प्रेमचन्द को उपन्यास तक पहुँचाया है। हरिऔध ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ,' 'अधखिला फूल खिला' लिखा। इसी कड़ी में मेहताजी ने सुधारवादी प्रवृत्तियों को उकसाया।

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में जब प्रेमचन्द ने पदार्पण किया उस समय तक हिन्दी उपन्यास नींद में ऊंघ रहा था। प्रेमचन्द के आगमन से उपन्यास कला मानो कृतकृत्य हो गई। प्रेमचन्द ने जीवन की समस्याओं पर लेखनी चलाई और अनेक समस्याओं, पुरानी रूढ़ियों आदि को समाज से निकालने का भरसक प्रयत्न किया। प्रेमचन्द ने सामाजिक समस्याओं पर अनेक उपन्यास लिखे जैसे—'सेवा-सदन', रंगभूमि', 'प्रेमाश्रय', 'कर्मभूमि' 'गोदान'। प्रेमचन्द के पहिले के उपन्यासों में आदर्श का रंग गहरा है पर प्रेमचन्द धीरे-धीरे आदर्श से यथार्थ और यथार्थ से आदर्श की ओर गये। उनके

अन्तिम उपन्यास गोदान में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का बड़ा सुष्पक रूप मिलता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में तत्कालीन परिस्थितियों को देखा जा सकता है।

इसी युग में अन्य उपन्यासकार जैसे—प्रसाद, बेचन शर्मा, चतुरसैन, उग्र, अश्क, पाण्डे तथा कौशिक आदि हुए। प्रेमचन्द के अनन्तर हिन्दी में उपन्यास लेखकों की बाढ़ सी आ गई। इन विद्वानों ने विभिन्न विषयों पर लेखनी चलाई ।प्रत्येक के लिखने के ढंग के अनुसार उसे हम विभिन्न वर्गों में रख सकते हैं।

प्रेमचन्द की परम्परा वाला वर्गः—प्रथम वर्ग उन लेखकों का है जिन्होंने प्रेमचन्द की परम्परा में खड़े होकर सामाजिक समस्याओं पर उपन्यासों का निर्माण किया। इस वर्ग के अन्तर्गत प्रसाद, विश्वम्भरनाथ कौशिक, पान्डेय, बेचेन शर्मा, चतुरसेन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि हैं।

चरित्र प्रधान उपन्यासों का वर्गः—दूसरे वर्ग में चरित्र प्रधान उपन्यासों के रचनाकारों को लिया जा सकता है। इनमें इलाचन्द जोशी, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय आदि उल्लेखनीय हैं।

साम्यवादी वर्ग के उपन्यासः—तीसरे वर्ग के अन्तर्गत वे उपन्यासकार आते हैं जिनका दृष्टिकोण साम्यवादी रहा है। राहुल और यशपाल इस वर्ग के प्रमुख लेखक हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास—उपन्यासकारों का चौथा वर्ग वह है जिससे ऐतिहासिक उपन्यासों की सृष्टि हुई। चतुरसेन शास्त्री, हजारीप्रसाद और वृन्दावन लाल वर्मा आदि का नाम आदरपूर्वक इस वर्ग के साथ जोड़ा जा सकता है।

उपन्यास का विषय नैतिकता से दूर हो रहा है, उसमें कामुता दिखाई दे रही है। यह परिवर्तन बड़े समय के बाद हुआ है तथा बौद्धिकता को भी अपनाया जा रहा है।

शिल्प के क्षेत्र में नई टैक्निक को स्थान मिला है। भाषा में जो आंचलिकता है उसमें छोटे से प्रदेश की परम्पराओं और रीति-रिवाजों को व्यापक बनाने की दृष्टि दिखाई देती है। यह नवीनता प्रयोगों की दृष्टि से बड़ी श्रेष्ठ कही जा सकती है।

प्रेमचन्द के पश्चात हिन्दी उपन्यास की दिशा—राजमहलों और चहार-दीवारी में रहने वाला कथानक पहली बार प्रेमचंद के यहां गांव की टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों में घूमने लगा। इतना ही नहीं राजकुमार और राजकुमारियां, देवी और देवता सभी प्रेमचन्द की कला का वरदान पाकर होरी, घनियों, गोबर और झुनियां के रूप में बदल गये। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को वह दिशा दी जो सामाजिक समस्याओं से प्रेरित आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की दिशा थी।

प्रेमचन्द के बाद के हिन्दी उपन्यासों ने फ्रायडिन मनोविज्ञान और दूसरी ओर यौवन भावना से सम्बन्ध स्थापित किया। इन प्रवृत्तियों को गति प्रदान करने के लिए उपन्यासकारों ने जिस शिल्प का प्रयोग किया है वह भी नूतन प्रयोगों से युक्त है। 'परख', 'सुनीता' और 'चित्रलेखा' प्रेमचन्द की परम्परा से अलग नवीन दिशा की सांकेतिक कृतियां हैं। प्रेमचन्द परवर्ती युग में यही प्रवृत्तियां जोर पकड़ती गई और इधर पिछले दशकों में निर्मित उपन्यासों में वर्ण्य-विषय, कथा-शिल्प, चरित्रांकन, जीवनानुभूति आदि की दृष्टि से अनुपम वैविध्य एवं अनेकरूपता आ गई है। 'चित्रलेखा', 'सुनिता', 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'सन्यासी', 'देशद्रोही', 'बाणभट्ट की आत्म-कथा', 'गिरती दीवारें', 'परिती परिकथा', 'मैला आंचल' हिन्दी उपन्यास के विकास की मूल्यवान उपलब्धियां हैं।

प्रेमचन्द का युग प्रधान रूप से भारतीय संस्कृति, परम्परागत आदर्श, सामाजिक मर्यादावाद और विश्वास का युग था। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भारतीय आदर्श और समझौते के स्वर दिखाई पड़ते हैं। प्रेमचंदोत्तर युग में बौद्धिक भावनाओं का समावेश आ और विज्ञान के प्रभाव से वस्तुओं को निरखने-परखने की नई दृष्टि हमें मिल गई। आर्थिक व्यवस्था असंतुलित हो गई है, परिणामस्वरूप बौद्धिकता आकर जम गई है। साथ ही साथ सामाजिक और राजनैतिक जीवन में भी परिवर्तन आया है। प्रेमचंद के परवर्ती उपन्यास ने इसी कारण विद्रोह के स्वर को अपनाया है।

विद्रोह का स्वर—प्रेमचंद परवर्ती उपन्यास में विद्रोह के ये स्वर स्पष्ट देखे जा सकते हैं। 'तीन वर्ष उपन्यास की प्रभा, विवाह को स्त्री और पुरुष के बीच समझौता समझती है।' 'आखिरी दाव की चमेली पति के अत्याचार से ऊब कर भाग निकलती है और परिस्थिति के कारण अनेक पुरुषों से अपना सम्बन्ध जोड़ लेती है।'

गांधीवाद का उदात्त रूप मानव—इसका प्रवर्तन श्री जैनेन्द्र ने किया है और गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष को स्वीकार किया है। प्रेम से उद्भूत आत्मपीड़न जैनेन्द्र

के उपन्यासों की मूल वृत्ति है। भगवतीचरण वर्मा ने परिस्थितियों को विशेष महत्व दिया है। अज्ञेय मानवतावादी होते हुए भी बौद्धिक अधिक हैं। इलाचन्द्र जोशी की भावनायें मनोविश्लेषण की ओर अधिक हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य के व्यवहार के लिए अचेतन मन ही उत्तरदाई है।

अन्तरवृत्ति का विश्लेषण—प्रेमचंद के अन्तरवर्ती उपन्यास में मानव के अन्तरमन की प्रवृत्तियों को उभारा गया है। फ्रायडिन मनोविश्लेषण के आधार पर हमारी दबी हुई वासनाएं ग्रन्थि बन कर अचेतन मन में बैठ जाती हैं और परोक्ष रूप से हमारे स्वभाव, चरित्र और आचरण को प्रभावित करती हैं। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और 'अज्ञेय' तथा 'अश्क' के उपन्यासों में इसी प्रवृत्ति को उभारा गया है।

सामाजिक यथार्थ—समाज में एक ओर परेशानियां, आर्थिक विपन्नता, पापाचरण और कामुकता आदि है तो दूसरी ओर सद्प्रवृत्तियां भी हैं। प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में आदर्श के स्थान पर यथार्थ और सत् के स्थान पर असत् प्रवृत्तियों का चित्र खींचा गया है। इस प्रकार के चित्रण में यूरोपीय मार्क्सवादी विचारधारा का विशेष हाथ रहा है। नागार्जुन, अमृतराय इसी प्रकार के लेखक हैं।

कामवासना (Sex)—आधुनिक हिन्दी उपन्यास में भूख के समान भोग को भी एक ऐसी शक्ति स्वीकार किया गया है जिसको छोड़ा नहीं जा सकता। नारी और पुरुष की समस्या को प्रमुखता देने वालों में जैनेन्द्र प्रमुख हैं। यशपाल के उपन्यासों में भी नारी और पुरुष के सम्बन्धों की विकृत कथाएं हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यासों में भी कामुक चित्र हैं।

निष्कर्ष यह है कि प्रेमचंद परवर्ती उपन्यास अपने पूर्ववर्ती उपन्यास से कुछ अधिक गौरव का भागी है। यह गौरव उसे विशेषतः शैली ने दिलवाया है। विषयों की नवीनता और सामाजिक यथार्थ, काम-भावना, विद्रोही प्रवृत्ति आदि क्षेत्रों में भी नवीनता का पक्षपाती यह उपन्यास है। ऐसी परिस्थितियों में इस उपन्यास से किसी प्रकार कोई भी निराशाजनक भावना हिन्दी पाठक को नहीं रखनी चाहिए।

नाटक

नाटक की उत्पत्ति—नाटक की उत्पत्ति के विषय में दो मत प्रसिद्ध हैं—(१) भारतीय और (२) पाश्चात्य दृष्टिकोण।

यूनान में नाटकों की उत्पत्ति 'मेपोल' नामक उत्सव में होने वाले नृत्य से हुई। पश्चिम के विद्वान योरोप के सर्व प्राचीन नाटकों के देश यूनान में नाटकों की उत्पत्ति 'मेपोल' नामक उत्सव में होने वाले नृत्य से मानते हैं। उनके अनुसार भारतीय नाटकों की उत्पत्ति भी 'इन्द्रध्वज' महोत्सव से मानी जानी चाहिए। डा० रिजवे वीर-पूजा से नाटकों का प्रारम्भ मानते हैं। डा० कीथ ऋतु-परिवर्तन को नाटक का मूल मानते हैं, कारण है कि ऋतु परिवर्तन के साथ ही समाज में सामूहिक नृत्य-गीत आदि का आयोजन होता है। **प्रसिद्ध विद्वान पेशल साहब** ने कठपुतलियों से नाटक का प्रारम्भ माना है। डा० ल्यूडर्स 'छाया नाटकों' से भारतीय नाटक की उत्पत्ति मानते हैं और प्रमाणस्वरूप 'दूहागंद' एक संस्कृत छाया नाटक का नाम लेते हैं। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने उन सभी नाटकीय तत्वों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "नाटकों का जन्म ऋग-वैदिक काल में ही हो चला था—'प्ररुखा', 'यम-यमी' तथा उर्वशी जैसे संवाद आदि तत्व नाटकों की वैदिक उत्पत्ति के संकेतक हैं।"

कुछ लोग भारतीय नाटकों पर पाश्चात्य या यूनानी ऋण स्वीकार करते हैं। उनके विश्वास और प्रमाण का दुर्बल आधार 'जवनिका' शब्द है। नाटक में जवनिका शब्द आगे का पर्दा होता है, पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार भारतीय नाट्य-कला पर पश्चिम का कोई ऋण नहीं है—"रंगमंच में कौन से दृश्य चित्र की सहायता से दिखाये जाने चाहिए, कौन से दृश्य वास्तविक वस्तुओं द्वारा दिखाये जा सकते हैं और किन दृश्यों की सूचना केवल पर्दा गिरा कर दे देनी चाहिए—यह अब से दो सौ वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड को विदित न था।" स्पष्ट ही भारत की नाट्यकला पर पश्चिम का कोई ऋण नहीं है।

नाटक के तत्व—भारतीय आचार्यों ने नाटक के प्रमुख तीन तत्व माने हैं—कथानक, नायक और रस तथा उद्देश्य। पाश्चात्य आचार्यों के मतानुसार नाटक के तत्वों की संख्या ६ हो गई है—कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य और भाषा-शैली। यद्यपि वस्तु, नेता और रस के अन्तर्गत सभी तत्व आ जाते हैं किन्तु विस्तृत विवेचन के लिए नाटक के छः तत्व होते हैं—

कथावस्तु—कथावस्तु से तात्पर्य कथा से है। कथावस्तु के दो प्रमुख भेद हैं—अधिकाधिक कथा और प्रासंगिक कथा। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार कथावस्तु की निम्न अवस्थायें होती हैं—

(१) प्रारम्भ (२) विकास (३) चरम सीमा (४) उतार (५) अन्त।

भारतीय आचार्यों ने कथावस्तु को विभिन्न अवस्थाओं का क्रम इस प्रकार रखा है—

(१) प्रारम्भ (२) प्रयत्नावस्था (३) प्रत्याशा (४) नियताप्ति और (५) फलागम।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय और पाश्चात्य विवेचन में कोई मौलिक भेद नहीं है।

पात्र—नाटक में अनेक पात्र होते हैं। नाटक का प्रमुख पात्र नायक या नेता कहलाता है। उसकी पत्नी नायिका होती है। नायक प्रमुखतः चार प्रकार का होता है—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशांत और धीरोद्धत। आचार्यों ने नायिका के तीन भेद माने हैं—

१. पतिव्रता, चरित्रवती और लज्जावती।

२. परकीया—दूसरे की स्त्री। यह विवाहिता भी हो सकती है तथा अविवाहिता भी।

३. सामान्य—यह गणिका होती है।

उपन्यासों की भांति आज नाटकों में भी चरित्र-चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। पात्रों की भावात्मकता और मानसिक परिस्थितियों के द्वारा उसकी आंतरिक और बाह्य वृतियां को प्रकाशित किया जाता है।

कथोपकथन—भारतीय आचार्यों ने कथोपकथन के तीन भेद माने हैं—नियत श्रव्य सर्व श्रव्य, अश्रव्य।

कथोपकथन की ये विशेषताएं हैं—

१. पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालें।

२. कथा को गति प्रदान करना।

३. संक्षिप्तता।

४. भाषा सजीव, सरल और आकर्षक हो।

उद्देश्य—परिस्थिति के नग्न चित्रण को ही कुछ नाटककार नाटक का उद्देश्य मानते हैं। कुछ पाश्चात्य साहित्यकारों ने साहित्य की भांति नाटक का भी उद्देश्य जीवन की आलोचना या व्याख्या माना है। भारतीय आचार्यों के अनुसार रस को नाटक का उद्देश्य माना जाता है। नाटक में किसी एक रस की प्रधानता रहती है।

भाषा और शैली—नाटक की भाषा सर्वसाधारण के निकट होनी चाहिए क्योंकि नाटक सबके देखने की चीज है।

संकलनत्रय—प्राचीन ग्रीक नाटकों में स्थल, कार्य और काल की एकता पर विशेष ध्यान दिया है (Unity of time, unity of action and unity of place), इसी को संकलनत्रय कहते हैं।

एकांकी

एकांकी का अर्थ—एकांकी आधुनिक नाटक की अत्यन्त लोक-प्रिय विधा है। नाटक की भांति एकांकी भी दृश्यकाव्य के अन्तर्गत आता है। अतः टैकनीक की दृष्टि से एकांकी भी रंगमंचीय रचना है। एकांकी एक ऐसी नाट्य-प्रधान विधा है जिसके माध्यम से मानव जीवन के किसी एक पक्ष, एक चरित्र, एक कार्य, एक परिपार्श्व पर प्रकाश पड़ता है। एकांकी शब्द अंग्रेजी के one act play का हिन्दी अनुवाद है। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है "मेरी दृष्टि भी जीवन का संकेत खोजने की चेष्टा में रहती है। कोई ऐसा भाव-विन्दु मैं आंक सकूं जिससे जीवन का प्रतिनिधित्व झलक जावे, ऐसी कोई गागर भरदूं जिसमें सागर का अस्तित्व समा जाये। एकांकी ऐसा ही भाव विन्दु है, ऐसी ही गागर है, ऐसा ही अंकुश है, ऐसा ही मंत्र है और ऐसा ही काम का कुसुम धन है।" प्रसिद्ध एकांकीकार 'अश्क' जी ने आकार पर बल दिया है। उनके मतानुसार एकांकी तीस मिनट से लेकर पैंतालीस मिनट तक समाप्त हो जाना चाहिए। डा० नगेन्द्र ने एकांकी के स्थान और कार्य की एकता को स्वीकार नहीं किया।

एकांकी का उद्‌भव और विकास—एकांकी के उद्‌भव के विषय में विद्वानों का मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान तो एकांकी को भारतीय आदर्शमय दृष्टिकोण में आंकते हैं। इनमें डा० सरनामसिंह शर्मा, सद्‌गुरुशरण तथा ललिताप्रसाद शुक्ल आदि का नाम उल्लेखनीय है। कुछ विद्वान एकांकी को पश्चिम की देन मानते हैं। पर सत्य तो यह है कि हिन्दी एकांकी का प्रेरणा स्रोत पश्चिम ही है, पर यह भी नहीं माना जा सकता कि एकांकी पश्चिम की देन है।

आधुनिक साहित्य की भांति हिन्दी एकांकी का उदय भी भारतेन्दु युग में ही हो गया था। साहित्य की अन्य विधाओं की भांति भारतेन्दु ने ही हिन्दी एकांकी को जन्म दिया था। इस काल में एकांकियों की विशेषता में प्रख्यात कथानक, वीर और करुण रस, सामाजिक, धार्मिक त्रुटियों पर व्यंग्य और मनोरंजन प्रमुख हैं। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक निबन्ध, लेख, समालोचना तथा कहानी के प्रति ही आकर्षण रहा किन्तु एकांकी का विकास न हो सका।

हिन्दी में रिपोर्ताज साहित्य—रिपोर्ताज का प्रचलन पिछले १०-१५ वर्षों ही हुआ है। हिन्दी के रिपोर्ताज लेखकों में सर्व श्री प्रकाशचंद्र गुप्त, शिवदानसिं चौहान अमृत राय, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर आ का नाम विशेष रूप से लिया जाता है।

डायरी--हिन्दी साहित्य में डायरी पद्धति को भी पाश्चात्य साहित्य का अनु रण करके अपनाया गया है। कुछ विद्वान इसे साहित्यिक विधा नहीं मानते, क्यों इसमें साहित्य का अंश कम होता है। पर केवल इसी आधार पर साहित्य से इसक बहिष्कार करना कोई तुक नहीं है। विस्तार के लिए इसमें गुंजाइश नहीं होती है डायरी लेखन की तीन विशेषताएं हैं--व्यंजना, व्यंग्य और वर्णन सजीवता। साहित्यि और ऐतिहासिक डायरी में अन्तर केवल इतना है कि साहित्यिक में लेखक का व्यक्तित झलकता है और ऐतिहासिक में घटनाओं की यथार्थता प्रतीत होती है।

हिन्दी में डायरी लेखन की कला का प्रचलन सन् १९३० के आस-पास हुआ माना जाता है। नरेन्द्रदेव शास्त्री, घनश्यामदास बिड़ला, रावी, महादेव देसाई, सज्जनसिंह, विनोबा भावे, इलाचंद्र जोशी आदि का नाम डायरी लेखकों में लिया जाता है।

गीति नाट्य---गीति नाट्य को न तो तत्व नाट्य कह सकते हैं और न नाट्य-काव्य। यह तो एक रूपक है जिसमें अभिनेयता के साथ-साथ सरल पद्य को भी अपनाया जाता है। गीति नाट्य की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

(१) वैयक्तिकता, (२) भावातिरेक, (३) मानसिक संघर्ष, (४) चित्रोपमता, (५) अभिव्यक्ति में नाटकीयता, (६) अभिनेयता, (७) छंद, लय और भाषा तथा (८) काव्यत्व।

हिन्दी में गीतिनाट्य लिखने का श्रेय सर्वप्रथम प्रसादजी को है। 'करुणालय' इनका प्रथम गीति नाट्य है। मैथिलीशरण गुप्त का 'अनद्य' भी गीति नाट्य है। इनके पश्चात् भगवतीचरण वर्मा, आरसीप्रसाद सिंह, प्रफुल्लचंद्र ओझा, गौरीशंकर मिश्र आदि ने भी इस नवीन विधा पर लेखनी चलाई।

निष्कर्ष—गद्य की विविध विधाओं के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि गद्य साहित्य निरंतर उन्नतिशील है। इसमें प्राचीन विधाओं—कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक आदि के अतिरिक्त विभिन्न नई विधाओं—एकांकी, रेडियो-रूपक, फीचर, डायरी, रेखाचित्र, संस्मरण आदि का भी बड़े जोर-शोर एवं उत्साह के साथ स्वागत किया गया है। वस्तुतः आज जितना गद्य साहित्य विस्तृत है उतना पद्य साहित्य नहीं। भविष्य के लिए भी विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि गद्य में नई मान्यताओं और मूल्यांकनों के साथ-साथ और नई विधाओं का प्रादुर्भाव होगा।

१८
हिन्दी नाटक

१. नाटक की मूलभूत मानसिक प्रवृत्तियां।
२. नाटक की परिभाषा।
३. नाटक के तत्व।
४. अर्थ प्रकृत्तियां और संधियां।
५. नाटक और उपन्यास।
६. हिन्दी नाट्य शास्त्र।
७. नाटक का विकास—भारतेन्दुयुग, प्रसादकालीनयुग, प्रसादोत्तरयुग।

हिन्दी नाटक की मूलभूत मानसिक प्रवृत्तियां—नाटक की उत्पत्ति के मूल में मनोवैज्ञानिकों द्वारा मुख्यतः चार मनोवृत्तियां स्वीकार की गई हैं—१. अनुकरण, २. पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार, ३. जाति की रक्षा, ४. आत्माभिव्यक्ति। कहने का अर्थ है कि नाटक की उत्पत्ति का कारण हमारी मानसिक स्थिति है और यह कहीं से मांग कर नहीं लाया गया है तथापि नाटक की उत्पत्ति के विषय में भारतीय विद्वानों और पाश्चात्य विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। डा० रिजवे के अनुसार नाटक का उदय मृत-वीरों की पूजा से हुआ। वे कहते हैं कि प्रारम्भिक वीरों की मृत आत्मा को शांति पहुँचाने के लिए गीत, नाटक आदि का आयोजन हुआ। प्रोफेसर हिलेब्रो तथा कोनो पिशेल आदि विद्वान भारतीय नाटकों का मूल लौकिक आधार मानते हुए कहते हैं कि नाटकों के उदय में कठपुतलियों का विशेष हाथ है। श्री गुलाबरायजी ने इन वातों का खण्डन करते हुए लिखा है कि "ये सव कल्पनाशील विद्वान इस वात को भूल जाते हैं कि भारतवर्ष में धार्मिक, सामाजिक और लौकिक कृत्यों में ऐसा भेद नहीं है जैसा कि लोग समझते हैं। भारतवर्ष में धर्म मानव जीवन का अंग है। इस देश का दुकानदार भी तो अपनी गोलक (तिजोरी) को महादेव वावा की गोलक वताता है।" उपर्युक्त चारों वृत्तियों में अनुकरण मुख्य वृत्ति है। अरस्तू के मत से कला ही अनुकरण है तथा दशरूपक में नाट्य भावों को अनुकृति कहा गया है। अनुकरण में हमारी एकतर ह की अभिव्यक्ति भी हो जाती है। पात्रों के अनुकरण में और दर्शकों को नाटक देखने में अपने भावों को प्रकाशित करने का अवसर मिल जाता है। अब प्रश्न यह अनुकरण ही है जिसके द्वारा आत्मा का विस्तार किया जा सकता है। वालक वड़ों का अनुकरण अपनी आत्मा के विस्तार के लिए ही करता है। इस प्रकार भारतीय नाटक की उत्पत्ति में भारतीय मनोवृत्तियां ही काम करती हैं।

नाटक की परिभाषा—दृश्य को नाटक कहा जाता है। नाटक वस्तुतः रूपक के अनेक भेदों में से एक भेद है। आज यह रूपक शब्द के लिए ही रूढ़ हो गया है। रूपारोपात्तुरूपकम्—एक व्यक्ति का दूसरे पर आरोप करने को रूपक कहते हैं। जब नट पर अन्य पात्रों का आरोप किया जाता है तब वह रूपक बनता है।

नाटक शब्द की व्युत्पत्ति नट् धातु से हुई है, जिसका अर्थ सात्विक भावों का प्रदर्शन है। दूसरे सम्बन्ध में नाटक का अर्थ नट (अभिनेता) से रहता है, उसको विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति को ही नाट्य कहते हैं। इस तरह नट (अभिनेता) से सम्बन्धित होने के कारण नाटक, नाटक कहलाया।

नाटक के तत्व—भारतीय आचार्यों ने नाटक के प्रमुख तीन तत्व—वस्तु, नायक और रस माने हैं, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के ६ तत्व तक भी माने हैं—कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य, शैली। यदि गहराई से देखा जाय तो नाटक के बचे हुए तीन तत्वों का भी समावेश भारतीय आचार्यों द्वारा वर्णित तत्वों में हो जाता है तथापि विस्तृत और युक्ति संगत विवेचन के लिए हमें पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वर्णित तत्वों का सहारा भी लेना पड़ेगा।

१. कथावस्तु (Plot)—नाटक के कथानक या कहानी को कथावस्तु कहा जाता है। इसको अंग्रेजी में 'Plot' कहा जाता है। ये दो प्रकार की होती हैं—१ मुख्य, २. प्रासंगिक। मुख्य कथा का सम्बन्ध मुख्य पात्रों से होता है तथा प्रासंगिक कथा मुख्य कथा के सौंदर्य में वृद्धि करती है। प्रासंगिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है—१. पताका, २. प्रकरी। जब प्रासंगिक कथा का अधिकारिक कथा के साथ अन्त तक सम्बन्ध रहता है तो उसे 'पताका' कहते हैं और जब वह मध्य में ही समाप्त हो जाती है तो वह 'प्रकरी' कहलाती है।

अलग अलग मतों के अनुसार कथावस्तु के भाग या भेदों की व्याख्या की गई है—नाटकों में फल प्राप्ति की इच्छा से किये हुए कार्य व्यापारों की दृष्टि से पांच अवस्थाएं हैं—

१. आरम्भ—यहां से कथानक का प्रारम्भ होता है। इसमें किसी फल के लिए उत्सुकता होती है। कुछ संघर्षमयी घटनाएं प्रारम्भ में होती हैं। यह संघर्ष दो विरोधी दलों, आदर्शों, उद्देश्यों आदि किसी का हो सकता है। सामान्यतः दो व्यक्ति इन विरोधी दलों और भावनाओं के प्रतीक बन जाते हैं।

२. विकास—यह कथावस्तु की दूसरी अवस्था है जिसमें दो विभिन्न घटनाओं के गठन में वृद्धि होती है। पात्र और उनके आदर्शों का संघर्ष एक निश्चित सीमा तक बढ़ जाता है।

३. चरम सीमा—कथावस्तु की तीसरी अवस्था है। यहां दोनों दलों का विरोध या संघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है और किसी एक दल का पलड़ा भारी होने लगता है।

४. उतार—यह चौथी अवस्था है जहां विजयी पक्ष की विजय निश्चित हो जाती है।

५. समाप्ति का अन्त—इस अवस्था में सम्पूर्ण संघर्षों का अन्त हो जाता है।

भारतीय विद्वानों के अनुसार नाटक की कथावस्तु का क्रम इस प्रकार है—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। प्रारम्भ में कथानक का आरम्भ होता है, दूसरी अवस्था में फल प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है, तीसरी में फल प्राप्ति की आशा अंकुरित होती है, चौथी अवस्था में इस फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है और पांचवीं अवस्था में फल को पा लिया जाता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में नाटक की कथावस्तु के विषय में भारतीय और पाश्चात्य दोनों विद्वानों के विचार प्रदर्शित किये गये हैं। इन दोनों में विशेष अन्तर तो कोई नहीं है पर अन्तर संघर्ष में अधिक है। भारतीय आचार्य संघर्ष को विशेष महत्व नहीं देते जब कि पाश्चात्य आचार्य संघर्ष को नाटक की रीढ़ मानते हैं।

अर्थ प्रकृतियां—कथानक के मुख्य फल प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कार पूर्ण अंश को अर्थ प्रकृति कहते हैं अर्थ प्रकृतियां पांच होती हैं—१. बीज, २. विन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी, ५. कार्य।

जिस प्रकार बीज में फल छिपा रहता है उसी प्रकार नाटक के बीज में फल की सम्भावना रहती है। जिस प्रकार तेल की छंद पानी पर फैल जाती है उसी प्रकार विन्दु फैल कर विस्तार का द्योतक बन जाता है। पताका और प्रकरी में छोटी मूल कथाएं होती हैं जो मुख्य कथा को गति देने में सहायक होती हैं, और कार्य अन्तिम फल को कहा जाता है जिसकी प्राप्ति के लिए सब कुछ किया जाता है।

संधियां—अवस्था और अर्थप्रकृतियों के मेल को संधि कहते हैं। ये संधियां कई होती हैं और कई अवस्थाओं की समाप्ति तक चलती हैं। ये पांच होती हैं—

१. मुख संधि—नाटक की परिधि का वह स्थल है जहां से विविध उपकथाओं, रसों और वस्तुओं की उद्भावना होती है।

२. प्रतिमुख संधि—कथा का वह अंश जहां बीज थोड़ा लक्ष्य हो और थोड़ा अलक्ष्य हो, प्रतिमुख संधि से सम्बन्वित होता है। यह संधि प्रयत्न और विन्दु के बीच की स्थिति है।

३. गर्भ संधि—जहां प्रतिमुख संधि में किंचित प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव और अन्वेषण होता रहता है। यह संधि प्रत्याशा और पताका के मध्य की स्थिति है।

४. विमर्ष संधि—गर्भ संधि की अपेक्षा इसमें बीज अधिक विस्तार पाकर फल की ओर अग्रसर होता है। लेकिन फलोन्मुखता शाप, क्रोध आदि से बाधित होती है।

५. निर्वहण अथवा उपसंपृत्ति—इसकी परिभाषा देते हुए दश रूपककार ने लिखा है कि—जहां पर बीज से सम्बन्ध रखने वाले मुख संधि इत्यादि स्थान-स्थान पर बिखरे हुए अर्थ समुदाय उप संपृत्त कर दिये जाते हैं तब उसे निर्वहण संधि कहते हैं। यह अन्तिम संधि है। इसमें बीज का परिणाम फल के रूप में होता है।

इस प्रकार संधि का सम्बन्ध कथानक से सम्बन्धित है। नीचे संधियों का सांकेतिक निरूपण दिया जाता है।

अर्थ प्रकृति	संधि	अवस्था
	मुख	
बीज		आरम्भ
	प्रति मुख	
बिन्दु		प्रयत्न
	गर्भ	
पताका		प्रत्याशा
	विमर्श	
प्रकरी		नियताप्ति
	निर्वहण	
कार्य		फलागम

अर्थोपक्षेपक—कथावस्तु में दो प्रकार की सामग्री रहती है। दृश्य श्रव्य—जो प्रधान रूप से मंच पर घटित होती दिखाई जाती है। दूसरी सूच्य है जिसकी सूचना पात्रों द्वारा संकेत करके दी जाती है। सूच्य वस्तु की सूचना देने वाले साधनों को अर्थोपक्षेपक कहते हैं। अर्थोपक्षेपक पांच प्रकार के होते हैं—

१. विष्कम्भक—इससे दृश्य में घट जाने वाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। इसमें केवल दो पात्रों का कथोपकथन ही होता है। ये पात्र सहायक पात्र होते हैं। यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकर। जिसमें पात्र उत्तम श्रेणी के होते हैं और संस्कृत बोलते हैं इसलिए शुद्ध कहलाते हैं और जिसमें पात्र मध्यम और निम्न श्रेणी के होते हैं तथा संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भी बोलते हैं वे संकर कहलाते हैं। पर अब ये भेद निरर्थक हैं क्योंकि संस्कृत और प्राकृत भाषा बोलने वाले पात्र नहीं रहे हैं।

५. प्रवेशक—इसमें आगे आ।   ।ो घटनाओं की सूचना दी जाती है।

कथावस्तु के तीन भेद—कथावस्तु के तीन प्रमुख भेद किये गये हैं—प्रख्यात, उत्पाद्य, मिश्र।

ऐतिहासिक, पौराणिक तथा परम्परागत जन-श्रुति पर आधारित कथावस्तु प्रख्यात कहलाती है। आधार पर आधारित कथावस्तु उत्पाद्य और इतिहास तथा कल्पना से मिश्रित कथावस्तु को मिश्र कहते हैं।

आधुनिक नाटकों की कथावस्तु का विभाजन सर्वथा उपर्युक्त आधार पर नहीं किया जाता है। आधुनिक नाटक की कथावस्तु सामाजिक, राजनीतिक आदि समस्या-मूलक पौराणिक, ऐतिहासिक आदि रूपों में विभाजित की जाती है।

२. पात्र—नाटक में अनेक पात्र होते हैं और उन्हीं के माध्यम से अनेक घटनायें घटित होकर कथावस्तु का निर्माण करती हैं। नाटक का प्रमुख पात्र नायक कहलाता है। नायक की प्रेमिका या पत्नी नायिका कहलाती है। नायक और नायिका चारित्रिक विशेषताओं की दृष्टि से इस प्रकार होने चाहिए—

नायक नाटक का प्रधान पात्र होता है तथा समस्त कथावस्तु को गति देता हुआ कहानी को किसी लक्ष्य की ओर ले जाता है। नाटक में निम्नलिखित गुण होना आवश्यक है—

नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, उत्साही, स्मृतियुक्त, प्रज्ञावान, कलावान, आत्म-सम्मानी, तेजस्वी, लोक-प्रिय, दृढ और धार्मिक होना चाहिए। नायक के मुख्यतः चार भेद किये गए हैं—१. धीरोदात्त नायक, २. धीर ललित नायक, ३. धीर प्रशान्त और ४. धीरोद्धत नायक।

नायक के सहायक पात्र भी होते हैं जैसे—विदूषक, पीठमर्द, विट आदि। कभी-कभी एक प्रति नायक भी रहता है। पीठमर्द प्रासंगिक कथा का नायक होता है। यह नायक की अपेक्षा हेय गुण वाला होता है। विदूषक भी नायक का सहचर होता है तथा नायक की प्रणय व्यापार आदि में सहायता करता है। विट भी विदूषक के समान ही नाटक का पात्र होता है। वह कथा विशेषज्ञ भी होता है तथा उसी के सहारे नायक का मनोरंजन करता है।

नायक के समान नायिका भी उदात्त गुण सम्पन्न होनी चाहिए। नायिका में सत्ताईस अलंकार होने चाहिए। नायिका के चार भेद माने गये हैं—दिव्या, नृपतिनी, कुल-स्त्री और गणिका। इनके अतिरिक्त नायिका के व्यवहार और दशा भेद के अनुसार आठ भेद होते हैं—(१) स्वाधीनपतिका, (२) वासकसज्जा, (३) विरहोत्कण्ठिता, (४) खण्डिता, (५) कलहांतरिता, (६) विप्रलब्ध, (७) प्रेषितपतिका और (८) अभिसारिका। नायिका को ये आठों अवस्थाएं स्वतन्त्र होती हैं। एक समय पर एक ही अवस्था काम आ सकती है।

३. **कथोपकथन**—नाटक का विकास कथोपकथन पर ही आधारित है। हमारे आचार्यों ने कथोपकथन के तीन भेद माने हैं—१. नियत श्राव्य, २. सर्व श्राव्य और ३. अश्राव्य।

१. **नियत श्राव्य**—ऐसे कथोपकथनों में कुछ निश्चित पात्रों के बीच बात-चीत की जाती है। यह अपवारित और जनान्तिक दो प्रकार का होता है।

२. **सर्वश्राव्य**—इसे प्रकट या प्रकाश भी कहते हैं। यह सबके सुनने के लिए होता है।

३. **अश्राव्य**—किसी अन्य के सुनने के लिए नहीं होता। यह स्वगत कहा जाता है। आजकल इसे अस्वाभाविक माना जाता है और इसकी जगह एक विश्वास-पात्र पात्र की रचना की गई है।

कथोपकथन और चरित्र-चित्रण—जब विभिन्न पात्र एक दूसरे से बात-चीत करते हैं तो वे एक दूसरे की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करते हैं, साथ ही कहने के ढंग से अपने चरित्र पर भी प्रकाश डालते चलते हैं। कथोपकथन पर ही मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण आधारित है।

४. **देशकाल तथा वातावरण**—नाटक में देशकाल तथा वातावरण विचारणीय अंग है। पात्रों के चरित्र में स्पष्टता या वास्तविकता लाने के लिए पात्रों को उनके अनुकूल परिस्थिति, वातावरण एवं समय आदि की आवश्यकता पड़ती है। इसके विपरीत चरित्र-चित्रण अस्वाभाविक होता है। नाटक का सम्बन्ध रंगमंच से होता है अतः नाटक में उन्हीं बातों का वर्णन करना चाहिए जो रंगमंच पर घटित हो सकें। देशकाल तथा वातावरण को पाश्चात्य विद्वानों के संकलन-त्रय—'Unity of Place, unity of action, unity of time' अर्थात् ऐसे ही स्थानों का नाटक में वर्णन हो जो रंगमंच पर दिखाये जा सकें, ऐसा नहीं कि एक दृश्य जयपुर का है तो दूसरा England का। कथावस्तु में एकता होनी चाहिए, उसमें कटाव, रुकाव आदि आने से नाटक आदर्श नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार नाटक की क्रियाओं में उतना ही समय लगना चाहिए जितना कि रंगमंच पर उनके अभिनय करने में।

५. **नाटक का उद्देश्य**—नाटक के उद्देश्य के विषय में भी वही विवाद है जो कि साहित्य के उद्देश्य के विषय में। कुछ विद्वान साहित्य का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति मानते हैं उसी प्रकार नाटक का भी सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण। वास्तव में देखा जाय तो नाटक का उद्देश्य दर्शक पर ही निर्भर करता है क्योंकि नाटककार पात्रों द्वारा ही उद्देश्य की अभिव्यक्ति कराता है और स्वयं भी पात्रों में ही पाया जाता है। अतः नाटककार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति अपने किसी विशिष्ट पात्र द्वारा करवाता है।

त्रु, राजश्री तथा विशाख नाटक ऐतिहासिक श्रेणी में आते हैं। ऐतिहासिक नाटकों में राजश्री प्रसाद की प्रथम कृति है। इस नाटक का कथानक सम्राट राज्य-वर्द्धन तथा हर्षवर्द्धन से सम्बन्धित है। उनकी बहिन राजश्री की कथा ही इस नाटक में चलती है। राजश्री के साथ-साथ नाटक में तत्कालीन भारत की स्थिति पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। अजात शत्रु में मिथ्या धारणा का निवारण करने के साथ-साथ ही बौद्ध-कालीन भारत का भी चित्रण किया है। प्रसादजी का सबसे बड़ा नाटक चन्द्रगुप्त मौर्य है। इस नाटक में मौर्य वंश की राज्यस्थापना का विशद् वर्णन दिया गया है। स्कन्धगुप्त में भारत से हूणों को खदेड़ा गया है तथा रामगुप्त के लिए स्कन्धगुप्त का आत्मोत्सर्ग दिखाया है।

कुछ समीक्षकों द्वारा प्रसाद पर यह दोषारोपण किया जाता है कि उनकी भाषा बड़ी क्लिष्ट और जटिल है, उसमें काव्यात्मकता और दार्शनिकता है। नाटक साधारण भाषा और शैली में होने से जनसाधारण तक पहुँच जाता है लेकिन प्रसाद के नाटकों में उपर्युक्त दुर्गुण होने से रंगमंचीय नहीं है। पर उस समय कुछ स्थिति ही ऐसी थी कि प्रसाद को जटिल भाषा का प्रयोग करना पड़ा था।

प्रसाद के बाद भी ऐतिहासिक नाटकों का पर्याप्त मात्रा में सृजन हुआ। ऐसे नाटककारों में उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क और श्री जगदीशप्रसाद के नाम विशेषोल्लेखनीय हैं।

लिया है। इन्होंने स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध और मानसिक समस्याओं का बड़ा कलात्मक वर्णन किया है। इनके समस्या-मूलक नाटकों में प्रमुख सन्यासी, सिन्दूर की होली, मुक्ति का रहस्य, राक्षस का मन्दिर आदि हैं। अश्कजी ने रंगमंचीयता की दृष्टि से बड़े ही सफल नाटक लिखे हैं। इनके नाटक छठा-बेटा कैद, उड़ान आदि स्वाभाविकता, भाषा की सरलता और अभिनेयता की दृष्टि से अत्यन्त सफल हैं।

सिनेमा के प्रचार तथा लोकप्रियता के कारण नाटक साहित्य का प्रचार कम होता जा रहा है।

१६

हिन्दी निबन्ध : स्वरूप और विकास

१. व्युतपत्ति और अर्थ ।
२. परिभाषा और स्वरूप ।
३. निबन्ध के तत्व ।
४. निबन्ध के प्रकार ।
५. निबन्ध की शैलियां ।
६. हिन्दी निबन्ध का विकास ।
७. विकास के चार युग ।
८. निष्कर्ष ।

निबन्ध व्युत्पत्ति और अर्थः—निबन्ध की प्रमुखतः तीन व्युत्पत्तियां प्राप्त होती हैं—

१. नि+बन्ध्+ल्युट=निबध्यते अस्मिन् इति, अधिकारणे निबन्धनम् । अर्थात् जिसमें विचार बांधा जाये वह निबन्ध है।

२. नि+बन्ध्+घञ्=निश्चितायेन विषयम् अधिकृत्य बन्धनम् । अर्थात् किसी निश्चित विषय पर विचार-श्रृंखला को निबन्ध कहते हैं।

३. नि+बन्ध्+अच्=जटावर, नीम का वृक्ष ......। यह एक आयुर्वेदिक अर्थ है। हमारे लक्ष्य की सिद्धि प्रथम दो व्युत्पत्तियां ही करती हैं जिनका अर्थ होता है, संगठन, बन्धन, संग्रह आदि। कोषकारों ने निबन्ध के प्रमुख रूप से ये अर्थ दिये हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न, लेख्यम्, लेख, आदि।

परिभाषा और स्वरूप—हिन्दी में जिसे निबन्ध कहा जाता है अंग्रेजी में उसे 'ऐसे' (Essay) कहा जाता है। अतः निबन्ध के विषय में कुछ जानने से पूर्व 'ऐसे' शब्द के सम्बन्ध में जान लेना आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी निबन्ध का प्रादुर्भाव अंग्रेजी के प्रभाव से ही हुआ था। 'ऐसे' शब्द फ्रेन्च के 'ऐसाई' से बना है। इस शब्द का सर्व-प्रथम प्रयोग मान्टेन ने किया था। उसने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'निबन्ध विचारों, उद्धरणों और आख्यानात्मक वृत्तों का सम्मिश्रण है।" इसके साथ ही उसने निबन्धों में वैयक्तिकता और व्यक्तित्व को भी महत्व दिया है। उसने बताया है कि अपने निबन्धों का विषय मैं ही हूं, क्योंकि मैं स्वयं को ही सबसे अधिक जानता हूं।

अंग्रेजी साहित्य में सर्वप्रथम बेकन ने निबन्ध पर प्रकाश डाला। उसने निबन्ध की परिभाषा देते हुए लिखा है "निबन्ध कुछ इने-गिने पृष्ठों के लघु विस्तार में होना

चाहिए, जिसमें सारगर्भित ठोस विचारों का निर्देश हो और ये विचार अधिक विस्तार में प्रकट किये हुए नहीं हों।"

डा० जानसन ने पता नहीं कैसे मान्टेन और बेकन की विचारधारा से हटकर अपने मत का प्रतिपादन किया। जब वह कहता है कि निबन्ध A loose sally of mind an irregular indigested piece, not a regular and orderly performance, तब न तो मान्टेन की व्यक्तिपरकता और न बेकन की वैचारिकता, दोनों में से एक भी तत्व जानसन को प्रभावित नहीं कर पाया। डा० जानसन से ही प्रभावित होकर फाऊलर ने लिखा—"किसी गृहीत विषय पर अपूर्ण तथा अल्प रचना निबन्ध है।" श्री एडीसन ने सर्वप्रथम समन्वयवादी परिभाषा दी। उनके द्वारा दी गयी निबन्ध की परिभाषा में उपर्युक्त विद्वानों के मतों को भी ग्रहण कर लिया है। उनके अनुसार—"निबन्ध में विचारधारा तरल और मिश्रित होती है। उसका प्रवाह कभी साधारण उपदेशात्मकता की ओर उन्मुख रहता है और कभी वैयक्तिक आत्माभिव्यंजना की ओर।" इन विद्वानों के अतिरिक्त कतिपय अन्य विद्वानों के मत इस प्रकार हैं—

१ "निबन्धकार एक चतुर आत्मवृत्त कहने वाला व्यक्ति होता है, जिसका प्रत्येक वाक्य अपने व्यक्तित्व के ढंग का दर्शक हो।" —प्रीस्टले

२. "किसी भी विषय पर संलापयुक्त रचना निबन्ध है।"

—ग्रोस्सं

३. "साहित्यिक, दार्शनिक या सामाजिक विषय पर ऐतिहासिक या वैयक्तिक दृष्टिकोण से लिखी हुई रचना को निबन्ध कहते हैं।"

—श्री एल. लाम्ब

४. "निबन्ध एक साधारण कलेवरमयी रचना है, जिसमें किसी विषय या विषयांश पर विचार-विमर्श रहता है। प्रारम्भ में इसमें अपूर्णता का भाव रहता था, लेकिन उसके प्रयोग से अब ऐसी रचना का बोध होता है, जिसका विस्तार सीमित रहने पर भी शैली प्रौढ़ और परिष्कृत होती है।"

अभिनेयता—अभिनेयता ही नाटक है। नाटक में उन सभी तत्वों का समावेश होना चाहिए जिससे नाटक अभिनीत किया जा सके। पर कुछ ऐतिहासिक नाटक ऐसे भी होते हैं जो अभिनेयता की दृष्टि से सफल नाटक नहीं कहे जा सकते हैं।

नाटक और उपन्यास—यद्यपि नाटक और उपन्यास दोनों ही मानव चरित्र की अभिव्यक्ति हैं, तथापि दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर है। उपन्यास भूतकाल का वर्णन करता है और नाटक वर्तमान का। नाटक अभिनय की वस्तु है और उपन्यास में वर्णन मात्र होता है। उपन्यास और नाटक दोनों में ही कथावस्तु होती है किन्तु नाटक की रूप-रचना के भेद के साथ-साथ इन तत्वों में भी भेद हो जाता है। नाटक नाट्यशाला में जाकर ही देखा जा सकता है जब कि उपन्यास कमरे में इच्छानुसार कभी भी पढ़ा जा सकता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार विभिन्न शैलियों और उक्तियों का प्रयोग करता है; वह स्वयं पात्रों का चरित्र-चित्रण करता है। इसके विपरीत नाटककार स्वयं कभी भी किसी पात्र के चरित्र-चित्रण के विषय में कुछ नहीं कहता है, उसके पात्र का चरित्र-चित्रण घटनाएं, कथोपकथन या स्वयं पात्र ही करता है। नाटक और उपन्यास के कथोपकथनों में भी पर्याप्त अन्तर होता है। उपन्यासकार की भांति नाटककार कुल बातों की व्याख्या करने नहीं आता। इसी कारण कथोपकथन कहीं लम्बे भी हो सकते हैं। नाटक और उपन्यास के कथानकों में भी पर्याप्त अन्तर होता है। उपन्यासकार कैसा भी चित्रण अपने उपन्यास में कर सकता है जब कि नाटककार उन्हीं बातों का चित्रण कर सकता है जो कि रंगमंच पर घट सकें।

हिन्दी नाट्य शास्त्र

५ चैतन्य चंद्रोदय—इसकी रचना कवि कर्णपुर ने की थी।

६. समयसार—इसके लेखक कवि बनारसीदास कहे जाते हैं।

७. मोह पराजय—इस नाटक के लेखक यशपाल नामक कोई कवि थे। इन नाटकों के साथ-साथ कुछ प्रतीक नाटकों की रचना भी इस काल में हुई। भूदेव शुक्ल का 'धर्म विजय', वेद कवि का 'विद्या परिणाम', गोकुलनाथ का 'अमृतादेय' तथा श्री सामराज दीक्षित का 'श्रीरामचरित' नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त बहुत से नाटक अनुवादित भी हुए। 'शकुन्तला' का अनुवाद कवि नेवाज ने दोहों और चौपाइयों में किया।

करुण भरण नाटक सं० १७७२ वि० में लच्छीराम व्यक्ति द्वारा लिखा गया।

भारतेन्दु युग से पूर्व के लिखे नाटक संस्कृत के नाटकों के अनुकरण पर हैं। उनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

१. आनन्द रघुनन्दन—इसके लेखक रीवां के राजा श्री विश्वनाथसिंह हैं। यह पहला नाटक है जो ७ अंकों में होते हुए भी ब्रजभाषा में लिखा गया है। इसकी रचना तुलसी के मानस पर आधारित है।

२. नहुष नाटक—इसके लेखक भारतेन्दु जी के पिता थे। इसकी शैली आनन्द-रघुनन्दन से मिलती-जुलती है। इस नाटक की विशेषता है कि नाटक में पात्र प्रवेश करते ही नाटककार एक छोटे से पद्य में पात्र विशेषताएं बता देता है। मौलिक दृष्टि से यह बात महत्वपूर्ण भले ही हो परन्तु यह नाटक में बाधक तत्वों के रूप में आई है।

३. शकुन्तला का अनुवाद—संवत् १९२० में शकुन्तला नाटक का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा किया गया। उनका यह प्रयास अनेक भूलों के बाद भी सराहनीय है। मानव और प्रकृति का हूबहू चित्र उतारा गया है।

४. प्रबोध चन्द्रोदय—इस नाटक की रचना राजा लक्ष्मणसिंह के अनुकरण पर जसवन्तसिंह ने की।

भारतेन्दु के सामयिक लेखकों में श्री बद्रीनारायण प्रेमघन का लिखा हुआ 'भारत सौभाग्य', श्री राधाकृष्णदास का 'महारानी पद्मावती' तथा 'महाराणा प्रताप', केशवराम भट्ट का 'सज्जाद सम्बुल' तथा प्रतापनारायण मिश्र का 'त्रिया तेल, हमीर हठ चढ़े न दूजी बार' नाटक उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त लाला श्री निवासदास कृत 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'तप्त संवरण' तथा किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'प्रण-यिनी-प्रणय' और 'मयंक-मंजरी', तथा श्रीशालिग्राम का 'माधवानल-काम के दला' आदि नाट्य भी विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटकों में पूर्णरूपेण प्राचीन परम्परा का वहिष्कार नहीं था। हां, उन्होंने मुख अवश्य नई धारा की ओर मोड़ा था। उन्होंने अपनी कथावस्तु को धार्मिक न रख कर सामाजिक बनाने की कोशिश की। इनके सम-कालीन नाटकों में हास्य, व्यंग्य आदि का भी समावेश होने लगा तथा यत्र-तत्र मनो-रंजन हेतु हास्य-प्रधान कथानक को प्रधानता दी जाने लगी। ब्रजभाषा से हट कर खड़ीबोली और उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग होने लगा।

संक्रांति काल—इस काल में अनुवादों का प्राधान्य रहा। विभिन्न भाषाओं के नाटकों के अनुवाद होने लगे। संस्कृत के नाटकों में अधिक सफलता नहीं मिल पाई। इस समय श्री सत्यनारायण 'कविरल' ने भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' और 'मधुमालती' के अनुवाद किये। इनके अतिरिक्त रायबहादुर सीताराम ने भी कुछ संस्कृत नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया। इन नाटकों को सफल नाटक कहा जा सकता है। बंगला से डी० एल० राम तथा गिरीश घोष के नाटकों का धड़ाधड़ अनुवाद हुआ। रवीन्द्र बाबू की प्रतिभा से भी हिन्दी नाटककार वंचित न रह सके अतः उनके नाटकों के भी हिन्दी में अनुवाद हुए। रवीन्द्रजी की शैली में हिन्दी नाटककारों को एक नया रास्ता ही दिखाई दिया। रूपनारायण पाण्डेय बंगला नाटकों के प्रमुख अनुवादकों में से हैं।

अनुवादों के साथ-साथ इस काल में पर्याप्त मौलिक नाटक भी लिखे गये। बद्री-नाथ भट्ट ने 'कुरु-वन दहन', 'दुर्गावती', 'वेनचरित' तथा चन्द्रगुप्त आदि अच्छे मौलिक नाटक लिखे हैं। इस समय के कुछ नाटक साहित्यिक और कुछ रंगमंच के लिए होते थे।

महाभारत और 'नेत्रोन्मिलन' की क्रमशः माधव शुक्ल तथा मिश्र बन्धुओं ने रचना की। श्री मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदी ने क्रमशः कृष्णार्जुन युद्ध और 'चन्द्रहास' आदि नाटक लिखे तथा नाटककारों के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त की। रंगमंचीय नाटककारों में श्री राधेश्याम कथावाचक, आगाहश्र, हरिकृष्ण जौहर, नारायणप्रसाद बेताब बहुत प्रसिद्ध हैं। नाटकीय विधान की दृष्टि से संक्रान्ति युग में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ पर फिर भी रूढ़ियां बहुत-सी दूर हो चुकी थीं। नाटककारों ने मंगलाचरण आदि की परिपाटी को समाप्त कर दिया। अंकों की संख्या भी सात से घटा कर तीन तक कर दी गई। भाषा में खड़ीबोली ने और भी मजबूती पकड़ी। कथानक में धार्मिकता के स्थान पर सामाजिकता और ऐतिहासिकता का पूर्ण प्रचार हुआ। नाटककारों ने यथार्थता की ओर अपपत्रधान लगाया।

५ **चैतन्य चंद्रोदय**—इसकी रचना कवि कर्णपुर ने की थी।

६. **समयसार**—इसके लेखक कवि बनारसीदास कहे जाते हैं।

७. **मोह पराजय**—इस नाटक के लेखक यशपाल नामक कोई कवि थे। इन नाटकों के साथ-साथ कुछ प्रतीक नाटकों की रचना भी इस काल में हुई। भूदेव शुक्ल का 'धर्म विजय', वेद कवि का 'विद्या परिणाम', गोकुलनाथ का 'अमृतादेय' तथा श्री सामराज दीक्षित का 'श्रीरामचरित' नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त बहुत से नाटक अनुवादित भी हुए। 'शकुन्तला' का अनुवाद कवि नेवाज ने दोहों और चौपाइयों में किया।

करण भरण नाटक सं० १७७२ वि० में लच्छीराम व्यक्ति द्वारा लिखा गया।

भारतेन्दु युग से पूर्व के लिखे नाटक संस्कृत के नाटकों के अनुकरण पर हैं। उनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

१. **आनन्द रघुनन्दन**—इसके लेखक रीवां के राजा श्री विश्वनाथसिंह हैं यह पहला नाटक है जो ७ अंकों में होते हुए भी व्रजभाषा में लिखा गया है। इसकी रचना तुलसी के मानस पर आधारित है।

२. **नहुष नाटक**—इसके लेखक भारतेन्दु जी के पिता थे। इसकी शैली आनन्द रघुनन्दन से मिलती-जुलती है। इस नाटक की विशेषता है कि नाटक में पात्र प्रवेश करते ही नाटककार एक छोटे से पद्य में पात्र विशेषताएं बता देता है। मौलिक दृष्टि से यह बात महत्वपूर्ण भले ही हो परन्तु यह नाटक में बाधक तत्वों के रूप में आई है।

३. **शकुन्तला का अनुवाद**—संवत् १९२० में शकुन्तला नाटक का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा किया गया। उनका यह प्रयास अनेक भूलों के बाद भी सराहनीय है। मानव और प्रकृति का हूबहू चित्र उतारा गया है।

४. **प्रबोध चन्द्रोदय**—इस नाटक की रचना राजा लक्ष्मणसिंह के अनुकरण पर जसवन्तसिंह ने की।

भारतेन्दु के सामयिक लेखकों में श्री बद्रीनारायण प्रेमघन का लिखा हुआ 'भारत सौभाग्य', श्री राधाकृष्णदास का 'महारानी पद्मावती' तथा 'महाराणा प्रताप', केशवराम भट्ट का 'सज्जाद सम्बुल' तथा प्रतापनारायण मिश्र का 'त्रिया तेल, हमीर हठ चढ़े न दूजी बार' नाटक उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त लाला श्री निवासदास कृत 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और 'तप्त संवरण' तथा किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'प्रणयिनी-प्रणय' और 'मयंक-मंजरी', तथा श्रीशालिग्राम का 'माधवानल-काम के दला' आदि नाट्य भी विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटकों में पूर्णरूपेण प्राचीन परम्परा का वहिष्कार नहीं था। हां, उन्होंने मुख अवश्य नई धारा की ओर मोड़ा था। उन्होंने अपनी कथावस्तु को धार्मिक न रख कर सामाजिक बनाने की कोशिश की। इनके समकालीन नाटकों में हास्य, व्यंग्य आदि का भी समावेश होने लगा तथा यत्र-तत्र मनोरंजन हेतु हास्य-प्रधान कथानक को प्रधानता दी जाने लगी। ब्रजभाषा से हट कर खड़ीबोली और उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग होने लगा।

संक्रांति काल—इस काल में अनुवादों का प्राधान्य रहा। विभिन्न भाषाओं के नाटकों के अनुवाद होने लगे। संस्कृत के नाटकों में अधिक सफलता नहीं मिल पाई। इस समय श्री सत्यनारायण 'कविरल' ने भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' और 'मधुमालती' के अनुवाद किये। इनके अतिरिक्त रायवहादुर सीताराम ने भी कुछ संस्कृत नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया। इन नाटकों को सफल नाटक कहा जा सकता है। बंगला से डी० एल० राम तथा गिरीश घोष के नाटकों का धड़ाधड़ अनुवाद हुआ। रवीन्द्र बाबू की प्रतिभा से भी हिन्दी नाटककार वंचित न रह सके अतः उनके नाटकों के भी हिन्दी में अनुवाद हुए। रवीन्द्रजी की शैली में हिन्दी नाटककारों को एक नया रास्ता ही दिखाई दिया। रूपनारायण पाण्डेय बंगला नाटकों के प्रमुख अनुवादकों में से हैं।

अनुवादों के साथ-साथ इस काल में पर्याप्त मौलिक नाटक भी लिखे गये। बद्रीनाथ भट्ट ने 'कुरुवन दहन', 'दुर्गावती', 'वेनचरित' तथा चन्द्रगुप्त आदि अच्छे मौलिक नाटक लिखे हैं। इस समय के कुछ नाटक साहित्यिक और कुछ रंगमंच के लिए होते थे।

महाभारत और 'नेत्रोन्मिलन' की क्रमशः माधव शुक्ल तथा मिश्र बन्धुओं ने रचना की। श्री मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदी ने क्रमशः कृष्णार्जुन युद्ध और 'चन्द्रहास' आदि नाटक लिखे तथा नाटककारों के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त की रंगमंचीय नाटककारों में श्री राधेश्याम कथावाचक, आगाहश्र, हरिकृष्ण जौहर नारायणप्रसाद बेताव बहुत प्रसिद्ध हैं। नाटकीय विधान की दृष्टि से संक्रान्ति युग में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ पर फिर भी रूढ़ियां बहुत-सी दूर हो चुकी थीं नाटककारों ने मंगलाचरण आदि की परिपाटी को समाप्त कर दिया। अंकों की संख्या सात से घटा कर तीन तक कर दी गई। भाषा में खड़ीबोली ने और भी मजबू पकड़ी। कथानक में धार्मिकता के स्थान पर सामाजिकता और ऐतिहासिकता का प्र प्रचार हुआ। नाटककारों ने यथार्थता की ओर अपपत्रधान लगाया।

प्रसाद एवं प्रसादोत्तर युग—भारतेन्दु के पश्चात प्रसाद जैसा सर्वाङ्गीण प्रतिभाशाली रचनात्मक व्यक्तित्व सम्पन्न दूसरा कोई भी कथाकार हिन्दी में उत्पन्न नहीं हुआ। भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाटकों के विकास को प्रसाद युग में चरमोत्कर्ष प्राप्त हुआ। प्रसाद ने नई शैली से नाटकों का श्रृङ्गार करने के साथ-साथ सर्वप्रथम हिन्दी नाटक पात्रों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करके उनमें शील, वैचित्र्य का समावेश किया और उनके अन्तर्द्वन्द्व का कलात्मक चित्रण किया। प्रसाद के नाटकों में भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-कला का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। प्रसाद के नाटक चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व तथा रसोत्पादक हैं। भारतीय नाटक का उद्देश्य रस संचरण है जब कि पाश्चात्य दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उनके अनुसार विषयवस्तु और चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान दिया जाता है तथा विभिन्न परिस्थितियों में संघर्ष करते मानव का अन्तर्द्वन्द्व दिखाया जाता है। यद्यपि भारतेन्दु युग से ही मंगलाचरण आदि रूढ़ियों की परम्परा टूट चुकी थी परन्तु प्रसाद ने उसे अनावश्यक समझ कर सर्वथा बहिष्कृत कर दिया। प्रसाद के गुणों में प्रसाद गुण देखने को मिलता है। इनके नाटक न तो सुखान्त ही हैं और न ही दुखान्त हैं। प्रसाद के नाटकों का अन्त वैराग्य भावना से होता है। नायक की विजय होती है और वह फल प्राप्त कर लेता है लेकिन उसकी वैराग्यवृत्ति उसे उपभोक्ता नहीं बनने देती और वह प्राप्त की हुई वस्तु को पुनः प्रतिनायक को लौटा देता है। ऐसे ही विचित्र अन्त को प्रसादान्त कहा जाता है। प्रसादजी ने प्रान्तीय वातावरण के भीतर प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता के ऊपर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है, देखिए—

'मालव और मागध को भूल कर जब आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।'

—चन्द्रगुप्त (अंक १, पृष्ठ ६०)

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध सी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।........निबन्ध खक अपने मन की प्रकृति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर छूटी हुई सूत्र-खाओं पर विचारता चलता है। यही उसकी........व्यक्तिगत विशेषता है।............ बन्ध लेखक जिधर चलता है, उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता अर्थात् बुद्धि और वात्मक हृदय दोनों को साथ लिए रहता है।"

२. गुलाबराय—"निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित कार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन, एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया या हो।"

३. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—"निबन्ध-लेखक मत का प्रतिपादन नहीं करता, द्धान्त स्थिर नहीं करता, वह मनोनीत विषय को अपने व्यक्तित्व के रस से पकाकर कट करता है। वह विषय का अध्ययन करके नहीं लिखता। वह पाठक के साथ त्मीयता स्थापित करता है।........लेखक अपने आपको प्रगट करता है, विषय को हीं। विषय तो केवल बहाना मात्र होता है।"

४. श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी—"निबन्ध में कोई भी व्यक्ति अपने ही भाव ो अभिव्यक्ति के लिए प्रयास करता है। वह उसकी अपनी चेष्टा है। इसलिए अन्य चनाओं की अपेक्षा उसमें उसका अपना व्यक्तित्व विशेष रूप से परिस्फुट होता है। च तो यह है कि निबन्धों में विषय गौण है और अनुभूति मुख्य है।"

५. डा० बलवन्त लक्ष्मण कोतभिरे—"निबन्ध एक साहित्यिक और ललित द्य रचना है जिसमें लेखक किसी विचार या विषय से प्रभावित होकर अपनी भाषा में पने भावों या विचारों की क्रिया तथा प्रतिक्रिया को ऐसे सजीव ढंग से व्यक्त करता था पाठक की मनोवृत्तियों को सचेत करता है........।"

६. श्री जयनाथ नलिन—"निबन्ध स्वाधीन चिंतन और निश्छल अनुभूतियों ा सरस, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।"

६. डा० श्रीकृष्णलाल—"भावों और विचारों की प्रधानता तथा शैली की मणीयता के योग से जिस नवीन साहित्य का प्रचलन हुआ है, उसे ही निबन्ध-साहित्य ी संज्ञा प्रदान की गयी है।........निबन्ध वह साहित्य रूप है जिसमें लेखक ने प्रतिपाद्य षय के भीतर ही अपनी रुचि, भावना और विचारों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति ी है।"

निबन्ध की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में ये निष्कर्ष सामने आते हैं—

१. निबन्ध एक गद्य रचना है।

२. वह अपेक्षाकृत आकार में छोटा है।

३. इसमें व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण होती है।

४. यह चाहे जिस विषय पर लिखा जा सकता है।

५. निवन्ध में विषय गौण और अनुभूति मुख्य होती है।

६. इसमें बुद्धि और हृदय दोनों का उचित अनुपात रहता है।

७. निवन्ध में विचारों और भावों की स्वच्छन्दता के लिये कोई रोक नहीं है।

८. लेकिन उसमें शृंखला, वन्धन, गठाव, तारतम्य होना आवश्यक है।

९. निवन्ध एक सामान्य-गद्य-रचना नहीं, उसमें सरसता एवं त होती है।

१०. निवन्ध स्वतः सम्पूर्ण होता है।

११. इस प्रकार इसे गद्य-मुक्तक कहा जा सकता है।

१२. डा० त्रिगुणायत के अनुसार संक्षेप में यही जा सकता है कि—" वह एक छोटा सा गद्य-विधान है, जिसमें निवन्धकार जीवन या जगत से सम किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति उद्भूत अपनी मानसिक और बौद्धिक प्रक्रिया इस प्रकार निर्वाध-अभिव्यक्ति करता है कि वह अधिक से अधिक रोचक, संवे और चमत्कार पूर्ण हो।"

निवन्ध के तत्व--विद्वानों ने जो निवन्ध की परिभाषाएं दी हैं उनमें नि गुणों—स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता को तो स्पष्ट कर दिया गया है, लेकिन उसके त कोई छान-बीन नहीं की गई है। सामान्य रूप से निवन्ध के तत्व से तात्पर्य उस से है। निवन्ध के पांच भाग होते हैं-

१. विषय

२. संशय

३. पूर्वपक्ष

४. उत्तर पक्ष

५. निष्कर्ष

लेकिन सुविधा की दृष्टि से इनको निम्नलिखित तीन तत्वों के अन्तर्गत ग किया जा सकता है—

‌३. प्रधान आशय को विकसित करने वाले विचार ।
४. गौण विचारों का अवान्तर क्रम ।
५. मुख्य विचार एवं तत्सम्बन्धी विचारों का अनुच्छेदात्मक क्रम ।
६. आवश्यक तथ्यों का विस्तार ।
७. पारस्परिक विचारों में विरोधाभास ।
८. अप्रामाणिकता का बहिष्कार ।
९. शृंखलात्मक स्पष्टीकरण ।
१०. उद्देश्य ।

३. **निष्कर्ष**—निष्कर्ष में विवेचना का सार होता है। इसमें चार तथ्यों ाहार करना होता है—

१. जिज्ञासा की शान्ति ।
२. सारांश स्पष्टीकरण ।
३. परिणामात्मक अन्त ।
४. पाठकावलम्बित फल ।

इन तथ्यों के अतिरिक्त दो प्रमुख तत्व और शेष रह जाते हैं। और ये ही व में निबन्ध के आधार तत्व हैं। वे ये हैं—

१. विचार ।
२. शैली ।

कोई भी निबन्ध किसी विचार को लेकर लिखा जाता है। उसके लिखने के लिए न कोई शैली या अभिव्यंजना का माध्यम भी होता है। इन दोनों के अभाव में न्ध का अस्तित्व हो ही नहीं सकता है। और जहां तक निबन्ध के आन्तरिक तथा य तत्वों का प्रश्न है, वे उसके गुण ही हैं जिनमें से ये तीन प्रमुख हैं—१. सरलता सुबोधता ३. प्रसाद गुण युक्त व्याख्या ।

निबन्ध के प्रकार—विभिन्न विद्वानों ने निबन्ध के विभिन्न भेद माने हैं। इसी ारण वर्गीकरण करते समय बड़ी उलझन उत्पन्न हो जाती है। अतः वर्गीकरण करने पूर्व विद्वानों द्वारा निबन्ध-भेदों से अवगत होना आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र ुक्ल ने शैली के आधार पर निबन्ध के तीन प्रकार माने हैं—"निबन्ध या गद्य-विधान ई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक ।" श्री शिवदानसिंह ौहान के अनुसार "यदि गद्य में लिखा प्रत्येक संक्षिप्त विवेचन निबन्ध है, तो निश्चय ै निबन्धों के दो वर्ग होते हैं—१. कलात्मक निबन्ध जिसे ललित निबन्ध भी कह सकते ैं और २. तथ्य निरूपक वस्तु निष्ठ, वैज्ञानिक निबन्ध ।"

बाबू गुलाबराय ने निबन्ध के चार वर्ग माने हैं—

१. वर्णनात्मक ।
२. विवरणात्मक ।

३. विचारात्मक ।

४. भावात्मक ।

डा० श्रीकृष्णलाल ने तीन भेदों का उल्लेख किया है—१. कथात्मक आख्यात्मक २. वर्णनात्मक ३. चिन्तनात्मक । इनमें से पहले वर्ग और तीसरे का भेद करते हुए कथात्मक के तीन भेद—१. स्वप्न २. आत्म-चरित्र ३. कहानी और चिन्तनात्मक के भी तीन भेद—१. विचारात्मक २. भावात्मक ३. उपमात्मक किये हैं। इन भेदों के अतिरिक्त उन्होंने दो भेद और माने हैं—१. [illegible] २. व्याख्यात्मक ।

श्री ब्रह्मदत्त शर्मा ने निबन्ध के ६ वर्ग माने हैं—१. विचारात्मक २. भावात्मक ३. व्याख्यात्मक ४. वर्णनात्मक ५. विवरणात्मक ६. वैयक्तिक । वर्गीकरण के [illegible] देते हुए श्री शिवनाथ ने लिखा है—"विचार करने पर निबन्धों के इस प्रकार वर्गीकरण के स्थूलतः दो आधार लक्षित होते हैं। एक आधार वह जिसका सम्बन्ध मानवगत हृदय-बुद्धि से है, जिसके अन्तर्गत निबन्ध के उपर्युक्त तीन प्रकार आते दूसरा आधार वह जिसका सम्बन्ध साहित्य में प्रचलित अभिव्यक्ति शैली या प्रस्तुत करने की पद्धति से है, जिसके अन्तर्गत उपर्युक्त अन्तिम दो प्रकार आते उन्होंने इन पांचों भेदों को इस प्रकार रखा है—१. विचारात्मक २. भावात्मक ३. आत्म-व्यंजक ४. वर्णनात्मक ५. कथात्मक ।

श्री जयनाथ नलिन ने भी पांच भेद माने हैं—१. विचारात्मक २. भावात्मक ३. आत्मपरक ४. वर्णनात्मक ५. विवरणात्मक ।

स्पष्ट है कि विद्वानों ने निबन्ध के कम से कम दो और अधिक से अधिक प्रकार निश्चित किये हैं। हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में कुछ समन्वयवादी आलोचक हुए हैं। उनकी प्रवृत्ति समन्वय मूलक और अधिक वर्गीकरण मूलक है। ऐसे [illegible] यह भेद संख्या १० तक पहुँचायी है—

और वैज्ञानिकता कम दिखाई देती है। अतः हम डा० ओंकरनाथ शर्मा के अनुसार निबन्ध के पांच भेद मान सकते हैं—१. विचारात्मक २. आलोचनात्मक ३. भावात्मक ४. वर्णनात्मक ५. विवरणात्मक।

१. **विचारात्मक**—ये तर्क प्रधान होते हैं। आचार्य शुक्ल के मतानुसार इस निबन्ध का आदर्श स्वरूप यह है—"शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरमोत्कर्ष वही कहा जा सकता है, जहां एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर ठूंसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिए हो।" पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के मतानुसार—"जिन निबन्धों में बुद्धि और हृदय का समान योग हो वे ही शुद्ध विचारात्मक निबन्ध कहे जा सकते हैं।" ये निबन्ध प्रमुखतः व्यास शैली में लिखे जाते है। किन्तु शुक्लजी ने इनमें समास शैली का ही पक्ष लिया है।

२. **आलोचनात्मक**—ये निबन्ध प्रायः तुलनात्मक होते हैं। वैसे स्थूल दृष्टि से ये होते तो विचारात्मक ही हैं, लेकिन इनमें एक सूक्ष्म अन्तर होता है। डा० ओंकारनाथ के शब्दों में दोनों में जो भेद है वह इस प्रकार है—विचार का सम्बन्ध साधारण और व्यापक वृत्ति से है। आलोचना का सम्बन्ध प्रस्तुत वस्तु के निरीक्षण और मूल्यांकन से रहता है। विचार किसी आदर्श या परामर्श की प्रतिष्ठा करता है, आलोचना उसका रूप दर्शन कराती है।

३. **भावात्मक**—ये राग या हृदय प्रधान होते हैं। ये व्यास-शैली, धारा-शैली या विक्षेप-शैली में लिखे जाते हैं। इन निबन्धों के अन्तर्गत विद्वानों ने इन साहित्य रूपों को भी ग्रहण कर लिया है—१. गद्य-काव्य या गद्य-गीत २. वैयक्तिक निबन्ध ३. संस्मरण ४. हास्य व्यंगात्मक निबन्ध ५. शृंगारिक प्रवकथन। इन निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता आत्म विभोरता, रागात्मकता या काव्यत्व है।

४. **वर्णनात्मक**—ये निबन्ध कल्पना प्रधान होते हैं। किन्तु बुद्धि से अधिक हृदय पक्ष ही इनमें प्रबल होता है। यात्रा सम्बन्धी या प्रकृति-सौंदर्य सम्बन्धी निबन्ध प्रायः इसी कोटि में आते हैं। ये एकमात्र व्यास-शैली पर आधारित होते हैं। इनकी प्रमुख विशेषताएं दो हैं—१. चित्रात्मकता और २. वैयक्तिकता।

५. **विवरणात्मक**—वर्णनात्मक और विवरणात्मक दोनों निबन्ध-प्रकारों का भेद बताते हुए गुलाबराय ने लिखा है—"वर्णनात्मक निबन्धों में वस्तु को स्थिर रूप में देखकर वर्णन किया जाता है, इसका सम्बन्ध अधिकतर देश से है। विवरणात्मक का सम्बन्ध अधिकांश में काल से है। इसमें वस्तु को उसके गतिशील रूप में देखा जाता है। डा० ओंकार के शब्दों में—"विवरणात्मक-निबन्ध वर्णनात्मक निबन्धों की अपेक्षा अधिक चैतन्यमय होते हैं।" इनकी भी प्रमुख शैली व्यास-शैली है। ऐसे निबन्धों में अधिकतर घटनाओं का विवरण रहा करता है और इसके साथ ही जीवनी, कथाएं, पुरातत्व, अन्वेषण, तथा इतिहास आदि पर इसी प्रकार के निबन्ध लिखे जाते हैं।

निबन्ध शैलियां—विषय प्रतिपादन के ढंग को शैली कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से अपने विषय का प्रतिपादन करता है। अतः निबन्ध शैलियों के अनेक भेद

३. विचारात्मक ।

४. भावात्मक ।

डा० श्रीकृष्णलाल ने तीन भेदों का उल्लेख किया है—१. कथात्मक म आख्यात्मक २. वर्णनात्मक ३. चिन्तनात्मक । इनमें से पहले वर्ग और तीसरे व भेद करते हुए कथात्मक के तीन भेद—१. स्वप्न २. आत्म-चरित्र ३. कहानी और चिन्तनात्मक के भी तीन भेद—१. विचारात्मक २. भावात्मक ३. उपमात्मक किये हैं। इन भेदों के अतिरिक्त उन्होंने दो भेद और माने हैं—१. ता २. व्याख्यात्मक ।

श्री ब्रह्मदत्त शर्मा ने निबन्ध के ६ वर्ग माने हैं—१. विचारात्मक २. भावा ३. व्याख्यात्मक ४. वर्णनात्मक ५. विवरणात्मक ६. वैयक्तिक । वर्गीकरण के आ देते हुए श्री शिवनाथ ने लिखा है—"विचार करने पर निबन्धों के इस प्रकार वर्गीकरण के स्थूलतः दो आधार लक्षित होते हैं। एक आधार वह जिसका सम मानवगत हृदय-बुद्धि से है, जिसके अन्तर्गत निबन्ध के उपर्युक्त तीन प्रकार आते दूसरा आधार वह जिसका सम्बन्ध साहित्य में प्रचलित अभिव्यक्ति शैली या वि प्रस्तुत करने की पद्धति से है, जिसके अन्तर्गत उपर्युक्त अन्तिम दो प्रकार आते है उन्होंने इन पांचों भेदों को इस प्रकार रखा है—१. विचारात्मक २. भावा ३. आत्म-व्यंजक ४. वर्णनात्मक ५. कथात्मक ।

श्री जयनाथ नलिन ने भी पांच भेद माने हैं—१. विचारात्मक २. भावा ३. आत्मपरक ४. वर्णनात्मक ५. विवरणात्मक ।

स्पष्ट है कि विद्वानों ने निबन्ध के कम से कम दो और अधिक से अधिक प्रकार निश्चित किये हैं। हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में कुछ समन्वयवादी आलोचक हुए हैं। इनकी प्रवृत्ति समन्वय मूलक और अधिक वर्गीकरण मूलक है। ऐसे विद्वा यह भेद संख्या १० तक पहुँचायी है—

१. वर्णनात्मक
२. विवरणात्मक
३. विचारात्मक
४. भावात्मक
५. व्याख्यात्मक
६. आलोचनात्मक
७. परिचयात्मक
८. इतिवृत्तात्मक
९. चिन्तनात्मक
१०. विवेचनात्मक

स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण केवल वर्गीकरण के लिए किया गया है। नि के इन विभेदों में जो विस्तारवादी दृष्टिकोण दिखाई देता है, उसमें पुनरावृत्ति अ

और वैज्ञानिकता कम दिखाई देती है। अतः हम डा० ओंकरनाथ शर्मा के अनुसार निबन्ध के पांच भेद मान सकते हैं—१. विचारात्मक २. आलोचनात्मक ३. भावात्मक ४. वर्णनात्मक ५. विवरणात्मक।

१. **विचारात्मक**—ये तर्क प्रधान होते हैं। आचार्य शुक्ल के मतानुसार इस निबन्ध का आदर्श स्वरूप यह है–"शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरमोत्कर्ष वही कहा जा सकता है, जहां एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर ठूंसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिए हो।" पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के मतानुसार—"जिन निबन्धों में बुद्धि और हृदय का समान योग हो वे ही शुद्ध विचारात्मक निबन्ध कहे जा सकते हैं।" ये निबन्ध प्रमुखतः व्यास शैली में लिखे जाते है। किन्तु शुक्लजी ने इनमें समास शैली का ही पक्ष लिया है।

२. **आलोचनात्मक**—ये निबन्ध प्रायः तुलनात्मक होते हैं। वैसे स्थूल दृष्टि से ये होते तो विचारात्मक ही हैं, लेकिन इनमें एक सूक्ष्म अन्तर होता है। डा० ओंकारनाथ के शब्दों में दोनों में जो भेद है वह इस प्रकार है—विचार का सम्बन्ध साधारण और व्यापक वृत्ति से है। आलोचना का सम्बन्ध प्रस्तुत वस्तु के निरीक्षण और मूल्यांकन से रहता है। विचार किसी आदर्श या परामर्श की प्रतिष्ठा करता है, आलोचना उसका रूप दर्शन कराती है।

३. **भावात्मक**—ये राग या हृदय प्रधान होते हैं। ये व्यास-शैली, धारा-शैली या विक्षेप-शैली में लिखे जाते हैं। इन निबन्धों के अन्तर्गत विद्वानों ने इन साहित्य रूपों को भी ग्रहण कर लिया है—१. गद्य-काव्य या गद्य-गीत २. वैयक्तिक निबन्ध ३. संस्मरण ४. हास्य व्यंगात्मक निबन्ध ५. शृंगारिक प्रक्कथन। इन निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता आत्म विभोरता, रागात्मकता या काव्यत्व है।

४. **वर्णनात्मक**—ये निबन्ध कल्पना प्रधान होते हैं। किन्तु बुद्धि से अधिक हृदय पक्ष ही इनमें प्रबल होता है। यात्रा सम्बन्धी या प्रकृति-सौंदर्य सम्बन्धी निबन्ध प्रायः इसी कोटि में आते हैं। ये एकमात्र व्यास-शैली पर आधारित होते हैं। इनकी प्रमुख विशेषताएं दो हैं—१. चित्रात्मकता और २. वैयक्तिकता।

५. **विवरणात्मक**—वर्णनात्मक और विवरणात्मक दोनों निबन्ध-प्रकारों का भेद बताते हुए गुलाबराय ने लिखा है—"वर्णनात्मक निबन्धों में वस्तु को स्थिर रूप में देखकर वर्णन किया जाता है, इसका सम्बन्ध अधिकतर देश से है। विवरणात्मक का सम्बन्ध अधिकांश में काल से है। इसमें वस्तु को उसके गतिशील रूप में देखा जाता है। डा० ओंकार के शब्दों में—"विवरणात्मक-निबन्ध वर्णनात्मक निबन्धों की अपेक्षा अधिक चैतन्यमय होते हैं।" इनकी भी प्रमुख शैली व्यास-शैली है। ऐसे निबन्धों में अधिकतर घटनाओं का विवरण रहा करता है और इसके साथ ही जीवनी, कथाएं, पुरातत्व, अन्वेषण, तथा इतिहास आदि पर इसी प्रकार के निबन्ध लिखे जाते हैं।

निबन्ध शैलियां—विषय प्रतिपादन के ढंग को शैली कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से अपने विषय का प्रतिपादन करता है। अतः निबन्ध शैलियों के अनेक भेद

होते हैं। किन्तु फिर भी अध्ययन के लिए निवन्ध-शैलियों को स्थूल रूप से निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

१ **समास शैली**—इसके वाक्य विभक्ति युक्त तथा द्वित्व शब्दों के योग से वने होते हैं। समासों की वहुलता होती है।

२. **व्यास-शैली**—यह समास शैली के विल्कुल विपरीत होती है।

३. **सूत्र व्याख्या शैली**—इसमें पहले कुछ वाक्य सूत्र रूप में होते हैं और फिर उनकी व्याख्या की जाती है।

४. **व्याख्या-सूत्र शैली**—यह तीसरे वर्ग की शैली के विपरीत होती है।

५. **वार्तालाप शैली**—यह कहानी की तरह वार्तालापों पर आधारित होती है।

६. **धारा-शैली**—इसकी भाषा में सहज प्रवाह होता है। कहीं भी कोई रुकावट या अड़चन नहीं आती। इस शैली में प्रायः मुहावरों का तथा शब्द-मैत्री पर अधिक वल दिया जाता है।

७. **विक्षेप-शैली**— इस शैली में वाक्य गठन व्याकरण के अनुरूप नहीं, प्रभाव के आधार पर किया जाता है। अर्थात् जिस वात पर वल दिया जाता है, वाक्य में उसका प्रयोग पहले किया जाता है, चाहे वह क्रिया ही क्यों न हो।

हिन्दी-निबन्ध का विकास

अगर प्रत्येक वस्तु को वेदों में खोजने की प्रवृति को छोड दिया जाय तो इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी-निवन्ध का जन्म भारतेन्दु युग में हिन्दी-समाचार पत्रों के माध्यम से हुआ है। अंग्रेजी के अप्रत्यक्ष प्रभाव को भी सहन न करने वाले स्वाभिमानी समीक्षक तुलसी की रामायण की इस पंक्ति का प्रमाण देकर कह सकते हैं कि हिन्दी में निवन्ध का उदय वहुत पहले हो चुका था—'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा-निवन्ध भांति मंजुल मातनेति।' किन्तु इसमें 'निवन्ध' शब्द के प्रयोग के आधार पर ही निवन्ध के उदय की गवेषणा वहुत पहले से करना ठीक प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः हिन्दी-निवन्ध का उदय भारतेन्दु युग के आस-पास ही हुआ है। यदि इतना मानकर चलने में कोई कठिनाई न हो तो प्रश्न होता है कि, पहला निवन्धकार कौन है ?

हिन्दी-निवन्ध का प्रथम उद्भावक—हिन्दी-निवन्ध का प्रथम उद्भावक कौन था ? इस प्रश्न को लेकर हिन्दी-समीक्षा क्षेत्र में दो मत प्रचलित हैं। एक मत भारतेन्दु और दूसरा वालकृष्ण भट्ट को हिन्दी-निवन्ध का उद्भावक मानता है। इन दोनों मतों के मानने वाले विद्वानों की धारणा इस प्रकार है—

वालकृष्ण को मानने वाले विद्वानों के मतः—

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित हिन्दी-साहित्य कोश में वालकृष्ण भट्ट को 'हिन्दी-निवन्ध का जनक' कहा है।

२. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के मतानुसार वालकृष्ण भट्ट हिन्दी के सर्वप्रथम लेखक माने जा सकते हैं।

३. डा० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के सर्वप्रथम निबन्ध लेखक थे।

भारतेन्दु को मानने वाले विद्वानों के मत—

१. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने भारतेन्दु को निबन्ध का उद्भावक मानते हुए लिखा है—"वस्तुतः निबन्ध-रचना के व्यवस्थित आरम्भ कर्त्ता भी वही माने जा सकते हैं।"

२. श्री विजयशंकर मल्ल ने 'हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियां' नामक पुस्तक में लिखा है—"हिन्दी में निबन्धों की परम्परा चलाने वाले भारतेन्दु ही हैं।"

३. डा० रामरतन भटनागर 'संचयन' की भूमिका में इसी प्रकार का मत देते हुए लिखते हैं—"निबन्ध-कला का पहला सुव्यवस्थित रूप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५०-८५) में मिलता है ...... वे हिन्दी-गद्य के पिता, पहले निबन्धकार और पहले शैलीकार हैं।"

४. श्री शिवनाथ ने 'भारतेन्दु-युगीन' निबन्ध में लिखा है—"भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि और प्रसिद्ध निबन्धकारों में सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम आता है।"

५. श्री ब्रह्मदत्त शर्मा 'हिन्दी साहित्य के निबन्ध' में लिखते हैं—"यद्यपि भारतेन्दु से पहले हिन्दी के कतिपय लेख लिखे मिलते हैं, परन्तु हिन्दी-निबन्ध परम्परा का आरम्भ भारतेन्दु द्वारा ही माना जाता है।"

इन मतों के अतिरिक्त कुछ मत और शेष रह जाते हैं जो सदासुखलाल और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को हिन्दी-निबन्ध का उद्भावक मानते हैं। श्री शिवनाथ ने यद्यपि भारतेन्दु को पर्याप्त महत्व प्रदान किया है लेकिन आरम्भ कर्त्ता के रूप में नहीं, केवल निबन्ध लेखक के रूप में। उन्होंने सदासुखलाल को हिन्दी-निबन्ध का आरम्भ-कर्त्ता माना है—"हिन्दी-साहित्य में निबन्धों के निर्माण की अटूट परम्परा यद्यपि भारतेन्दु युग से चली तथापि इसकी रचना का आरम्भ उपर्युक्त युग के लगभग १०० वर्ष पूर्व ही हो गया था और निबन्ध-रचना के आरम्भ कर्त्ता थे श्रीसदासुखलाल...... ......।"

श्री वासुदेव एम. ए. ने एक दुस्साहस ऐसा कर डाला है जिसमें औचित्य का बहुत अभाव है। आप आचार्य शुक्ल को निबन्ध का जन्मदाता मानते हैं। 'विचार और निष्कर्ष' में आपने लिखा है कि—"इसके अतिरिक्त हिन्दी-निबन्ध साहित्य के जन्मदाता भी शुक्लजी ही थे।"

इन परस्पर-विरोधी मतों के आधार पर कोई भी निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं लगता। फिर भी किसी न किसी को तो उद्भावक बनने का श्रेय देना ही पड़ेगा। इसके लिये हम दो बातों के आधार पर निर्णय ले सकते हैं। पहली बात तो यह कि श्री भट्ट और भारतेन्दु दोनों ही निबन्ध लेखक थे। इनमें से जो पहले हुआ, जिसने पहले लिखना शुरू किया वही उसका उद्भावक माना जाना चाहिए। दूसरा यह कि,

निबन्ध को शुद्ध निबन्ध का स्वरूप प्रदान किया हो उसे उसका जनक कहा जाना चाहिए, तो दोनों ही दृष्टियों से भारतेन्दु पहले निवन्धकार ठहरते हैं, जिन्होंने निवन्ध को उन सब तत्त्वों से मण्डित किया जो उसकी परिभाषा में निर्दिष्ट किये जाते हैं, तथा सबसे पहले निबन्ध लिखना प्रारम्भ किया। रहा सवाल सदासुखलाल और शुक्ल का तो उनके सम्बन्ध में कुछ भी कहना व्यर्थ है। इन्हें साधारण बुद्धि का आलोचक भी निबन्ध का उद्‌भावक नहीं मान सकता।

हिन्दी-निबन्ध के विकास के चार युग—डा० ओंकारनाथ शर्मा ने निवन्ध-विकास की अवस्थाओं और स्वरूप का विस्तार से विवेचन करते हुए अपने शोध-ग्रंथ 'हिन्दी-निबन्ध का विकास' में हिन्दी-निवन्ध विकास के चार युग बताते हुए उनका संकेत इस प्रकार दिया है—

नामकरण	कालावधि	अवस्था	प्रमुख गुण
१. भारतेन्दु युग	सन् १८७३-१९००	अभ्युत्थान	जागरण
२. द्विवेदी युग	सन् १९००-१९२०	परिमार्जन	गुण ग्रहण
३. शुक्ल युग	सन् १९२०-१९४०	उत्कर्ष	गाम्भीर्य
४. अद्यतन युग	सन् १९४० से अद्यतन	प्रसरण	वैविध्य

१. भारतेन्दु युग (१८७३–१९००)

डा० वार्ष्णेय ने राधाचरण गोस्वामी, जगमोहनसिंह, अम्बिकादत्त व्यास आदि के लेखन के आधार पर इस युग के निवन्धों को निवन्ध न मानकर लेख माना है। हां, भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने अवश्य निवन्ध लिखे हैं। किन्तु बहुत से समीक्षक निवन्ध और लेख को एक ही मानते हैं, अतः इस युग के निबन्धों को दो वर्गों में रखकर अध्ययन करना उचित प्रतीत नहीं होता।

इस काल के निवन्धों की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए डा० त्रिगुणायत ने निम्नलिखित प्रवृत्तियों की ओर गवेपक का ध्यान आकर्पित किया है—

१. इस काल के निवन्धों में व्याख्या सौष्ठव नहीं मिलता। वाक्य-विन्यास से भी व्याकरण आदि की अशुद्धियां पाई जाती हैं।

२. वास्तव में ये निवन्ध-निवन्ध न होकर लेख ही होते थे।

३. डा० सत्येन्द्र ने इस काल के निवन्ध साहित्य की रूपरेखा पत्र-कला से सम्वन्धित मानी है। वह लिखते हैं कि यह सभी निवन्ध साधारण किसी सामयिक समस्या पर नोटवत् हैं, जिनमें स्वतन्त्र निवन्ध-कला के वीज पैदा हो गये हैं। अठारवीं शताब्दी में अंग्रेजी निवन्ध भी पत्र-कला के साथ आगे वढ़े थे।

४. उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की निवन्ध-रचनाएं संग्रह रूप में नहीं मिलतीं, वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में ही दिखाई पड़ती हैं। पुस्तक रूप में प्रकाशित न होने के कारण अधिकांश सामग्री प्राप्त नहीं है।

५. अनेक सामान्य विपयों पर जैसे वृक्ष, भौंह, आंख आदि पर छोटे-छोटे निवन्ध ही लिखे गये हैं।

६. इन स्थायी विषयों के साथ सामाजिक जीवन-सम्बन्धी ऋतु चर्चा, पर्व-त्योहार आदि पर भी साहित्यिक निबन्ध लिखे गये। इन लेखों में देश की परम्परागत भावनाओं और उमंगों का प्रतिबिम्ब रहता था।

७. ये लेख ग्रंथ रूप में प्रकाशित नहीं हुए थे। मासिक पत्रों के निबन्धों जैसे लेख यथार्थ में बड़े ग्रंथ के ही भाग हैं। अतः इस काल के निबन्धों में भी दो प्रकार के रूप मिलते हैं—

(क) ग्रंथ रचना की शैली से एक तटस्थ भाव-गाम्भीर्य लिए हुए।

(ख) स्फुट विचारों में विनोदात्मकता, रूपकत्व, तथा व्यक्तिगत भाव-संस्पर्शिता से युक्त निबन्ध।

८. हास्य विनोद मुहावरों के प्रयोग आदि की ओर लेखकों की विशेष रुचि पाई जाती है।

युग के प्रमुख लेखक:—

भारतेन्दु—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारतेन्दु साहित्य के उद्भावक और उन्नायक हैं। डा० ओंकार ने इनके निबन्धों के सम्बन्ध में लिखा है—"........ भारतेन्दुजी के निबन्ध अधिकतर सामयिक समस्याओं पर आधारित थे, जिनमें व्यंग्य-विनोद की प्रधानता रहती थी। इन्हीं के निबन्धों के द्वारा और अन्य प्रयत्नों से हिन्दी भाषा विकसित हुई तथा हिन्दी को प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई। इनके निबन्धों में केवल व्यंग्य या हास्य नहीं था, सामाजिक उन्नति की उत्कट इच्छा तथा मौलिक-विचार-सम्पन्नता भी थी जो निबन्ध-कला के विशेष गुण हैं।"

भारतेन्दु के निबन्धों की भाषा सरल और लोकोन्मुख है। "एक संयत और सधी हुई भाषा जो द्विवेदी युग के परिमार्जन और विन्यास का आधार बनी, भारतेन्दु के उन निबन्धों में मिल जाती है, जिनमें वे विषय का गम्भीरतापूर्वक प्रतिपादन करते हैं अथवा जिन्हें लिखते समय उनके मन में उस विषय की चर्चा करना अभीष्ट नहीं होता, जितना उसका ज्ञान प्रस्तुत करना।" इनमें एक अपूर्व स्वप्न, भूकम्प, मित्रता, भारत-वर्षोन्नति कैसे हो सकती है? श्रुति रहस्य, होली आदि अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं।

पं० बालकृष्ण भट्ट—भारतेन्दु के बाद पण्डित भट्ट का नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जाता है। इन्होंने कई प्रकार के निबन्ध लिखे थे। श्री त्रिगुणायत ने इन्हें ६ वर्गों में रखा है—

१. विचित्र विषयों पर लिखे गये निबन्ध, जैसे—'भकुआ कौन-कौन'।

२. समसामयिक विषयों पर लिखे गये निबन्ध, जैसे—'पुरातन और नवीन सभ्यता।'

३. काल्पनिक निबन्ध, जैसे—'आंसू', चन्द्रोदय।

४. गम्भीर तथा शिक्षाप्रद निबन्ध, जैसे—'आत्म-निर्भरता, माता का स्नेह।'

५. सामाजिक और राजनीतिक निबन्ध, अनेक निबन्ध के रूप में लिखी हुई जीवनियां भी इसी कोटि में आती हैं, जैसे—'शंकराचार्य, गुरुनानक देव।'

६. भावात्मक निबन्ध—जैसे, कल्पना। इनमें रस और भाव की व्यंजना मिलती है।

इनके निबन्धों की ये विशेषताएं बताई गई हैं—

१. राजा शिवप्रसाद, भारतेन्दु, लक्ष्मणसिंह आदि तत्कालीन प्रमुख लेखकों की भाषा के रूप भट्टजी में मिलते हैं।

२ शैली की दृष्टि से भट्टजी के निबन्ध संस्कृत शैली के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। यद्यपि उन्होंने उर्दू और अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है, परन्तु ऐसा उन्होंने हिन्दी को व्यापक रूप देने और भाव प्रकाशन में सुगमता लाने के लिए ही किया है। उन्होंने सुन्दरत्मा, मरपच, आदि कुछ नये शब्द भी गढ़े हैं।

३. भाषा को सुगम, बोध-गम्य और सरस बनाने के लिए उसे व्यावहारिक और व्यापक रूप दिया है।

४. उनके निबन्धों में व्यक्तित्व और आत्म-चिन्तन दिखाई देता है। उनके निबन्ध प्रायः वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, तर्क प्रधान, व्याख्यात्मक और समालोचनात्मक हैं।

५. शिष्ट, मार्मिक और अवैयक्तिक हास्य-व्यंग्य भट्टजी की प्रमुख विशेषता है। किन्तु कहीं-कहीं उनके विचार वैज्ञानिक और तर्क संगत न होकर हास्यास्पद हो गये हैं।

स्पष्ट है कि भट्टजी भारतेन्दु युग के सर्व प्रमुख निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों में भारतेन्दु की अपेक्षा निबन्ध के लक्षण अधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं।

पं० प्रतापनारायण मिश्रः—मिश्रजी के निबन्ध निश्छल हास्य से युक्त हैं। इन्होंने छोटी-छोटी बातों पर भी निबन्ध लिखे, जैसे—बात, धोखा, दांत, भौं आदि। इनके निबन्धों में इनके व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। मिश्रजी की भाषा लोक भाषा के निकट है। व्याकरण की ओर आपने विशेष ध्यान नहीं दिया। शैली की दृष्टि से श्री मिश्रजी ने वार्तालाप शैली का—'आप' निबन्ध में—सफल प्रयोग कर नई दिशाओं के द्वार खोले। डा० ओंकार ने पण्डितजी को 'मन की स्वच्छन्द भटकन' प्रणाली का निबन्धकार कहा है।

भारतेन्दु युग के अन्य निबन्धकारों में पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० बद्री-नारायण चौधरी, 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास, अम्बिकादत्त व्यास, माधवप्रसाद मिश्र आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन लेखकों ने भी निबन्ध के स्वरूप को निश्चित दिशा और उसे सुगठन देने में अद्भुत सहयोग प्रदान किया है। गोस्वामीजी के प्रौढ़ मनोरंजन से युक्त निबन्ध, प्रेमघन के विचारात्मक एवं भावात्मक निबन्ध—'दिल्ली दरबार में मित्र-मन्डली, बनारस का बुढ़वा मंगल', अम्बिकादत्तजी के संस्कृत गर्भित

शैली से युक्त, धैर्य, क्षमा आदि निबन्ध, माधवजी का 'रामलीला' नामक निबन्ध आदि उदाहरण स्वरूप अपने मत के प्रमाण में उपस्थित किये जा सकते हैं।

द्विवेदी-युग (१६००—१६२०)

जैसा कि कहा जा चुका है कि यह निबन्ध-स्वरूप के परिमार्जन का युग था। डा० ओंकार ने लिखा है कि भारतेन्दु युग का निबन्ध समाचार-पत्रों पर आश्रित था। द्विवेदी युग में निबन्ध रचना अपना पृथक अस्तित्व ग्रहण करने लगी। "भारतेन्दु युग में विषय शैली तथा विचारधारा का उत्थान और विस्तार तो अवश्य हुआ, पर निबन्ध-साहित्य की परिष्करण अवस्था द्विवेदी युग में ही आई। द्विवेदी युग में निबन्धों का प्रयोजन केवल मनोविनोद तथा चमत्कार प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं रहा, परन्तु उच्चकोटि के विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों की ओर भी प्रवृत्ति हुई। भाषा और व्याकरण सम्बन्धी निबन्ध लिखे गये।" द्विवेदी युग के निबन्ध प्रमुख रूप से निम्नलिखित आठ विषयों पर लिखे गये हैं—

१ साहित्य तथा भाषा २. आध्यात्मिक तथा धार्मिक ३. विज्ञान ४. इतिहास तथा पुरातत्त्व ५. भूगोल तथा यात्रा ६. उद्योग शिल्प ७. जीवन-चरित्र ८. अन्य विविध विषय। इस युग में ये प्रमुख निबन्धकार हुए हैं—

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीः—आचार्यजी ने गहन से गहन और साधारण से साधारण विषयों पर उपदेश और ज्ञान-वर्धक निबन्ध लिखे हैं। द्विवेदीजी के निबन्धों का प्रमुख उद्देश्य हिन्दी भाषा का परिमार्जन और उसका प्रचार करना था। द्विवेदीजी बोल-चाल की भाषा के पक्षपाती थे—"बोल-चाल की भाषा से मतलब उस भाषा से है, जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान और अविद्वान दोनों जिसे काम में लाते हैं।" द्विवेदीजी के मनोरंजक और कुतुहल प्रधान निबन्धों की भाषा प्रसाद, ओज गुण व्यंग्य और सहजता लिए हुए है। द्विवेदीजी के निबन्ध प्रायः व्यास-शैली में लिखे गये हैं। म्युनिसपेलिटियों के कारनामे, महा कवि माघ की राजनीति, कवि कर्त्तव्य, समालोचना समुच्चय, साहित्य सीकर, नायिका भेद आदि निबन्ध इनके प्रमुख निबन्ध हैं। वैसे द्विवेदीजी ने ऐसे ही सैकड़ों निबन्ध लिखकर हिन्दी को समृद्धि प्रदान की है। संक्षेप में द्विवेदीजी के निबन्ध हिन्दी-साहित्य के उत्थान के प्रतीक-रूप में हमारे सामने आते हैं। इनके निबन्धों ने निबन्ध के स्वरूप को स्थिर किया और जड़ता से सजीवता प्रदान की।

बाबू बालमुकुन्द गुप्तः—श्री गुप्तजी द्विवेदी तक से टक्कर लेने की क्षमता रखते थे। दोनों में बड़ा भारी साहित्यिक संघर्ष हुआ था, क्योंकि द्विवेदी निर्वैयक्तिकता के पक्षपाती थे और गुप्तजी वैयक्तिकता तथा व्यक्तित्व के।

श्री गुप्तजी के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता उर्दू का चुटीलापन है। इसीलिए इनके निबन्धों में तीक्ष्णता, आलोचनात्मकता, और तुलनात्मक दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। 'वैसराय का कर्तव्य' नामक निबन्ध इनके दृष्टिकोण का पूरा परिचय प्रदान करने की क्षमता रखता है। यह गुप्तजी का ही साहस था कि द्विवेदीजी जैसे नीतिवादी

गम्भीर व्यक्ति के राज्य में हास्य-व्यंग्य को प्रस्तुत करने में नहीं चूके। डा॰ ओंकार ने लिखा है–"गुप्तजी के निवन्धों ने हास्य-विनोद तथा व्यंग्य द्विवेदी युग में प्रस्तुत किये। इनकी सरस, सजीव रोचक तथा व्यवहारिक शैली वहुत कम निवन्धों में देखी जाती है। गुप्तजी के निवन्धों में निवन्ध के पाश्चात्य लक्षरण ठीक उतरते हैं। विषय के सम्वन्ध में इन्होंने कम ही लिखा है, व्यंग्य और उपहास पर ही इनका अधिक वल रहा है। तत्कालीन अन्य निवन्धकारों की अपेक्षा ये विषय का बन्धन कम रखते हुए सरल और अविरत विचारधारा को निवन्ध में रखते थे।" शिवशम्भु के चिट्ठे में संकलित १४ लेख इस संदर्भ में प्रयारणस्वरूप देखे जा सकते हैं।

पं० गोविन्दनारारण मिश्र—मिश्रजी संस्कृत गर्भित शैली के निबन्धकार हैं। वाक्य वड़े-बड़े लिखते हैं। इसीलिए उनकी शैली प्रचलित नहीं हो पाई। वैसे सिद्धान्ततः आप सरल भाषा के प्रेमी थे–"ऐसी सरल भाषा ही सर्वोत्तम कहाती है कि जिसके श्रवरण मात्र से अर्थ-वोध होकर भाव पूर्णतया समझ में आ जाय।" आपका 'प्राकृत-विचार' इसका प्रमारण है। विषय की दृष्टि से मिश्रजी ने अधिकांशतः साहित्यिक निबन्ध ही लिखे हैं, जैसे सार-सुधा निधि, उक्ति वक्ता, कवि और चित्रकार आदि। मिश्रजी अनुप्रास प्रिय थे। संस्कृत के प्रभाव से 'कादम्बरी' का बरवस स्मरण हो आता है। आपने द्विवेदीजी की भांति ही हिन्दी को नियमवद्ध और शुद्ध वनाने का प्रयत्न किया।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी:—कहानी के क्षेत्र में तहलका मचा देने वाले गुलेरी जी निवन्धकार के रूप में भी कम यशस्वी लेखक नहीं रहे हैं। आपने प्रधानतः तीन प्रकार के निवन्ध लिखे हैं—

१. सांस्कृतिक, जैसे—'संगीत'।
२. भावात्मक, जैसे—'मारेसि मोहि कुठाऊं'।
३. विचारात्मक, जैसे—'कछुआ धर्म।'

आपके निवन्धों की ये विशेषताएं हैं—

१. प्राचीनता के साथ नूतनता का मिश्रण।
२. मनोरंजन के साथ विद्वत्ता का समावेश।
३. विचारात्मकता के साथ भावात्मकता का अपूर्व योग।
४. सरल और चटपटी भाषा शैली।
५. शुक्लजी के शब्दों में—"शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरीजी में मिलती है वह और किसी लेखक में नहीं।"

सरदार पूर्णसिंह:—भावात्मक निवन्धों पर सरदारजी का एकमात्र अधिकार है। आपने केवल आठ निवन्ध लिखे हैं—१. आचरण की सभ्यता २. मजदूरी और प्रेम ३. सच्ची वीरता ४. कन्यादान ५. पवित्रता ६. अमेरिका का भरत जोगी वाल्ट ह्विट मैन ७. ब्रह्मकांति ८. नयनों की गंगा। इन निबन्धों में उपहास, विनोद और विरोधाभास का भी आभास मिलता है। इनसे शैली में व्यंग्य, कसावट और चमत्कार आ गए

है। आपकी भाषा में अलंकारिकता दिखाई देती है। वैसे निबन्धों का मूलाधार लेखक की आध्यात्मिक भावना तथा मानवतावादी दृष्टिकोण है।

पं० पद्मसिंह शर्मा:—पंडितजी तुलनात्मक समीक्षा के उन्नायक माने जाते हैं। आपने संस्मरण, रेखाचित्र तथा भावात्मक निबन्धों का सृजन किया है। भावात्मक निबन्धों में धारा और विक्षेप शैली का प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए 'श्री पं० गणपति शर्मा', 'हिन्दी के प्राचीन साहित्य का उद्धार', नामक निबन्ध देखे जा सकते हैं। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने आपके निबन्धों के सम्बन्ध में लिखा है—"शर्माजी पूरे साहित्य के मर्मज्ञ और ज्ञाता थे। आलोचना तो इनकी तीखी होती ही थी, ब्रजभाषा के पक्के प्रेमी और प्राचीन कवियों के पूरे भक्त थे। उनकी भाषा बड़ी चटपटी और चुटकली होती थी। हंसी मजाक की तो वे एक पुड़िया थे। उन्हें तुलनात्मक समालोचना का प्रवर्तक कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। शर्माजी फारसी के फजिल, उर्दू के उस्ताद और हिन्दी के हीरा ही नहीं संस्कृत साहित्य के भी सुधानिधि थे।"

डा० श्यामसुन्दरदास—आपने गम्भीर विषयों को छात्रों के लिए सरल रूप में प्रस्तुत किया। आपके प्रायः सभी निबन्ध भाषा और साहित्य से सम्बन्धित हैं। आपकी भाषा तत्सम है और शैली व्यास है। आपने विषय को प्रमुखता प्रदान की है।

इस युग के अन्य निबन्धकारों में पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, यशोदानन्दन अखौरी, पं० किशोरीदास वाजपेयी, मिश्रबन्धु, पं० भगवानदास, हरिऔध, आदि प्रभृत्ति विद्वानों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

शुक्ल युग (१९२०–१९४०)

यह हिन्दी का उत्कर्ष-काल है। इस युग में विषय, शैली, स्वरूप, भाव, भाषा, विचार आदि निबन्ध के सभी अंगों का उत्कर्ष या उत्थान हुआ। उत्थान कर्त्ताओं में इन विद्वानों का योग प्रमुख रूप से रहा है—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आचार्य शुक्ल ने निबन्ध को वह सुगठन प्रदान किया है, जिसकी प्राप्ति के लिए हिन्दी के विद्वान युगों से प्रयत्न करते आ रहे थे। आपने साहित्यिक-निबन्धों को जिस मनोभूमिका पर खड़ा किया है, वह हिन्दी के लिए अनुकरण और गौरव की वस्तु है। डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में—"उनके निबन्ध विषय प्रधान हैं और उनमें उनके गम्भीर चिन्तन प्रधान व्यक्तित्व का ही प्रकाशन हुआ है। यद्यपि कहीं-कहीं उनमें हास-परिहास, व्यंग्य विनोद का भी पुट मिलता है।.......वे कारलायल, जानसन, मेथ्यूआरनाल्ड की याद दिलाते हैं, मोन्टेन, लैम्ब और एडिसन की नहीं।" डा० वार्ष्णेय के मतानुसार—"रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकारों पर लिखे गये निबन्ध भी हिन्दी-निबन्ध साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति हैं।" "विचारात्मक निबन्धों में भी उसी सूक्ष्मेक्षिका का प्रसार दिखाई पड़ता है। विषय के आधार से मनोवैज्ञानिक चिन्तन-पद्धति का प्रयोग सर्वत्र मिलता रहता है। इस पद्धति को ठीक तरह न समझने वाले पाठक प्रायः शुक्लजी के इन निबन्धों को निबन्ध रूप में

स्वीकार करने में कुछ हिचकते हैं।" कहते हुए डा० जगन्नाथ शर्मा ने डा० प्रभा माचवे और ठाकुर प्रसादसिंह को करारा जवाब दिया है।

शुक्लजी के अतिरिक्त इस युग में और कोई लेखक ऐसा नहीं हुआ जिसने हि निबन्ध को शुक्लजी की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष प्रदान किया हो। लेकिन इसका ता यह नहीं है कि किसी अन्य लेखक ने कोई महत्व का काम ही नहीं किया हो। इस के निर्माण में अनेक लेखकों का हाथ रहा है। गुलाबरायजी के सरल भाषा-शैल लिखे गये विद्यार्थियोचित एवं दार्शनिक निबन्धों, पदमलाल पन्नालाल तथा सिया शरण गुप्त के निबन्धों में कथात्मकता का पुट तथा छायावादी कवियों—प्रस महादेवी पंत-के तथा अनेक उपन्यासकारों—प्रेमचन्द, चतुरसेन—शास्त्री के विवि भरे लेखन ने इस युग को समृद्धि प्रदान की है।

इसे शुद्ध रूप में समृद्धि देने में जो योगदान श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने दिया वह अविस्मरणीय है। ये शुद्ध साहित्यिक निबन्धकार हैं। वाजपेयीजो की सम पद्धति शुक्लजी से बहुत मेल खाती है। वाजपेयीजी को व्यंग्य, सूत्रात्मकता तथा स्तर के निर्वाह करने की प्रवृत्ति ने शुक्लजी के समकक्ष पहुँचा दिया है।

अद्यतन युग (१६४० से अब तक)

यह हिन्दी-निबन्ध का प्रसारण काल है। आज निबन्ध साहित्य खूब फल- रहा है। उसके अभाव धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। साहित्य की अन्य गद्य एवं विधाओं में जिस प्रकार नई प्रवृत्तियां प्रविष्ट हो रही हैं, उनमें नये मोड़, नई दिश का अन्वेपणात्मक क्षितिज दिखाई देता है उसी प्रकार आज निबन्ध-साहित्य में बहुत नया परिवर्तन हुआ है, उसने नई उपलब्धियां की हैं, जिनके प्रमाण में उसर्क प्रवृत्तियां और रूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१. विषय की दृष्टि से आज का निबन्ध-साहित्य प्रमुख रूप से दो वर्गो विभक्त है—१. साहित्यिक विषय पर लिखे गये और २. साहित्येतर विषय पर f गये। प्रथम वर्ग के लेखक अधिकांशतः प्राध्यापक हैं। फलस्वरूप उनके निबन्धो समस्याएं समाधान खोजती हुई दिखाई देती हैं। साहित्येतर विषयों के आज अ लेखक हैं।

४. निबन्धों में इसीलिए विषयेतर ज्ञान का भी समावेश होता जा रहा है। डा० द्विवेदी के शब्दों में–"व्यक्तिगत निबन्ध का लेखक किसी एक विषय को छेड़ता है, किन्तु जिस प्रकार वीणा के एक तार को छेड़ने से बाकी सभी तार स्वयं झंकृत हो उठते हैं उसी प्रकार उस विषय को छूते ही लेखक की चित्तभूमि पर बंधे हुए सैकड़ों विचार बज उठते हैं।"

५. शीर्षक आकर्षक, कुतूहलवर्धक और सौंदर्य युक्त हो, यह पद्धति भी निबन्धों शीर्षकों से स्पष्ट हो जाती है—जैसे अशोक के फूल, अर्ध नारीश्वर, नीम के पत्ते, हम फिर बौरा गये, मैं व्यापारी बन गया हूँ, मिट्टी की आंख आदि।

६. आज भावात्मक निबन्धों का लेखन कम हो रहा है, विचारात्मकों का अधिक।

इस काल के श्रेष्ठ निबन्धकारों में इनका नाम उल्लेखनीय है। डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी—आपने ही भावात्मक निबन्धों को शरण देकर बना रखा है। आप ने प्राचीन और अर्वाचीन सभी तरह के विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। आपके निबन्धों में साहित्य-सिद्धांतों के साथ-साथ भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय भावना का भी योग रहता है। शैली के तो धनी हैं ही। संस्कृत के पुट से आपने हिन्दी को नया रूप प्रदान किया है।

डा० नगेन्द्र:—आप वैज्ञानिक आलोचक हैं—विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक। आपके निबन्ध विद्यार्थियों तथा साहित्यमनीषियों दोनों के काम के होते हैं। शोध-ग्रंथों, अनेक ग्रंथों की भूमिकाओं, तथा संकलित ग्रंथों—विचार-अनुभूति, विचार-विश्लेषण, विचार-विवेचन—के निबन्धों से प्रत्येक हिन्दी-जीवी परिचित है। गाम्भीर्य होते हुए भी निबन्धों ने जितनी लोकप्रियता पाई गई है, वह इस बात का प्रमाण है कि आपके निबन्ध, शैली, भाषा, विषय आदि की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से डा० नगेन्द्र आचार्य शुक्ल की परम्परा में ही आते हैं।

डा० सरनामसिंह शर्मा—राजस्थान प्रदेश के अनन्य हिन्दी-सेवी डा० साहब ने बड़े उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। 'विचार और विमर्ष' ग्रंथ के तथा अन्य निबन्धों के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि आप भाषा-शैली के धनी हैं। कलम का इतना संयम अन्यत्र दुर्लभ है। आपके अधिकांश निबन्ध साहित्यिक विषयों पर विचारात्मक कोटि के हैं। डा० केदार शर्मा ने अपने एक निबन्ध में उचित ही लिखा है कि—"डा० साहब निबन्धों में प्रस्तुत विचारों को हल्के-फुल्के ढंग से व्यक्त न करके इस ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि लगता है मानों पाठक किसी ऐसे मल्लाह की किश्ती पर बैठा है जो कहीं ऊपर ही तो नहीं तैर रहा तथा जो पग पग पर पाठक की थाह भी लेता चलता है–यह जानने के लिए कि वह अन्वेषक है, वह कभी इतना गहरा पहुँच जाता है कि और डूबने को जी चाहता है, कभी इतने विस्तार में ले जाता है कि सभी कुछ मुट्ठी में आ गया सा लगता है। तात्पर्य यह है कि डा० साहब के निबन्ध शोध-निबन्ध हैं। इसीलिए भाषा में सौष्ठव, और शैली में गाम्भीर्य आ गया है।"

निष्कर्षः—इन विद्वानों के अतिरिक्त अन्य निबन्धकारों में दिनकर, डा॰ सत्येन्द्र, प्रभाकर माचवे, डा॰ रामविलास शर्मा, जैनेन्द्र, अज्ञेय, शिवदानसिंह चौहान डा॰ रामकुमार वर्मा, आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों के निबन्धों ने साहित्य का क्षेत्र विस्तृत किया है, नई और समुन्नत पद्धतियों का परिष्कार किया है विचारों को व्यापकता और सूक्ष्मता प्रदान की है। आज के निबन्धों में विषय की अनेकरूपता, अनेक शैलियों का आकलन और नई विचार दृष्टि दृष्टिगोचर होती है। सब लेखकों ने निबन्ध-साहित्य की समृद्धि में सहयोग देकर अपने लेखकत्व को निखारा है आज निबन्धों में व्यक्तिवादिता तथा मनोविज्ञान के प्रदेश ने भी उन्हें नये रूपों सजाया और संवारा है। कई निबन्ध तो ऐसे लगते हैं, जैसे किसी डा॰ की रिपोर्ट हों। मनोविज्ञान ने अनेक शास्त्रीय तथा सूक्ष्म समस्याओं के हल प्रस्तुत करके साहि की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में अभूतपूर्व मदद की है—लेकिन निबन्ध के माध्य से ही अधिक है। निबन्ध के आज के स्वरूप को देखते हुए उसके उज्ज्वल भविष्य का स्पष्ट आभास मिल जाता है। अन्य कई एक विधाओं की तरह इसके लिए कहीं शंका या प्रश्नवाचक चिन्ह दिखाई नहीं देता है।

२०

हिन्दी कहानी

१. सामान्य परिचय।
२. कहानी की परिभाषा।
३. कहानी के तत्व।
४. कहानी का वर्गीकरण।
५. उपन्यास और कहानी में अन्तर।
६. हिन्दी कहानी का विकास।
७. प्राचीन और अर्वाचीन कहानी।
८. निष्कर्ष।

आधुनिक काल में गद्य साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है फलतः उसका सर्वतोमुखी विकास हुआ है। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं। गद्य की अनेक विधाओं में से पाठक कहानी के ही सबसे निकट है। इससे स्पष्ट है कि कहानी का कम महत्व नहीं है। कहानी के महत्व में ये तीन बातें आवश्यक तथा ध्याननीय हैं—प्राचीनता, लोकप्रियता और शक्ति। इन तीन बातों के कारण कहानी का महत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। प्राचीन काल से लेकर आज तक कहानी मनोरंजन का विषय बनी आ रही है। कहानी की लोकप्रियता का रहस्य उसकी अद्‌भुत शक्ति में निहित है जिसका परिचय पुराने उदाहरणों और उपाख्यानों में मिल जाता है। पुराने समय में मानव के गूढ़ एवं गम्भीर विचारों और अनुभूतियों का रहस्योद्‌घाटन कहानियों के माध्यम से ही किया जाता था। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने लिखा है—"साहित्य के माध्यम से डाले जाने वाले जितने भी प्रभाव हो सकते हैं वे रचना के इस प्रकार में अच्छी तरह से उपस्थित किये जा सकते हैं। चाहे सिद्धांत प्रतिपादन, अभिप्रेत हो, चाहे चरित्र-चित्रण की सुन्दरता इष्ट हो, किसी घटना का महत्व निरूपण करना हो अथवा किसी वातावरण की सजीवता का उद्‌घाटन ही लक्ष्य बनाया जाय, क्रिया का वेग अंकित करना हो या मानसिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करना इष्ट हो—सभी कुछ इसके द्वारा संभव है।" इस बात से कहानी का महत्व स्पष्ट हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि आज की कहानी पुरानी कैंचुल फाड़ कर नई साज-सज्जा में हमारे सामने आती है।

कहानी की परिभाषा—चाहे साहित्य की कोई भी विधा क्यों न हो उसकी परिभाषा का प्रश्न पहिले उठता है तथा इस प्रश्न का समाधान ढूंढना बड़ा ही कठिन

होता है क्योंकि किसी को परिभाषाबद्ध करने का तात्पर्य होता है कि उसको सीम कर देना। कहानी के सम्बन्ध में भी यही बात है। इसकी परिभाषाएं अनेक वि द्वारा अपने-अपने ढंग से दी गई हैं। कुछ परिभाषाओं को वर्तमान उद्देश्य पूर्ति के रखा जा रहा है—

एलन पो की परिभाषा—'छोटी कहानी एक विवरणात्मक रचना है इतनी छोटी होती है कि एक बैठक में पढ़ी जा सके। उसे पाठक पर एक प्र डालने के लिए लिखा जाता है। उसमें ऐसे तत्वों का बहिष्कार किया जाता है जो प्रभाव को अग्रसर करने में योग न दें। वह अपने आप में पूर्ण होती है।'

"A short story should be a story, a record of things l of incidents and accidents swift movement, unexpected developm leading through suspense to a climax and satisfying denoun ment."
—सरह्यू बाल

सरह्यू बालपोल—"कहानी एक ऐसी कहानी होनी चाहिए जि घटनाओं तथा दुर्घटनाओं, तीव्र कार्य व्यापार और कौतूहल के इस चरम बिन्दु त संतोषजनक अन्त तक ले जाने वाले अप्रत्याशित विकास से पूर्ण बातों के विकास विवरण हो।"

एच. जी. वेल्स—"Any piece of short fiction which can be re within twenty minutes would be a short story."

अर्थात् कोई भी कथात्मक रचना, जो बीस मिनट में पढ़ी जा सके कहानी क जायेगी।

प्रेमचन्द—"कहानी एक रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या कि एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उस शैली, उसका कथा-विन्यास सब उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं।"

श्यामसुन्दरदासजी का कथन है कि 'आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।'

जैनेन्द्र—"कहानी तो एक भूख है जो निरंतर समाधान पाने की कोशि करती रहती है। हमारे अपने सवाल होते हैं, शंकायें होती हैं, चिन्ताएं होती हैं औ हमी उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का, पाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं हमारे प्रयोग होते रहते हैं! उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है कहानी उस खोज के प्रयत्न का उदाहरण है।"

अज्ञेयजी—के अनुसार "कहानी जीवन की प्रतिच्छाया है और जीवन स्व एक अधूरी कहानी है एक शिक्षा है जो उम्र भर मिलती है और समाप्त नहीं होती है।"

इलाचन्द्र जोशी—"जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्ष में उल्टा-सीधा चलता रहता है। इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति का प्रदर्शन ही कहानी होती है।"

कहानी के तत्व—प्रत्येक विधा का निर्माण कुछ तत्त्वों के आधार पर होता है। कहानी भी इसका अपवाद नहीं है। कहानी के ६ तत्त्व होते हैं—

कथानक—कहानी के शरीर में कथावस्तु हड्डियों के समान है। वास्तव में यदि भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण या शैली इत्यादि सब तत्त्व कहानी में प्राण डालते हैं तो यह भी नितान्त सत्य है कि कहानी में यदि कथावस्तु वर्तमान न हो तो वह अस्थिहीन शरीरवत् होगी। कथावस्तु की रचना अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और क्रमिक विकास से होनी चाहिए। कथावस्तु के चार प्रमुख गुण होते हैं—मौलिकता, संभाव्यता, सुगठितता और रोचकता। कथावस्तु के मुख्य भाग ये हैं—(१) प्रस्तावना (२) मुख्यांश (३) चरमसीमा (४) पृष्ठ भाग। "No admittence except on business must be the story writer's moto." कहानी का मूलमन्त्र वताया गया है।

चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण कहानी का प्रमुख तत्त्व है। आधुनिक कहानियों में कथानक की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कहानी में पात्र के उस पक्ष को सामने लाया जाता है जिससे पात्र का समस्त व्यक्तित्व और चरित्र स्पष्ट हो सके। चरित्र-चित्रण की सफलता लेखक की मनोवैज्ञानिकता पर आधारित है। चरित्र-चित्रण चार प्रमुख प्रकारों द्वारा संभव है—वर्णन द्वारा, घटनाओं द्वारा, संकेत द्वारा और वार्तालाप द्वारा।

चरित्र दो प्रकार के होते हैं :—वर्गगत चरित्र और व्यक्तिगत चरित्र।

कथोपकथन को संवाद या वार्तालाप भी कहा जा सकता है। इससे कहानी के निम्न उद्देश्य की पूर्ति होती है—

१. कथा को आगे बढ़ाना।

२. पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालना।

३. भाषा शैली का निर्माण करना।

इसके साथ ही साथ कथोपकथन से कहानी में प्रवाह, सजीवता और प्रभावोत्पादन की क्षमता आ जाती है।

उद्देश्य—मानव जीवन किसी न किसी उद्देश्य को लेकर चलता है और कहानी उसका प्रतिरूप है अतः इसका उद्देश्य भी मानव जीवन के किसी पक्ष से सम्बन्धित होना चाहिए।

(१) भावात्मक शैली (२) विचारात्मक शैली (३) व्यंग्य-विनोद पूर्ण शैली

आधुनिक युग में कहानी में कई प्रकार की शैलियां प्रचलित हैं, यथा-(१) आत्म चरितात्मक शैली (२) डायरी शैली (३) पत्र शैली (४) नाटकीय शै (५) मिश्र शैली।

कहानी का वर्गीकरण

कहानियों की वर्गीकरण प्रक्रिया के विषय में वर्गीकरण के समय इन दृष्टियों को अपनाया जा सकता है—

(१) रचना शिल्प की दृष्टि से (२) विषय की दृष्टि से। रचना शिल्प की दृ से कहानी के निम्न प्रकार हो सकते हैं—

ऐतिहासिक शैली की कहानियां—इस प्रकार की कहानी में वर्णन और विव होता है। वर्णनात्मक ढंग की इस कहानी में लेखक को कहानी की घटना परिस्थितियों, वातावरण, पात्र के चरित्र, उसकी भावनाओं, विचारों और विश्वासों पूरा पूरा ज्ञान रहता है।

आत्म-चरितात्मक शैली—ऐसी कहानी को पढ़ते समय कुछ ऐसा अनुभव हो है कि जैसे कोई परिचित व्यक्ति अपनी सच्ची गाथा का कथन कर रहा हो। प्रेमचन्द 'शान्ति' कहानी इसका उदाहरण है।

पत्रात्मक शैली—आत्म-चरित शैली का ही एक अंग पत्रात्मक शैली है। ऐ कहानियों में कई बार तो उत्तर-प्रत्युत्तर होते हैं और कई बार केवल एक ही ओर पत्र-प्रेषण की क्रिया द्वारा कहानी सम्पन्न की जाती है। बेचन शर्मा उग्र का 'च हसीनों के खत' उपन्यास उदाहरण है।

डायरी शैली—इसको पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई डायरी ले अपने जीवन की अनुभूतियों को सजीवता से प्रस्तुत करता है।

नाटकीय शैली—ये कथोपकथन प्रधान कहानी होती है। संवादों से ही कह का अन्त और आरम्भ किया जाता है। 'आकाश-दीप' एक ऐसी ही नाट कहानी है।

मिश्र शैली—इसमें अनेक शैलियों जैसे ऐतिहासिक, पत्रात्मक, संवादात्मक आत्म-चरितात्मक आदि का सहारा लिया जाता है। रूप विधान की दृष्टि से उ कहानियां मिश्रित शैली में ही लिखी जाती हैं, क्योंकि इसमें कहानीकार को विधान स्वतन्त्रता रहती है। हिन्दी की सभी श्रेष्ठ कहानियां इस शैली के अन्तर्गत आती

प्रतिपाद्य की दृष्टि से कहानी के निम्न प्रकार हो सकते हैं—

१. **घटना प्रधान**—इस प्रकार की कहानियों में घटना पर विशेष बल दि जाता है। चरित्र-चित्रण के लिये इनमें विशेष स्थान नहीं होता तथा कौतूहल ब रखना ही इनका उद्देश्य होता है

कार्य प्रधान—ऐसी कहानियों में पात्रों के कार्यों का विशेष महत्व है न कि अन्य तत्वों का। इनमें पात्रों के द्वारा अद्भुत कार्य, रहस्योद्घाटन आदि बड़ी विलक्षणता से पूर्ण कराये जाते हैं।

चरित्र प्रधान कहानियां इस युग की ही देन हैं। ये घटना प्रधान कहानियों से श्रेष्ठ समझी जाती हैं। इनमें मानव जीवन के कई स्वरूपों में से किसी एक का सफल चित्रण किया जाता है। इनका आधार प्रायः मनोवैज्ञानिक होता है। बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक विश्लेषण इन कहानियों का प्राण होता है। इस श्रेणी के कहानी लेखकों में प्रसाद, प्रेमचन्द, गुलेरी, कौशिक, इलाचन्द्र जोशी आदि हैं।

वातावरण प्रधान कहानी—एक अनुभूति, एक भावना से अनुप्राणित वातावरण की सृष्टि ऐसी कहानियों में मुख्य भावना को उतार देने के लिये की जाती है।

प्रभाव प्रधान कहानी—एक प्रभाव की सृष्टि करना ही इस कहानी का लक्ष्य होता है। इस वर्ग की कहानियों में घटना, चरित्र, वातावरण, आदि पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है यद्यपि इन सभी उपकरणों की किसी न किसी रूप में योजना होती है। अज्ञेय की 'रोज' मोहनलाल महतो वियोगी की 'कवि' भगवतीचरण वर्मा की 'मुगलों ने सल्तनत बख्शदी' आदि भाव प्रधान कहानियां हैं।

ऐतिहासिक कहानियां—इनका आधार ऐतिहासिक होता है। घटनाएं और पात्र ऐतिहासिक कहानियों के प्रमुख अंग होते हैं। प्रसाद की ममता, प्रेमचन्द की वज्रपात, रानी सांरधा इसी प्रकार की कहानियां हैं।

राजनैतिक कहानियां—कहानी का सम्पूर्ण वातावरण राजनैतिक होता है। पात्रों का व्यक्तित्व भी राजनीति से प्रभावित होता है।

सामाजिक कहानियाँ—इन कहानियों की आधार भूमि समाज है। पारिवारिक और सच्चे जीवन के स्पष्ट चित्र इन कहानियों में होते हैं।

मनोवैज्ञानिक कहानी—समाज में व्यक्ति और समाज को लेकर व्यक्ति और परिवार को लेकर, व्यक्ति और व्यक्ति को लेकर अनेकमुखी द्वन्द्व चलते रहते हैं। इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव व्यक्ति की चेतना पर पड़ता है। इन्हीं के कारण व्यक्ति के मस्तिष्क में अनेक प्रकार के ऊहापोह और तर्क-वितर्क चलते हैं। इन सभी के कारण कहानीकार को मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। मनोवैज्ञानिक कहानी में मन अथवा उसकी किसी मनस्थिति का चित्रण किया जाता है। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक कहानीकारों में अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, जैनेन्द्र, राजेन्द्र यादव आदि है।

उपन्यास और कहानी में अन्तर

उपन्यास और कहानी दोनों ही को कथा साहित्य की विधा प्राप्त है। इन दोनों के मूल तत्वों में भी कोई अन्तर नहीं है। इन दोनों में समानता होने के कारण ही आकार के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं माना जाता। कहानी थोड़ी बड़ी होकर ही उपन्यास की पंक्ति में खड़ी हो सकती है और उपन्यास छोटा होकर कहानी बन सकता है। पर यह धारणा अब समाप्त होने लगी है क्योंकि उपन्यास और कहानी में आकार भेद के अतिरिक्त प्रकार भेद भी आ गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि अब इन दोनों विधाओं में पाये जाने वाले अन्तर को कई क्षेत्रों में स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

१. कहानी का कथानक हो भी सकता है और नहीं भी। कहानी में एक ही पक्ष पर प्रकाश डाला जा सकता है। शिप्ले साहब के अनुसार—"उपन्यास के सब पहलुओं, पात्रों के चरित्र का चित्रण और विकास, व्याख्या और विकास, स्थानीय वातावरण–निर्माण, भावनाओं का घात-प्रति–घात, उनका संघर्ष में से कहानी किसी एक को लक्ष्य करके लिखी जाती है। उसी के निरुपण में वह समर्थ हो पाती है।"

२. कहानी में जीवन को पूर्णता से देखने का प्रयास नहीं पाया जा सकता। यह कार्य उपन्यास का है। हडसन ने लिखा है "कहानी में हम पात्रों से केवल कुछ देर के लिये मिलते हैं, उन्हें कुछ ही सम्बन्धों और परिस्थितियों में देखते हैं किन्तु उपन्यास इससे अलग हैं। उसमें पात्रों के सम्पूर्ण जीवन की झांकी झलकती है।"

३. उपन्यास और कहानी में आकार विषयक अन्तर तो है ही। कहानी इतनी ही बड़ी हो कि उसे एक बैठक में पढ़ा जा सके पर उपन्यास जिस विविधता और विस्तारणा को लेकर चलता है उसमें संक्षिप्तता के लिये कोई स्थान नहीं है।

४. प्रभावान्विति के आधार पर भी कहानी और उपन्यास में अन्तर किया जा सकता है। विषय एकत्व के साथ कहानी में प्रभावों की एकता का होना भी आवश्यक है।

५. कल्पना की दृष्टि से भी इन दोनों विधाओं में अन्तर होता है। कहानी में कल्पना संयम की शृंखला में बंध कर आती है और उपन्यास में ऐसा कुछ भी नहीं होता।

६. उपन्यास मानव के सर्वाङ्गपूर्ण चित्र को उपस्थित करता है और कहानी में मानव-जीवन का एक ही पक्ष या एक ही क्षण स्पष्ट किया जा सकता है। चरित्र के विश्लेषण और विवेचन के लिए उपन्यास की अपार परिधि में काफी गुंजाइश रहती है। मनुष्य की विविध मनोवृत्तियों का विश्लेषण उपन्यास में संभव और कहानी में असंभव है।

८. उपन्यास में वातावरण को स्वेच्छा से विस्तृत किया जा सकता है जबकि ी में सीमित और संयमित वातावरण होता है।

९. उद्देश्य की दृष्टि से भी कहानी और उपन्यास में अन्तर है। उपन्यास का य विस्तृत और सर्वाङ्गीण होता है। कहानी में उद्देश्य व्यंजित होता है, स्पष्ट ा नहीं हो सकता है। कहानी की समाप्ति पर उद्देश्य एकदम स्पष्ट नहीं होता है। ार और तर्कणा के बाद ही वह स्पष्ट होता है।

१०. कहानी और उपन्यास में शैलीगत भेद भी पाया जाता है। कहानी की ा का प्राण व्यंजकता और ध्वन्यात्मकता होती हैं। कहानी की शैली में 'गागर में ार' भरने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कहानीकार की शैली में संकेतात्मकता और ात्मकता होती है।

स्पष्ट है कि कहानी और उपन्यास में केवल आकार का ही नहीं, प्रकार का अन्तर है। डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में—"थोड़े में यदि कहानी और न्यास का तारतम्य निरूपण करना हो तो कहा जा सकता है कि कहानी यदि अपने ोन्मुख समष्टि प्रभाव के माध्यम से हमारे चित्त को पूर्णतया झंकृत करती है और न्दोलित करके हमें अनुमान, कल्पना और जिज्ञासा के उन्मुक्त द्वार पर ला खड़ा रती है तो उपन्यास जीवन के विविध क्षेत्रों की झांकी देकर सारे रहस्यों और वस्तु ्थितियों से परिचित कराकर हमारे भीतर एक पूर्णतः विधायक संतुष्टि उत्पन्न कर ता है।"

भारतेन्दु बाबू के आगमन के साथ हिन्दी के कथा- साहित्य का समुचित वि
हुआ। इन लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी तथा गिरजाकुमार घोष प्रमुख कहानी
हैं। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' को हिन्दी की प्रथम कहानी माना गया
पर कुछ विद्वानों के अनुसार इस पर शेक्सपीयर की 'टेम्पेस्ट' का प्रभाव दिखाई देता
इस प्रथम चरण की महत्वपूर्ण कहानी बंग-महिला की 'दुलाई वाला' कहानी ने वि
ख्याति प्राप्त की।

द्वितीय चरण—कहानी द्वितीय चरण में आकर कुछ अधिक विकसित हु
प्रसाद की 'ग्राम' और 'चन्दा' नामक दो कहानियों ने सन् १६१० में 'इन्दु' पत्र
शोभित किया। 'ग्राम' कहानी के साथ ही हिन्दी की मौलिक कहानी का प्रार
होता है।

इन्दु कहानी मासिक के द्वारा अन्य कहानी लेखक भी प्रकाश में आये जि
विशम्भरनाथ जिज्जा, राजा राधिकारमण प्रसादसिंह विशेषोल्लेखनीय हैं। इन्
मौलिक कहानियों के साथ-साथ बंगला कहानियों के अनुवाद भी प्रकाशित कि
विशम्भर शर्मा कौशिक ने भी सामाजिक कहानियां लिखना प्रारम्भ किया। सं
१८७२ में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की अमर कहानी 'उसने कहा था' सरस्वती में प्रकाि
हुई, जिसे हिन्दी की एक श्रेष्ठ कहानी के रूप में स्वीकारा गया। सुदर्शनजी का न
भी कौशिकजी के साथ ही आता है। इनकी 'न्यायमंत्री' नामक कहानी बड़ी लोकि
है। 'हार की जीत' आपकी कहानी उच्च मानवता का जयघोष करती है।

मुंशी प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानियों में जान डाल दी। आप एक ग्रामीण कला
थे अतः आपकी रचनाओं में भी ग्राम्य जीवन के अनूठे चित्र हैं। मुंशीजी की प्र
हिन्दी कहानी 'पंच परमेश्वर' है। प्रेमचन्द्र के अतिरिक्त रामकृष्णदास, चण्डीप्रस
ऋगवेद, सुदर्शन, बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा आदि द्वितीय चरण के उल्ले
नीय कहानीकार हैं।

द्वितीय चरण में कहानी लेखन की दो प्रथम शैलियों का विकास हुआ—ए
भाव मूलक जिसका प्रवर्तन प्रसाद कर रहे थे तथा दूसरी आदर्शोन्मुख यथार्थ मू
जिसके प्रवर्तक श्री प्रेमचन्दजी हैं।

प्रेमचन्द पहिले उर्दू में लिखा करते थे। प्रेमचन्द साधारण जनता के लेख
अतः आपकी भाषा सरल, सुबोध और मुहावरेदार है। पंच परमेश्वर, नमक क
दरोगा, बड़े घर की बेटी, मुजान भगत, ईदगाह, पूस की रात, बड़े भाई साहब, नश

प्रसाद में मिलता है। प्रसाद की कहानियों की भाषा अलंकारिक और सामाजिक है। छाया, प्रतिध्वनि, आकाश दीप, आंधी और इन्द्रजाल इनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं।

चण्डी प्रसाद की कहानियां आदर्श प्रधान और निर्णय प्रधान हैं साथ ही कवित्व-पूर्ण चित्रण भी वर्तमान है। 'नन्दन-निकुंज' आपके संग्रह का नाम है।

तृतीय चरण—हिन्दी कहानी का तीसरा चरण जैनेन्द्र के आगमन से प्रारम्भ होता है। जैनेन्द्र की कहानियों में युग की नवीन भावनाओं के दर्शन मिलते हैं। आपकी भाषा और शैली सर्वथा अपनी तथा अलग है। आपकी प्रथम कहानी 'खेल' विशाल भारत में छपी थी। आपकी कहानियों में मनोविश्लेषण की पद्धति प्रधान है। जैनेन्द्र की कहानियों में से कुछ कहानियां दार्शनिक हैं जो अधिक विचार प्रधान होगई हैं। अपना-अपना भाग्य, मास्टरजी, पत्नी, एक रात आदि आपकी प्रसिद्ध कहानियां हैं।

अज्ञेय क्रांतिकारी वर्ग से सम्बन्धित हैं। इनकी कहानियां दो प्रकार की हैं—(१) राजनैतिक (२) सामाजिक। आपमें अन्तर्मुखी मनोवृत्तियों को अभिव्यक्त करने की अपूर्व क्षमता है। त्रिपथगा, कोठरी की बात, परम्परा, जयदोल आदि आपके कहानी संग्रह हैं।

इलाचन्द्र जोशी भी अज्ञेय की भांति फ्रायड के मनोविश्लेषण को आधार मानकर मानव जीवन की व्याख्या करने चले। आपकी कहानियों में कुण्ठा ग्रस्त और विक्षिप्त मनोकामों की अभिव्यक्ति बड़ी कुशलता से की गई है। दिवाली और होली, रोमान्टिक छाया, खण्डहर की आत्माएं, आहुति आदि आपके कुछ कहानी संग्रह हैं।

भगवतीचरण वर्मा अपनी जिन्दादिली और भावुकता के लिए प्रसिद्ध हैं। आपने व्यंग्यात्मक कहानियां लिखी हैं। प्रायश्चित, दो बांके आदि आपकी प्रसिद्ध कहानियां हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने भी कुछ कहानियां लिखकर हिन्दी साहित्य की सहायता की। नवीन लेखकों में यशपाल एक क्रांतिकारी लेखक हैं। प्राचीन धर्मों की अन्धानुकरण वाली प्रवृत्ति से आपका विरोध रहा है। कटु आलोचक के रूप में पुरानी रीति रिवाजों को आपने देखा परखा है। इनकी भाषा शैली व्यंग्यपूर्ण है। अभिशप्त, फूलो का कुर्ता, उत्तमी की मां, तर्क का तूफान, तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूं, बीबीजी कहती हैं मेरा चेहरा रोबीला है आदि आपके कहानी संग्रह प्रकाशित

हिन्दी में कुछ हास्य रस प्रधान कहानियां भी कही गई हैं पर हिन्दी साहित्य में इन कहानियों को अधिक महत्व नहीं दिया गया। जे० पी० श्रीवास्तव हास्य कहानियों के प्रथम लेखक थे, पर उनका हास्य सर्वथा शिष्ट नहीं है। तृतीय चरण में अन्नपूर्णानन्द, कृष्णदेव प्रसाद गौण और राधाकृष्ण ने अच्छी कहानियां लिखी हैं—कवि सच्चा, मगन रहु चोला, मेरी हजामत, मन-मयूर आदि अन्नपूर्णानन्द की श्रेष्ठ हास्य-रसात्मक कहानियां हैं। हमारे देश की अन्य गतिविधियों के समान कहानी के क्षेत्र में, सुभद्राकुमारी चौहान, होमवती देवी, कमला चौधरी, सत्यवती मलिक, चन्द्रवती, कृष्णासोबती, विपुला देवी, रजनी पनिकर तथा चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आदि महिला कहानी-लेखिकाओं ने साहित्य की अभिवृद्धि में विशेष योग दिया है।

हिन्दी का कहानी साहित्य पर्याप्त उन्नति कर चुका है। विस्तार की दृष्टि से, गम्भीरता की दृष्टि से कहानी आज पूर्ण रूपेण विकासशील है और निरन्तर अपनी मंजिल की ओर वढ़ रही है।

प्राचीन और अर्वाचीन कहानी में अन्तर

ऋग्वेद काल से लेकर आज तक कहानी ने अनेक मोड़ लिये हैं। एक समय था जब कि कहानी घटना या विवरण प्रधान होती थी कुछ समय पश्चात् कहानी में एक व्यवस्था आती गई। समय की सीमा में आबद्ध कहानी ने अपने आप नई-नई अनुभूतियों को सहेजा। परिणाम स्वरूप समय समय पर कहानी ने अपना रूप बदला, विषय बदला और बदली अपनी शैली। प्राचीन काल में जो कहानी का रूप था वह आज नहीं है। इसी कारण आज हम प्राचीन और अर्वाचीन कहानी का अन्तर सहज ही समझ सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कहानी आज भी अपनी परम्परा में है किन्तु उसने अपने रूप में पर्याप्त परिवर्तन कर लिया है। बाबू गुलाबराय के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

"आज कल की हिन्दी कहानियां जिनको गल्प, आख्यायिका, लघुकथा भी कहते हैं, हैं तो भारतीय कहानी ही की संतति किन्तु विदेशी संस्कार लेकर आई हुई हैं। खद्दर के सूट की भांति उनकी सामग्री प्रायः देशी रहती है किन्तु काट-छांट अधिकांशतः विदेशी या विलायती ढंग की होती है।"

ed his work with superb success, but he did it without worr-
g about the formal technical side of his art. We enjoy those old
ries for their delightful subject matter the quiks and quarrels
ich blash through them best of all, for the lacking of knowledge
d experience which is enthrived in them. The modern-story-teller
conscious of his art to him finger-tips. He deliberately plans cer-
in emotional intellectual and humorous effects and strains every
ver to attain them.

अर्थात् एक शब्द में पुराना कहानी लेखक छोटी कहानी की कला के उन सिद्धान्तों से सर्वथा अनभिज्ञ था जो उसका शासन करते हैं। उसने चाहे अपना काम अद्भुत सफलता के साथ पूरा किया हो किन्तु वह इसे अपनी कला के रूप और शिल्प की चिन्ता किये बिना ही करता है। इन पुरानी कहानियों की मनोरंजक विषयवस्तु, उनमें अनायास प्रकट होने वाले विनोद और सबसे बढ़कर उनमें छिपी हुई ज्ञान और अनुभव की शिक्षा के लिए पढ़कर हम उनसे आनन्द उठाते हैं। आधुनिक कहानीकार अपनी कला से पूर्णतः भिज्ञ है, वह जानबूझ कर किसी भावात्मक, बौद्धिक अथवा हास्योत्पादक प्रभाव की योजना बनाता है और उसकी उपलब्धि के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति एवं सामर्थ्य लगा देता है।"

१. कथावस्तु की दृष्टि से भी आधुनिक और प्राचीन कहानी में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन काल की कहानियों में ठोस कथानक पाया जाता था। उसमें अनेक घटनाएं होती थी किन्तु आजकल की कहानी में कथानक को वह महत्व प्राप्त नहीं है। एक बात यह और है कि आजकल लेखक भावों और विचारों को लेकर कहानी का

४. संवाद या वार्तालाप सम्बन्धी किसी भी नियम के अभाव में पुरानी कहानी में पशुपक्षी भी बात करते थे जो अस्वाभाविक था। आज बौद्धिक गुण के विकसित होने के कारण कहानियों में संवाद विषयक नियम भी बन गये हैं। अत्याधुनिक कहानियों की तो बात ही निराली है। उनमें बिना कथानक और कथोपकथनों के काम चला लिया जाता है। विविध शैलियों के प्रचलित होने के कारण कथोपकथनों का महत्त्व समाप्त होगया है।

५. पुरानी और नई कहानी में उद्देश्य को लेकर भी पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन कहानी का उद्देश्य मनोरंजन या शिक्षा देना होता था किन्तु आज की कहानी का उद्देश्य इनसे अलग सामयिक समस्याओं का उद्‌घाटन और समाधान रह गया है। आधुनिक कहानी पूर्ण रूपेण यथार्थवादी है।

६. भाग्य और भगवान पर अब किसी को विश्वास नहीं रहा है क्योंकि यथार्थ की आंच से पिघलकर सारे आदर्श थोथे पड़ गये हैं और उनका कोई अस्तित्व नहीं रह गया है।

७. पुरानी कहानी स्थूल थी किन्तु बौद्धिकता के कारण और नये प्रभावों के कारण कहानी स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने लगी है। प्रेमचंदोत्तर कहानी स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की ओर अग्रसर है।

८. मनोविज्ञान के प्रवेश ने भी कहानी के रंग रूप को बदल डाला है। फ्रायड और युंग एडलर के सिद्धान्तों से प्रभावित कहानी ने अपना नया रूप प्रस्तुत किया है। आज की कहानी मन की गहराइयों की अभिव्यक्ति करती है।

९. कहानी की प्रमुख समस्या भूख और भोग रह गई है। मानसिक कुण्ठाएं, अतृप्तियों और विचारणाओं को भी कहानी का विषय बनाया गया है। द्वितीय महायुद्ध के परिणाम स्वरूप भी कहानी के रूप में नयापन आया है।

१०. प्राचीन कहानियां प्रायः भावना प्रधान होती थीं। आधुनिक कहानी वस्तु और विधान दोनों ही क्षेत्रों में विकसित है।

११. क्रांतिकालीन कहानी पर अनेक प्रभाव पड़े हैं। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण, समाज शास्त्र, मार्क्सवाद और यौनवाद-इन सभी प्रभावों को ग्रहण कर कहानीकारों ने कहानी की सर्जना की। पुरानी कहानी किसी भी प्रकार का कोई भी संकेत नहीं देती थी पर आज का कहानीकार सांकेतिक शैली को समझने-बूझने लगा है।

नात्मक शैली, आत्मकथात्मक शैली, प्रतीकात्मक शैली और आंचलिक शैली का चलन दिनोंदिन बढ़ता जारहा है।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि प्राचीन और नवीन कहानी में पर्याप्त अन्तर आगया है। नई कहानी पुरानी परम्परा में होकर भी शैली और शिल्प की दृष्टि से नवीन है। आज कहानी साहित्य जिस दिशा की ओर अग्रसर है वह उसकी श्रेष्ठ दिशा कही जा सकती है क्योंकि कहानी ने अपने विकास काल में यात्राओं के दौरान जो उपलब्धियां की हैं वे उसके भविष्य की सूचना देती हैं।

२१

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास

१. सामान्य परिचय
२. उपन्यास साहित्य की नई दिशा
३. प्रेमचंद के उपन्यास, परम्परित आदर्श, समझौते का स्वर
४. नवीन विचारधारा
५. प्रेमचंदोत्तर उपन्यास की प्रवृत्तियाँ
   अ—विषय वस्तुगत
   ब—शिल्पगत
६. प्रमुख उपन्यासकार
७. उपसंहार

सामान्य परिचय—हिन्दी में उपन्यासों का विकास प्रेमचंद युग में ही हु स्वतन्त्रता के पश्चात् जो उपन्यासकार सामने आये वे नवीन विषय और नये दृष्टि के साथ। साहित्य और संस्कृति का आदान-प्रदान परस्पर चिरकाल से चला आर और इसी प्रकार चलता रहेगा, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद यह प्रक्रिया प की अपेक्षा कुछ तीव्र होगई। हिन्दी उपन्यास भी तीव्र गति से आगे बढ़ने लगा विदेशी प्रभाव ग्रहण करने में सतर्कता दिखाने लगा। यद्यपि स्वाधीनता के पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य गोर्की, हार्डी, चेखव, दस्तोवस्की, टाल्सटाय, अनातोल पर्लबक आदि अनेक विदेशी उपन्यासकारों से प्रभाव ग्रहण कर रहा है तथापि स्वा के बाद यह प्रवृत्ति बहुत बढ़ी हुई दिखाई देती है। हिन्दी में तो विदेशी भाषाओं अनुवाद प्रकाशित हुए ही, हिन्दी के उपन्यासों का भी विदेशी भाषाओं में अनुवाद हु रूसी भाषा में प्रेमचंद, वृन्दावनलाल वर्मा, नागर, अश्क और यशपाल के उपन्यास दित किये गए हैं।

यथार्थवादी चित्रण कहने का आग्रह करता है, उसका चित्रण कहाँ तक यथार्थवादी बन पाया है, यह और बात है।"

उपन्यास साहित्य की नई दिशा—प्रेमचन्द के बाद जो उपन्यास सामने आये, वे नयी दिशा और विचारधारा लेकर आये। इनमें विद्रोह का स्वर था, जीवन को उसकी सम्पूर्णता में भोग लेने की प्रवृत्ति थी। इसका कारण यह था कि स्वाधीनता ने मानव को जो नये ढंग प्रदान किये वे बन्धन-विहीन और स्वच्छन्द थे। "जर्जरित दासता के जीवन से निकल कर स्वतन्त्र राष्ट्र के स्तर, मनोबल, स्वाभिमान, दृढ़ता और संकल्प को अर्जित करने के लिए राष्ट्र और उसके निवासियों को काफी कुछ अन्तर-बाह्य परिस्थितियों से संघर्ष करना था। बाह्य परिस्थितियों के संघर्ष के साथ-साथ उसे अपने अन्दर के संस्कारों से, परम्पराग्रस्त विचारों और मनोभावों से संघर्ष करना था।"

स्वतन्त्रता से पहले हिन्दी उपन्यास का वस्तु-क्षेत्र परम्पराओं के प्रति विद्रोह, आदर्श के नवीनीकरण और रूढ़ियों से मुक्ति के लिए छटपटा रहा था। देश की आजादी की हवा उपन्यास को भी लगी और वह खुलकर नये रूपरंग में सामने आने लगा। तत्कालीन उपन्यास का जो मूलस्वर था वह—"विदेशी दासता से मुक्ति के साथ संस्कारों और अन्धविश्वासों से मुक्ति का था। वह युग था जब देश का बुद्धिजीवी वर्ग विश्व के विकासशील देशों के विचारों से प्रभाव ग्रहण कर देश की परिस्थितियों के संदर्भ में देशी-विदेशी, प्राचीन-नवीन विचारों के दोहन-मंथन से नये विचार, आदर्श मान्यताएं और जीवन की नैतिकता के निर्माण में संलग्न था। परिणामतः यही और इससे सम्बद्ध समस्यायें और जीवन के प्रति प्रश्न-नारी स्वातन्त्र्य, नारी-पुरुष के संबंध, नारी-शिक्षा, विधवा-विवाह, छूत-अछूत, जाति-पांति के भेदभाव, अमीरी-गरीबी की विषमता, देश की आजादी का संघर्ष, मजदूर-किसान-जागरण, जनता की आर्थिक स्थिति आदि ही तत्कालीन उपन्यासों के वस्तु क्षेत्र थे।"

(डॉ० रामगोपालसिंह चौहान के शोध
प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' से)

दिखाई दी। स्त्री समानता और समानाधिकार ने नये ढंग से सोचने को बाध्य कर दिया। डॉ० चौहान ने लिखा है कि—"स्वाधीनता से पूर्व तो सारी जनता के सामने एक ध्येय था—आजादी प्राप्त करना, और अब आजादी के बाद कोई भी आजादी से प्राप्त विकास के अवसरों के उपयोग में पीछे न रह जाय–इस होड़ में दूसरे को भले ही गलत और अवांछित ढंग से पछाड़कर, हर कोई आगे बढ़ जाना चाहता है। एक ओर यह स्थिति है तो दूसरी ओर देश के नव-निर्माण में जैसे हम पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण कर रहे हैं, वैसे ही जीवन में भी विचारों से लेकर वेष-भूषा तक में पाश्चात्य की नकल बढ़ती जारही है। आज का उपन्यासकार जीवन की इस परिवर्तनशील स्थिति और उसकी समस्याओं को अपने उपन्यासों का विषय बनाता है।"

प्रेमचन्द के उपन्यास—प्रेमचंद के उपन्यासों में सुधारवाद, आदर्शवाद और समझौते की भावना मिलती है। वे एक ऐसे कलाकार थे जिन्होंने मानवतावाद की प्रतिष्ठा के निमित्त अनेक समस्याओं को उपन्यास के माध्यम से व्यक्त कर समाधान की ओर बुद्धि को दौड़ाया और यह समाधान प्रायः समझौता-प्रधान रहा। प्रेमचंद-युग मुख्य रूप से प्राचीन संस्कृति, परम्परित आदर्श, सामाजिक मर्यादा के प्रति आस्था और विश्वास का युग था। प्रेमचंद के उपन्यासों में भारतीय आदर्श और समझौते का स्वर है। प्रेमचंद का होरी स्वयं टूट जाता है किन्तु पंच और बिरादरी के विरुद्ध विद्रोह नहीं करता। उनकी निर्मला वृद्ध पति को ब्याही जाकर घुटती रहती है, किन्तु पतिव्रत धर्म पर आंच नहीं आने देती। वास्तविकता यह है कि प्रेमचंद युगीन लेखक विधवा-विवाह की ओर संकेत करके ही रह गये, उसका खुल्लम-खुल्ला और ब्यौरेवार वर्णन उनकी शक्ति और सीमाओं से परे था। प्रेमचंदोत्तर युग में वैज्ञानिक विचारधारा को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला और इसी कारण इस युग के लेखकों को जो दृष्टि प्राप्त हुई वह पहले की अपेक्षा अधिक पारखी थी। आर्थिक ढांचा चरमरा उठा है, भावुकता की स्थिति प्रायः नहीं रही है और हर व्यक्ति ने बुद्धि को अपना सभी कुछ निर्णय करने का दायित्व सौंप दिया है। इन सब का परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक और राजनैतिक, आर्थिक बंधन शिथिल होगये हैं और विविध क्षेत्रों में विद्रोह का स्वर गुंजा दे रहा है।

नी दीवारें, बलचनमा, परती परिकथा, मैला आंचल और उखड़े हुए लोग उपन्यास
श की महान् उपलब्धियां हैं।

आज देश का प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार अपने ढंग से नयी और प्रशस्त पगडंडी
चलकर आगे बढ़ना चाहता है, चाहे उसे मार्ग में कितनी ही परेशानियां क्यों न हों
ी प्रकार हिन्दी का उपन्यास लेखक नयी किरण की खोज में अनेक संघर्षों से जूझता
त आगे बढ़ना चाहता है। आगे बढ़ने के लिए वह यथार्थवादी, गांधीवादी और
वर्गवादी विचारों को अपनाता चलता है। आज प्रत्येक उपन्यासकार यथार्थवादी ढंग
अपने विचारों के नव-प्रसार में आगे बढ़ता चलता है।

यथार्थवाद में ही वह प्रकृतवाद, अतियथार्थवाद, समाजवादी, यथार्थवादी और
नोवैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टिकोण को समाहित करके चल रहा है। उपन्यासों में
वीन दृष्टि दिखाई दे रही है वह प्रमुखतः दो क्षेत्रों में है—

१—विषय वस्तु के क्षेत्र में।

२—शिल्प के क्षेत्र में।

विषय के क्षेत्रों में सामाजिक यथार्थ की प्रवृत्ति, वैयक्तिक समस्याएं, जीवन के
ंघर्ष और जीवन की सीमितता, मनोवैज्ञानिक दृष्टि, वैज्ञानिक दृष्टि और अतियथार्थ-
वाद ने जोर पकड़ा है तो शैली और शिल्प के क्षेत्र में भी अनेक उपन्यास नयापन लेकर
आये है। इनमें सूरज का सातवां घोड़ा, द्वाभा, डूबते मस्तूल, चांदनी के खण्डहर, मैला
आंचल और ग्यारह सपनों का देश उल्लेखनीय हैं। कथन की नयी शैली अभिव्यक्ति की
पुरानी केंचुल को फाड़कर लहराती, सपाट दौड़ती चलती है।

जीवन का क्षेत्र संकुचित होगया है और इसी कारण उसमें मनोवैज्ञानिकता,
विचारमूलकता, चरित्रविश्लेपण, यौन समस्या, भूख और बेकारी, वैयक्तिक घुटन और
ंकाएं आगई हैं।

२. विद्रोह का स्वर—आर्थिक बन्धनों की बढ़ती हुई शिथिलता ने एक विद्रोह को जन्म दिया है जिसका स्वरूप अनेक उपन्यासों में दिखाई देता है। तीन की प्रभा विवाह को स्त्री और पुरुष के बीच आर्थिक सम्बन्ध से अधिक कुछ भी स्वीकार करती है। 'आखिरी दाव' की चमेली नारी पति के अत्याचारों को सहन की बात न सोचकर घर से भागकर अपने आपको अनेक व्यक्तियों को सौंप देती है, णामतः अपना व्यक्तित्व आर्थिक दृष्टिकोण के नाम पर ही बेचती फिरती है। विद्रोही स्वर सामाजिक स्तर पर भी दिखाई देता है। अज्ञेय के नदी के द्वीप का विवाह को सामाजिक बन्धन के रूप में नहीं स्वीकार करता है और रेखा भी इसी मानकर चलती है। इनके अतिरिक्त देशद्रोही, दिव्या, जहाज का पंछी, मनुष्य के र गिरती दीवारें, गर्म राख आदि आधुनिक उपन्यासों में सामाजिक बन्धनों के प्रति वि का स्वर साफ सुनाई देता है। नागार्जुन का वलचनमा पात्र भी इसका प्रमाण संघर्ष के समक्ष अपने आपको झुकाता नहीं है जैसे होरी सामाजिक उत्पीड़न के प्र सिर झुका देता है, अपितु वह तो यही निर्णय करता है—"जैसे अंग्रेज बहादुर सोराज लेने के लिए भैया लोग एक होरहे हैं, हल्ला-गुल्ला और झगड़ा-झंझट मचा रहे हैं उसी प्रकार जन, मनिहार, कुली मजूर और वहिया खवास लोगों को अपने हक लिए बाबू भैया से लड़ना पड़ेगा।"

३. मानवतावाद—प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यासों में गांधीवादी विचारों से प्रे नृसंस्कृत मानवतावाद को अपनाया गया है। इसी के आधार पर सम्पूर्ण धर्म, द में निहित मानवीय प्रेम, करुणा, शांति, कल्याण आदि सद्गुणों का सार समेट लि गया है। इसके प्रवर्तक जैनेन्द्र कहे जाते हैं जिन्होंने गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष उपन्यासों में प्रदर्शित किया है। "प्रेम से उद्भूत आत्मपीड़न ही जैनेन्द्र के उपन्यासों मूल वृत्ति है। भगवतीचरण वर्मा का आग्रह परिस्थितियों पर है।" उनके अनुसार मनुष्य न पाप करता है न पुण्य करता है बल्कि वह वही करता है जो उसे कर पड़ता है। अज्ञेय मानवतावादी सीमा में रह कर भी बौद्धिकता के प्रति विशेष सं हैं। यही कारण है कि उनका सेखर प्रेम, अहिंसा तथा सुख के साथ ही लोक कल्याण के लिए घृणा, हिंसा और दुःख का भी उचित मात्रा में प्रयोग मानता है।

ग्रौर तुलसी फूल के खुशबूदार भात, ग्ररहर की दाल, परवल की तरकारी, घी, दही, ग्रटनी खाते हैं, सो यह भी भगवान की ही लीला है।"

इससे जो बात स्पष्ट होती है वह यही है कि ग्राज का उपन्यास लेखक मानवीय ग्रों ग्रौर कटुग्रनुभूतियों को चित्रित करना ग्रभीष्ट समझता है। उसकी दृष्टि में मनुष्य ग्राचरण का उतना मूल्य नहीं है जितना कि इस ग्राचरण की पृष्ठभूमि में निहित रिस्थितियों, प्रेरक शक्तियों ग्रौर मनोग्रन्थियों का है।

ग्रान्तरिक विश्लेषण—प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में जहां ग्रान्तरिक चित्रण नगण्य थे, विश्लेषण की तो बात ही दूर रही किन्तु परवर्ती उपन्यासों में ग्रान्तरिक श्लेषण की प्रवृत्ति प्रधान है। मनोविश्लेषण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रौर प्रचलित द्धान्त मनोग्रन्थियों का है जो कुण्ठाग्रों से सम्बन्ध रखता है, इसके ग्रनुसार हमारी दमित स्नाएं या वासनाएं ग्रंथि बन जाती हैं ग्रौर ग्रवचेतन मानस में जाकर बैठ जाती हैं परोक्षतः हमारे स्वभाव, चरित्र ग्रौर ग्राचरण को प्रभावित किया करती हैं। ये थयां कब किस रूप में उत्पात मचा सकती हैं कहा नहीं जा सकता है। जैनेन्द्र के ग' ग्रौर 'सुनीता' में हम इसी विशेषता को पाते हैं। जैनेन्द्र ने सुनीता ग्रौर हरि र की यौनजन्य कुण्ठाग्रों को दार्शनिक ग्रावरण में प्रस्तुत करके इसी प्रवृत्ति की ग्रोर त किया है।

इस सिद्धान्त को ग्राधार बनाकर इलाचंद्र जोशी ने ग्रपने उपन्यासों की सृष्टि उन्होंने विभिन्न प्रकार की कुण्ठाग्रों से युक्त व्यक्तियों की ग्रहामन्यता, ग्रात्मरति, निक विकृति, बौद्धिक यंत्रणा, संशय, सन्देह, सन्ताप, ईर्ष्या, मतिभ्रम, परपीड़न, पीड़न, निरुद्देश्य दौड़-धूप ग्रादि का ग्रपने उपन्यासों में वर्णन करके मनोविश्लेषण द्धान्त को ही प्रश्रय दिया है। "ग्रज्ञेय के शेखर के चेतना प्रवाह में तरंग पर उठती जाती है जिसमें उसका सम्पूर्ण ग्रतीत जीवन सूक्ष्मतम ब्योरों के साथ बिम्बित हो उठता है।" शेखर ग्रौर नदी के द्वीप उपन्यासों में ग्रात्मनिष्ठा का गंभीर रूप देखने को मिलता है। यशपाल एक ऐसे कलाकार निकले जिन्होंने ग्रपना र मार्क्स की पटरी पर ग्रौर दूसरा फ्रायड की पटरी पर रखा। इसका परिणाम नकला कि उनकी कृतियों में यौन कुण्ठाएं ग्रौर ग्रार्थिक वैषम्य-जन्य कुण्ठाग्रों ग है। ग्रश्कजी के पात्रों में भी ग्रार्थिक ग्रौर यौनविषयक कुण्ठाएं मिलती हैं। स्पष्ट है कि प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में कुण्ठाग्रों के चित्र हैं ग्रौर मनोविश्लेषण की पर उन्हें हल किया गया है या समझाया गया है।

२. विद्रोह का स्वर—आर्थिक बन्धनों की बढ़ती हुई शिथिलता ने एक न
विद्रोह को जन्म दिया है जिसका स्वरूप अनेक उपन्यासों में दिखाई देता है। तीन व
की प्रभा विवाह को स्त्री और पुरुष के बीच आर्थिक सम्बन्ध से अधिक कुछ भी नह
स्वीकार करती है। 'आखिरी दाव' की चमेली नारी पति के अत्याचारों को सहन कर
की बात न सोचकर घर से भागकर अपने आपको अनेक व्यक्तियों को सौंप देती है, परि
णामतः अपना व्यक्तित्व आर्थिक दृष्टिकोण के नाम पर ही बेचती फिरती है। य
विद्रोही स्वर सामाजिक स्तर पर भी दिखाई देता है। अज्ञेय के नदी के द्वीप का भुव
विवाह को सामाजिक बन्धन के रूप में नहीं स्वीकार करता है और रेखा भी इसी द
मानकर चलती है। इनके अतिरिक्त देशद्रोही, दिव्या, जहाज का पंछी, मनुष्य के रू
गिरती दीवारें, गर्म राख आदि आधुनिक उपन्यासों में सामाजिक बन्धनों के प्रति विद्रो
का स्वर साफ सुनाई देता है। नागार्जुन का बलचनमा पात्र भी इसका प्रमाण है
संघर्ष के समक्ष अपने आपको झुकाता नहीं है जैसे होरी सामाजिक उत्पीड़न के आ
सिर झुका देता है, अपितु वह तो यही निर्णय करता है—"जैसे अंग्रेज बहादुर
सोराज लेने के लिए भैया लोग एक होरहे हैं, हल्ला-गुल्ला और झगड़ा-झंझट मचा र
हैं उसी प्रकार जन, मनिहार, कुली मजूर और बहिया खवास लोगों को अपने हक
लिए बाबू भैया से लड़ना पड़ेगा।"

३. मानवतावाद—प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यासों में गांधीवादी विचारों से प्रेरि
सुसंस्कृत मानवतावाद को अपनाया गया है। इसी के आधार पर सम्पूर्ण धर्म, दर्श
में निहित मानवीय प्रेम, करुणा, शांति, कल्याण आदि सद्गुणों का सार समेट लि
गया है। इसके प्रवर्तक जैनेन्द्र कहे जाते हैं जिन्होंने गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष
उपन्यासों में प्रदर्शित किया है। "प्रेम से उद्भूत आत्मपीड़न ही जैनेन्द्र के उपन्यासों
मूल वृत्ति है। भगवतीचरण वर्मा का आग्रह परिस्थितियों पर है।" उनके अनुसा
मनुष्य न पाप करता है न पुण्य करता है बल्कि वह वही करता है जो उसे कर
पड़ता है। अज्ञेय मानवतावादी सीमा में रह कर भी बौद्धिकता के प्रति विशेष सज
हैं। यही कारण है कि उनका शेखर प्रेम, अहिंसा तथा सुख के साथ ही लोक कल्या
के लिए घृणा, हिंसा और दुःख का भी उचित मात्रा में प्रयोग मानता है।

इलाचंद्र जोशी मनोविश्लेषण की ओर झुके हुए हैं। वे मानते हैं कि मनुष्य
आचरण के लिए अवचेतन मन ही उत्तरदायी है। इसके विपरीत अश्क का दृष्टिको
भौतिकवादी अधिक है। अश्क के 'गिरती दीवारें' उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय जीव
की दम घोंटने वाली परिस्थितियों का यथा तथ्य चित्रण है। नागार्जुन ईश्वरीय न्या
के प्रति अन्ध श्रद्धा स्वीकार नहीं करते। उनके 'बलचनमा' की ये पंक्तियां उस संदर्भ
ध्यान देने योग्य हैं—"चार परानी का परिवार छोड़कर मेरा बाप मर गया, यह
भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और मां आम की गुठलियों का
चूर-चूर कर फांकती है, यह भी भगवान ठीक ही करते हैं और सरकार आप कनइ

का बीड़ा प्रेमचंद-परवर्ती उपन्यासकारों ने उठाया। गोदान के पूर्व तक जितने भी उपन्यास लिखे गये हैं उनमें आदर्श का रंग कुछ गहरा है किन्तु परवर्ती उपन्यासों में यथार्थ के तथ्यात्मक चित्र हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद परवर्ती-उपन्यास साहित्य आदर्श के रंग से रंगे न होकर यथार्थ के रंगों से चमकीले और वास्तविक दिखाई देते हैं।

सामाजिक यथार्थ के चित्रण के लिए लेखकों ने नवीन शैलियों की खोज की भले ही इस खोज में योरोपीय साहित्य प्रेरणास्पद रहा हो। मार्क्स से प्रभावित लेखकों आर्थिक विषमता के विषमजाल से पीड़ित होने के कारण सर्वहारा वर्ग की दयनीय जीवन स्थितियों का चित्रण तो है ही साथ ही साथ उन्होंने श्रेणी संघर्ष की उदीयमान चेतना को ही सामाजिक यथार्थ का चित्र समझा है। इस वर्ग में आने वाले उपन्यासकारों यशपाल, नागार्जुन और अमृतराय का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे उपन्यासकार भी हुए जिन्होंने यह स्वीकार किया कि मानव गुण दोषों का पुंज है। वह पासे का सोना नहीं, अष्टधातु का मिश्रण है। "वस्तुतः जीवन सागर की विशालता और उसकी गगनचुम्बी मुर्हूमियों के साथ ऐसे स्थल हैं जहां सागर का पानी आकर रुक गया है और सड़ रहा है। जीवन कूड़े-करकट, धुएं, धुन्ध, गर्द, गुबार और कीचड़ दलदल से अंटा पड़ा है और चूंकि जीवन में इन्हीं का आधिक्य है अतएव इन्हीं का चित्रण अभिप्रेत भी है। नवीन मनोविज्ञान के प्रकाश में इन कलाकारों ने यह भी अनुभव किया कि मनुष्य के बाहर ही उलझनों का अपरिमित विस्तार नहीं उसके अन्तर में भी बेगिनती स्तर हैं जिनके नीचे ऐसी अंधेरी कंदरायें हैं जिनकी झांकी मात्र कंपा देने को यथेष्ट है।" राजेन्द्र यादव, विष्णु प्रभाकर, रांगेयराघव, आदि की दृष्टि इस प्रकार के चित्रणों की ओर अधिक रही है।

काम भावना (Sex)—प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासों में तो यौन विषयक चर्चा नहीं हुई, किन्तु परवर्ती उपन्यासों में यह खुल कर सामने आई। यौन सम्बन्धों को लेकर अनेक प्रश्न और समस्यायें उठाई गई और उनका समाधान किया गया। यौन विषयक नैतिकता के बारे में इन कलाकारों में एक नवीन किन्तु उदार दृष्टिकोण दिखाई देता है। इनकी मान्यता रही है कि भूख के समान भोग भी एक ऐसी शक्ति है जिसे रोका नहीं जा सकता है। भूख के बाद भोग की लालसा स्वाभाविक वृत्ति का परिचय देती है। समाज में आज जो अनेक यौनाचार और पापाचार दिखाई देते हैं उनका विश्लेषण और विवेचन आचरणिक ढंग से हुआ है। "प्रबल प्रवृत्तिजन्य मानवीय भूख की परितृप्ति से प्रेरित यौन-स्खलन को इस रूप में चित्रित करने का प्रयास हुआ कि स्खलित व्यक्ति के प्रति घृणा की अपेक्षा प्यार उमड़े। दूसरी ओर पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए व्यभिचार की बाध्यता को भी अत्यन्त निर्लिप्त भाव से चित्रित किया गया कि यदि मन निर्मल है तो इस नश्वर शरीर के व्यभिचार से महिला भ्रष्ट नहीं सकती, तात्पर्य यह है कि समाज से किंचित अलग करके प्रेम तथा यौन समस्या

देखने का प्रयत्न हुआ और प्रवृत्ति और परिस्थिति को ऐसी अनिवार्यता में चित्रित या जाने लगा कि यौन-दुर्बलताओं एवं स्खलन के प्रति घृणा के स्थान पर हमारी नुभूति ही मिले।"

नारी पुरुष की समस्या को ही एकमात्र आधार बना कर उपन्यास लिखने ों में जैनेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सुनीता और कल्यानी, परख तपोभूमि में यही बात देखने को मिलती है। सुनीता उपन्यास यदि नारी पुरुष के सम्बन्ध को दार्शनिक आधार देकर प्रस्तुत किया गया है तो तपोभूमि की धारिणी य यौन सम्बन्धों की शिकार है, जिससे वह गर्भवता हो जाती है। बाद में वह ा बन कर भी जल में कमल पत्र के समान निर्मल है। त्यागपत्र की नारी 'मृणाल' स्थितियों के जाल में फंस कर अनेक पुरुषों की काम-क्रीड़ा का शिकार बनती है न इतना होने पर भी वह महिमावती है क्योंकि शरीर की अपवित्रता मन की त्रता से बढ़ कर नहीं है। उसका मन पवित्र है। व्यतीत उपन्यास में अनिता अपने न प्रेमी के जीवन को व्यवस्थित करने की चिन्ता में पागल हो उठती है—"कहती ी यह सामने हूँ। मुझको तुम ले सकते हो। समूची को जिस विधि से चाहो ले ा हो।"

भगवतीचरण के उपन्यासों में आर्थिक विषमताओं से ग्रस्त नारी के शरीर य का अच्छा चित्रण किया गया है। चमेली रामेश्वर को अत्यधिक प्यार करती है रामेश्वर की ही रक्षा में उसे बाध्य होकर अपना तन देना पड़ता है। धन के यौन नैतिकता नगण्य है।

इलाचंद जोशी के उपन्यास भी इसी प्रकार के चित्र प्रस्तुत करते हैं। इनके पात्र प्रायः नारी पुरुष के अवैध सम्बन्धों की कथा कहते हैं। इतना ही क्यों नारी वंचना भी बड़े मार्मिक शब्दों में बताई गई है। सन्यासी उपन्यास का नंदकिशोर विवाह के ही शांति के साथ गृहस्थी जमाने की प्रक्रिया करता है। पर्दे की रानी नमोहन रेलगाड़ी में निरंजना के कौमार्य को भंग करता है तथा प्रेत और छाया में नाथ मंजरी को गर्भवती बना कर छोड़ देता है।

यशपाल के उपन्यासों में भी नारी रूप का आकर्षण और काम प्रवृत्ति विद्यमान दादा कामरेड का हरीश अपने मन में एक विचित्र साध लिए हुए है—"मैं कुछ ी करूंगा, मैं केवल जानना चाहता हूं स्त्री कितनी सुन्दर होती है। मैं स्त्री के ौन्दर्य को पूर्ण रूप से अनुभव करूंगा।" इसके लिए शैलबाला तत्पर हो जाती है कहती है—"मृत्यु के मुख में फंसा हुआ यह लड़का जो कहता है उसकी उपेक्षा की जाय" और नितान्त नग्न होकर खड़ी हो जाती है।

का बीड़ा प्रेमचंद-परवर्ती उपन्यासकारों ने उठाया। गोदान के पूर्व तक जितने भी उपन्यास लिखे गये हैं उनमें आदर्श का रंग कुछ गहरा है किन्तु परवर्ती उपन्यासों में यथार्थ के तथ्यात्मक चित्र हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद परवर्ती-उपन्यास साहित्य आदर्श के रंग से रंगे न होकर यथार्थ के रंगों से चमकीले और वास्तविक दिखाई देते हैं।

सामाजिक यथार्थ के चित्रण के लिए लेखकों ने नवीन शैलियों की खोज की है भले ही इस खोज में योरोपीय साहित्य प्रेरणास्पद रहा हो। मार्क्स से प्रभावित लेखकों में आर्थिक विपमता के विपमजाल से पीड़ित होने के कारण सर्वहारा वर्ग की दयनीय जीवन स्थितियों का चित्रण तो है ही साथ ही साथ उन्होंने श्रेणी संघर्ष की उदीयमान चेतना को ही सामाजिक यथार्थ का चित्र समझा है। इस वर्ग में आने वाले उपन्यासकारों में यशपाल, नागार्जुन और अमृतराय का नाम विशेपतः उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे उपन्यासकार भी हुए जिन्होंने यह स्वीकार किया कि मानव गुण दोषों का पुंज है। वह पासे का सोना नहीं, अष्टधातु का मिश्रण है। "वस्तुतः जीवन सागर की विशालता और उसकी गगनचुम्वी मुहूर्मियों के साथ ऐसे स्थल हैं जहां सागर का पानी आकर रुक गया है और सड़ रहा है। जीवन कूड़े-करकट, धुएं, धुन्ध, गर्द, गुवार और कीचड़ दलदल से अंटा पड़ा है और चूंकि जीवन में इन्हीं का आधिक्य है अतएव इन्हीं का चित्रण अभिप्रेत भी है। नवीन मनोविज्ञान के प्रकाश में इन कलाकारों ने यह भी अनुभव किया कि मनुष्य के वाहर ही उलझनों का अपरिमित विस्तार नहीं उसके अन्तर में भी वेगिनती स्तर हैं जिनके नीचे ऐसी अंधेरी कंदरायें हैं जिनकी झांकी मात्र कंपा देने को यथेष्ट है।" राजेन्द यादव, विष्णु प्रभाकर, रांगेयराघव, आदि की दृष्टि इस प्रकार के चित्रणों की ओर अधिक रही है।

काम भावना (Sex)—प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासों में तो यौन विपयक चर्चा नहीं हुई, किन्तु परवर्ती उपन्यासों में यह खुल कर सामने आई। यौन सम्बन्धों को लेकर अनेक प्रश्न और समस्यायें उठाई गईं और उनका समाधान किया गया। यौन विपयक नैतिकता के वारे में इन कलाकारों में एक नवीन किन्तु उदार दृष्टिकोण दिखाई देता है। इनकी मान्यता रही है कि भूख के समान भोग भी एक ऐसी शक्ति है जिसे रोका नहीं जा सकता है। भूख के वाद भोग की लालसा स्वाभाविक वृत्ति का परिचय देती है। समाज में आज जो अनेक यौनाचार और पापाचार दिखाई देते हैं उनका विश्लेपण और विवेचन आचरणिक ढंग से हुआ है। "प्रबल प्रवृत्तिजन्य मानवीय भूख की परितृप्ति से प्रेरित यौन-स्खलन को इस रूप में चित्रित करने का प्रयास हुआ कि स्खलित व्यक्ति के प्रति घृणा की अपेक्षा प्यार उमड़े। दूसरी ओर पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए व्यभिचार की वाध्यता को भी अत्यन्त निर्लिप्त भाव से चित्रित किया गया कि यदि मन निर्मल है तो इस नश्वर शरीर के व्यभिचार से महिमा घट नहीं सकती, तात्पर्य यह है कि समाज से किंचित अलग करके प्रेम तथा यौन समस्या

को देखने का प्रयत्न हुआ और प्रवृत्ति और परिस्थिति को ऐसी अनिवार्यता में चित्रित किया जाने लगा कि यौन-दुर्बलताओं एवं स्खलन के प्रति घृणा के स्थान पर हमारी सहानुभूति ही मिले।"

नारी पुरुष की समस्या को ही एकमात्र आधार बना कर उपन्यास लिखने वालों में जैनेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सुनीता और कल्यानी, परख और तपोभूमि में यही बात देखने को मिलती है। सुनीता उपन्यास यदि नारी पुरुष के यौन सम्बन्ध को दार्शनिक आधार देकर प्रस्तुत किया गया है तो तपोभूमि की धारिणी अवैध यौन सम्बन्धों की शिकार है, जिससे वह गर्भवता हो जाती है। बाद में वह वेश्या बन कर भी जल में कमल पत्र के समान निर्मल है। त्यागपत्र की नारी 'मृणाल' परिस्थितियों के जाल में फंस कर अनेक पुरुषों की काम-क्रीड़ा का शिकार बनती है लेकिन इतना होने पर भी वह महिमावती है क्योंकि शरीर की अपवित्रता मन की पवित्रता से बढ़ कर नहीं है। उसका मन पवित्र है। व्यतीत उपन्यास में अनिता अपने निष्फल प्रेमी के जीवन को व्यवस्थित करने की चिन्ता में पागल हो उठती है—"कहती हूं, मैं यह सामने हूँ। मुझको तुम ले सकते हो। समूची को जिस विधि से चाहो ले सकते हो।"

भगवतीचरण के उपन्यासों में आर्थिक विषमताओं से ग्रस्त नारी के शरीर विक्रय का अच्छा चित्रण किया गया है। चमेली रामेश्वर को अत्यधिक प्यार करती है किन्तु रामेश्वर की ही रक्षा में उसे बाध्य होकर अपना तन देना पड़ता है। धन के आगे यौन नैतिकता नगण्य है।

इलाचंद जोशी के उपन्यास भी इसी प्रकार के चित्र प्रस्तुत करते हैं। इनके उपन्यास प्रायः नारी पुरुष के अवैध सम्बन्धों की कथा कहते हैं। इतना ही नहीं नारी की प्रवंचना भी बड़े मार्मिक शब्दों में बताई गई है। सन्यासी उपन्यास का नंदकिशोर बिना विवाह के ही शांति के साथ गृहस्थी जमाने की प्रक्रिया करता है। पर्दे की रानी में इन्दुमोहन रेलगाड़ी में निरंजना के कौमार्य को भंग करता है तथा प्रेत और छाया में पारसनाथ मंजरी को गर्भवती बना कर छोड़ देता है।

यशपाल के उपन्यासों में भी नारी रूप का आकर्षण और काम प्रवृत्ति विद्यमान है। दादा कामरेड का हरीश अपने मन में एक विचित्र साध लिए हुए है—"मैं कुछ भी न करूंगा, मैं केवल जानना चाहता हूं स्त्री कितनी सुन्दर होती है। मैं स्त्री के आकर्षण को पूर्ण रूप से अनुभव करूंगा।" इसके लिए शैलबाला तत्पर हो जाती है और कहती है—"मृत्यु के मुख में फंसा हुआ यह लड़का जो कहता है उसकी उपेक्षा कैसे की जाय" और नितान्त नग्न होकर खड़ी हो जाती है।

अज्ञेय के शेखर को उसकी मुंहबोली बहिन शशि सम्पूर्णता के साथ प्यार करती है तथा विवाहोपरांत भी इसे निभाने का प्रयास करती है। नदी के द्वीप का भुवन रेखा के प्रति शुद्ध काम भाव रखता है। सामाजिक और नैतिक मान्यताओं से

१. आत्मकथा शैली
२. डायरी शैली
३. पूर्वदीप्ति शैली
४. स्मृति शैली
५. प्रतीक शैली
६. स्वप्न शैली
७. मनोविश्लेषण शैली
८. आंचलिक शैली
९. भाववर्णन शैली
१०. सूत्र व्याख्या शैली
११. उद्धरण शैली आदि ।

भाषा की दृष्टि से इन उपन्यासों में भाषा के कई रूप दिखाई देते हैं। एक तो बोलचाल वाला रूप है जिसमें मिश्रित शब्दावली का प्रयोग किया गया है और दूसरा वह जिसमें आंचलिक शब्दों की भरमार है। ये वे उपन्यास हैं जो अंचल विशेष की भाषा में या जनपदीय भाषा में लिखे गए हैं। इस प्रकार के भाषा विधायकों में फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन और शैलेशमटियानी के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं।

उपन्यासों में भाषा की प्रतीकात्मकता तो मिलती है किन्तु लाक्षणिकता नहीं, व्यंग्य और विनोद के वातावरण को रूपायित करने में चुटीली, तीखी और हल्की-फुल्की भाषा को अपनाया गया है।

शैली और शिल्प की दृष्टि से जो नवीन प्रयोग इस काल में हुए हैं उनमें सूरज का सातवां घोड़ा, सोया हुआ जल, डूबते मस्तूल, चांदनी और खण्डहर, परन्तु, द्वाभा, बहती गंगा, बाबा बटेसरनाथ, मैला आंचल, ग्यारह सपनों का देश आदि उल्लेखनीय हैं।

१. सूरज का सातवां घोड़ा कथन शैली और शिल्प का नवीन प्रयोग है। इसमें प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।

२. सोया हुआ जल सिनेरियो शिल्प में लिखा गया उपन्यास है। इसमें "बहुत छोटे से चौखटे में काफी लम्बा घटनाक्रम और काफी विस्तृत क्षेत्र का चित्रण करने की व्यवस्था के कारण यह ढंग अपनाया गया है।"

३. डूबते मस्तूल में स्मृति शैली के माध्यम से रंजना की कथा कही गई है।

४. वर्णन शैली, डायरी शैली और चिन्ता प्रवाह शैली का प्रयोग द्वाभा उपन्यास में किया गया है।

५. मानवीकरण शैली के द्वारा बाबा बटेसरनाथ की कथा कही गई है।

६. रेडियो प्रसारण शैली का प्रयोग राजेन्द्र यादव के उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' में किया गया है।

७. **'नागफनी का देश'** भी प्रतीकात्मक शैली का उपन्यास है। 'बारह खंभे' और 'ग्यारह सपनों का देश' उपन्यास भी शैली के अभिनव प्रयोग हैं। इनमें सामूहिक प्रयास किए गए हैं जो स्तुत्य हैं।

प्रसिद्ध उपन्यासकार—प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास जिन विविध धाराओं में बहा है उनमें प्रत्येक धारा के प्रमुख उपन्यासकारों के ये नाम हैं—

१. **मनोविश्लेषक उपन्यासकार**—जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी, अज्ञेय, भारती, डा० देवराज और प्रभाकर माचवे।

२. **सामाजिक उपन्यासकार**—भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, अश्क, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, राजेन्द्र यादव और विष्णु प्रभाकर आदि।

३. **आंचलिक उपन्यासकार**—रांगेय राघव, फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, उदयशंकर भट्ट और शिवप्रसाद मिश्र आदि।

४. **ऐतिहासिक उपन्यासकार**—यशपाल, अमृतलाल, चतुरसेन शास्त्री, रांगेय राघव।

५. **मार्क्सवादी उपन्यासकारों में**—यशपाल का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जा सकता है।

आज कुछ नवीन प्रतिभाएं सामने आ रही हैं। इनमें यादवेन्द्र शर्मा, [illegible] शर्मा, सुधाकर पाण्डे, महेन्द्रनाथ, उषा प्रियम्वदा, राजेन्द्र अवस्थी, मोहन राकेश, कमलेश्वर, लक्ष्मीनारायणलाल, और लक्ष्मीकांत वर्मा आदि का नाम प्रमुख है।

उपसंहार—प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास ने अनेक भूमियों को पार करके अपना पथ बनाया है। इसमें उसने वस्तुगत और शिल्पगत उपलब्धियों के साथ-साथ [illegible]-गत उपलब्धियां भी की हैं। आज उपन्यास जिस दिशा की ओर जा रहा है उस पर जाने के प्रयास में कथा का पल्ला उसने छोड़ दिया है, संवादों को भी उपेक्षा भरी दृष्टि से अपनाया है और इनके स्थान पर मनोविज्ञान और अति यथार्थ को अपना लिया है। साथ ही नवीन वस्तु की दृष्टि से छोटे से जीवन की या कुछ ही घण्टों की कथा को उपन्यास के माध्यम से कहा गया है। इनमें कथन के नये ढंग और भाषा के नवीन प्रयोग किये गये हैं। अतः यही कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास ने इस युग में वस्तु, पात्र, शैली, शिल्प में अभूतपूर्व प्रगति की है। अनेक नये उपन्यासकार जीवन स्थितियों को वाणी देने में सजग हैं। इससे हिन्दी उपन्यास साहित्य के भविष्य की दिशा का पता चलता है।

२२

हिन्दी के आँचलिक उपन्यास

१. सामान्य परिचय।
२. उत्पत्ति।
३. आंचलिक उपन्यास की परिभाषा।
४. मूल तत्व।
५. विशेषताएं।
६. हिन्दी में आंचलिक उपन्यास।
७. आंचलिक उपन्यास की भाषा, शक्ति और सीमाएं।
८. कुछ आरोप।
९. निष्कर्ष।

सामान्य परिचय—आंचलिक उपन्यास का बीजारोपण प्रेमचंद, वर्मा एवं नागार्जुन आदि के उपन्यासों में ही हो गया था परन्तु उसका सही रूप पिछले दशक में ही स्पष्ट हो सका है। 'आंचलिक उपन्यास' को ठीक आधार एवं अस्तित्व दिया फणीश्वरनाथ रेणु ने। १९५४ में प्रकाशित 'मैला आंचल' की भूमिका में लिखा है कि—यह है मैला आंचल, एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया।......मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गांव को पिछड़े गांवों का प्रतीक मान कर इस उपन्यास का कथा-क्षेत्र बनाया है।

उत्पत्ति—'आंचलिक' शब्द की उत्पत्ति हुई है 'अंचल' शब्द से। 'अंचल' अंग्रेजी के 'रीजन' (Region) का पर्यायवाची है, जिसका अर्थ होता है 'प्रदेश'। इसलिए किसी प्रदेश या 'अंचल' विशेष से सम्बन्धित उपन्यास को आंचलिक उपन्यास कहा जाता है। हिन्दी साहित्य कोषकार के अनुसार "जिन उपन्यासों में किसी प्रदेश का यथातथ्य और बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है।"

तत्र जाती है। अतः पूर्णतः आंचलिक उपन्यासों का अभाव ही पाया जाता है। लेकिन भारत में यह विधा अपने शुद्ध रूप में विकसित हुई है। कहने को कह सकते हैं कि उन्होंने पाश्चात्य साहित्य से प्रेरणा या प्रभाव ग्रहण किया है लेकिन आत्मा सदैव भारतीय ही रही है।

आंचलिक उपन्यासों के सम्बन्ध में एक भ्रम फैला हुआ है कि वे सामाजिक या ऐतिहासिक ही होते हैं। यथार्थतः ऐसा नहीं है, यदि ऐसा ही होता तो नवीन नामकरण की आवश्यकता क्यों पड़ती ? हमारा मंतव्य यह है कि सामाजिक उपन्यास में लेखक सामाजिक समस्याओं के ताने-बाने में ही फंसा रहता है, जबकि आंचलिक उपन्यासकार जो कुछ कहना चाहता है वह सभी अंचल विशेष के परिप्रेक्ष्य में। यों भी कह सकते हैं कि सामाजिक उपन्यास में समस्यायें प्रधानता ग्रहण कर लेती हैं जबकि आंचलिक उपन्यास में वे गौण ही रहती हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में केवल आंचलिकता की झांकी मात्र ही मिल सकती है, पूर्ण वातावरण नहीं। यह सत्य है कि श्री वृन्दावनलाल वर्मा के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में जनपदीय वातावरण मुखर हो उठा है लेकिन उस समय हमारे समक्ष इतिहास का आग्रह रहता है, 'अंचल' का नहीं। दूसरी बात जो ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रधान होती है, वह पुस्तकीय ऐतिहासिक ज्ञान, जबकि आंचलिक उपन्यास में इसकी बिलकुल आवश्यकता नहीं रहती। आंचलिक उपन्यासों में First hand knowledge एवं स्वानुभव का होना आवश्यक है।

अतः आंचलिक उपन्यास वह उपन्यास है जिसमें उपन्यासकार किसी अंचल, जनपद, जाति या वर्ग के विशद दिग्दर्शन कराता हो, जिसमें कदम-कदम पर आंचलिकता का आग्रह रहता हो। अतः आंचलिक उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह उस अंचल विशेष की सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन, वेशभूषा, रूढ़ियां, त्यौहार, रीति-रिवाज, लोक-गीत, लोक भाषा, कहावत, मुहावरे, सामाजिक स्थिति आदि का भौगोलिक परिवेश में सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर उनका प्रयोग करे।

मूल तत्व—आंचलिक उपन्यासों के मूल तत्वों के सम्बन्ध में डा० शांतिस्वरूप गुप्त कहते हैं कि आंचलिक उपन्यास के पांच मूल तत्व हैं। ये हैं—(i) भौगोलिक स्थिति का अंकन और वहां की प्रकृति का काव्यमय चित्रण, (ii) कथानक का आंचलिक आधार (iii) लोक संस्कृति का चित्रण (iv) वहां की राजनैतिक चेतना व सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थिति का चित्रण (v) जन जागरण की नई चेतना।

उपन्यासकार अधिक सच्चाई लाने के लिए अपने उपन्यास के कथानक की भौगोलिक परिधी का चित्रण करता है। इससे चित्रण में अधिक यथार्थता आ जाती है। उदाहरण के लिए 'मैला आंचल' के लेखक मेरीगंज की भौगोलिक सीमाएं इस प्रकार बताते हैं, "उसके एक ओर है नेपाल, दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिमी बंगाल। भिन्न सीमा रेखाओं से इनकी बनावट मुकम्मल हो जाती है। जब हम दक्खिन में संथाल परगना और पश्चिम में मिथिला की सीमा रेखाएं खींच देते हैं।"

लेखक का उपर्युक्त कथन पाठकों पर अपनी सच्चाई और विश्वास की छाप लगा देता है। साथ ही वह यह भी बता देना चाहता है कि इस सीमा-रेखा के मध्य जीने वाला जन-जीवन किस प्रकार जीवनयापन कर रहा है। प्रकृति भी उपन्यास में एक पात्र ही बन कर आती है जिसके नदी, नाले, पहाड़ एवं बंजड़ अपना-अपना विशेष स्थान रखते हैं।

विशेषताएं—आंचलिक उपन्यास का कथानक किसी जनपद या प्रदेश विशेष पर आधारित रहता है। इस जनपद की समस्त विशेषताएं चाहे वे राजनीतिक हों या सामाजिक उस उपन्यास की विशेषताएं बन जाती हैं। इन्हीं से पात्रों का जन्म, पोषण एवं विकास होता है। प्रेमचन्द जी के उपन्यास आंचलिक न होते हुए भी बनारस, लखनऊ अथवा अन्य सीमान्त गांवों या ग्रामीण प्रदेशों के चित्रण से भरे पड़े हैं। गोदान, रंगभूमि एवं प्रेमाश्रम में यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। यहां तक कि हार्डी के 'मेयर आव कैस्टरब्रिज' में भी ऐसी ही स्थिति है। परन्तु 'मैला आंचल' सर्वांशतः अंचल विशेष के कथानक को लेकर चला है। उदाहरण के लिए मैरीगंज की विभिन्न टोलियों में संघर्ष, वहां की भूमि की विशेपता को लेकर होता है। इस उपन्यास के पात्र इसी प्रदेश के पात्र हैं, सार्वदेशिक या सार्वभौमिक नहीं। वह भी आंचलिक उपन्यासों के कथानक की एक विशेपता ही होती है।

लोक संस्कृति का चित्रण आंचलिक उपन्यासों में सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। क्योंकि जब तक किसी अंचल विशेष की रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, शादी-विवाह, त्योंहार-मेले, धार्मिक रूढ़ियां एवं अन्धविश्वास, भाषा, गीत, नृत्य एवं कलाओं का चित्रण नहीं होता है तब तक वह उपन्यास अपने आंचलिक होने की सार्थकता सिद्ध नहीं कर सकता। उपर्युक्त सभी बातों का चित्रण अपने अनुभव के आधार पर जो उपन्यासकार अधिक सच्चाई से कर सकेगा वह ही अधिक सफल उपन्यासकार कहलायेगा। 'मैला आंचल' इन सभी सांस्कृतिक विशेषताओं से समन्वित है। इसमें वर्णित सुराजी कीर्तन, सुरंगा सदाब्रिज की कथा, जाट-जट्टिन का खेल, बिदापद नाच, संथाल नृत्य, भूतों में विश्वास, होली के अवसर पर भड़ौवा आदि के चित्र मैरीगंज की संस्कृति का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार का चित्रण 'परती परिकथा' तथा 'मैला आंचल' में स्पष्ट परिलक्षित होता है। डा० रांगेय राघव के 'काका' में जनता की प्रतिक्रिया का वर्णन है और 'पानी की प्राचीर' में तहसीलदार और दरोगा के अत्याचारों के विरुद्ध जनक्रांति दिखाई गई है।

अमेरिका और इंगलैण्ड से आंचलिक उपन्यासों की जो हवा भारत में प्रवाहित हुई उससे हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की खेती लहलहा उठी। पाश्चात्य के इस प्रभाव से हिन्दी में भी जनपदीय भाषाओं के साहित्य को लेकर आंदोलन उठ खड़ा हुआ। कहने को तो 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में ही यह प्रादेशिकता आ गई थी परन्तु इसे सही दिशा निर्देश मिला महाप्राण निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'चमेली' और 'काले कारनामे' आदि उपन्यासों से। निराला के इन प्रयोगों ने नई पीढ़ी के तरुण कलाकारों का प्रोत्साहन बढ़ाया। इनमें नागार्जुन, हरिमोहन झा, उदयशंकर भट्ट, अमृतलाल नागर एवं लक्ष्मीनारायणलाल जैसे प्रतिभाशाली लेखक प्रकाश में आये। लेकिन इन नक्षत्रों में सबसे अधिक देदिप्यमान शुक्र नक्षत्र हैं श्री फणीश्वरनाथ रेणु। इन्होंने 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' के रूप में आंचलिक उपन्यास को स्थायी एवं कलात्मक स्वरूप प्रदान किया। इन्हीं उपन्यासों में हम 'आंचलिक रस' प्राप्त करते हैं। इनसे पूर्व के उपन्यासकार इस रस की प्राप्ति नहीं करवा सके थे। हां उनमें जो ऐतिहासिक उपन्यास हैं उनमें हम 'ऐतिहासिक रस' अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु 'आंचलिक रस' की जहां तक बात है यह अपने आप में एक नया तत्व है जिसका पूर्ण परिपाक रेणु जी के उपन्यासों में मिलता है।

हिन्दी में आंचलिक शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने ही किया, इसका यह तात्पर्य कभी नहीं समझ लेना चाहिए कि इनसे पूर्व के उपन्यासों में यह तत्व विद्यमान नहीं था। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों—प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रंगभूमि और गोदान में बनारस और उसके सीमावर्ती अंचल के सजीव चित्र मिलते हैं। उनके पात्र वहां की धरती का सत्व ग्रहण कर पनपते हैं। वहीं के भौगोलिक वातावरण में बढ़ते हैं। यह सब होते हुए भी हम इन उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास नहीं कह सकते। क्योंकि इन उपन्यासों में पूर्णतया आंचलिकता नहीं है। उनमें सदैव दो प्रकार के कथानक चलते रहते हैं, एक ग्रामीण और दूसरा नागरिक। अतः प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में आंचलिकता की अपेक्षा सार्वदेशिकता अधिक है।

ठीक यही बात 'वर्मा' जी के उपन्यासों के बारे में भी कही जा सकती है। उनके सभी ऐतिहासिक उपन्यासों—झांसी की रानी, मृगनयनी, सोना, कचनार, विराटा की पद्मनी, टूटे कांटे में आंचलिकता स्पष्ट झलकती है, लेकिन उस पर इतिहास का आग्रह सदैव रहता है। इन उपन्यासों में यत्र-तत्र बुन्देलखण्ड का अंचल अपने सभी पक्षों को—नरनारियों की वेश-भूषा, कलाएं, रीति-रिवाज, खान-पान, हास-विलास आदि लेकर उतरा है पर उनमें आंचलिक रस की अपेक्षा 'ऐतिहासिक रस' अधिक है। जिस 'ऐतिहासिक रस' की विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ऐतिहासिक उपन्यासों में वांछा करते

हैं, वह यहां प्राप्त है। अतः हम यह कह सकते हैं कि वर्मा जी के उपन्यासों में आंचलिकता है अवश्य परन्तु विशुद्ध रूप में नहीं।

प्रश्न यह उठता है कि जिन उपन्यासों में आंचलिकता स्पष्टतया परिलक्षित होती है वे उपन्यास भी आंचलिक क्यों नहीं कहलाते। इसके उत्तर में कुछ लोग कहते हैं कि वे उपन्यास नितान्तः अंचल की सम्पत्ति बन कर नहीं आते, उनमें नागरिक अंचल का परिवेश भी रहता है। अतः सुविधा की दृष्टि से हम आंचलिक उपन्यासों की दो कोटियां बना सकते हैं—(i) नागरिक जीवन को लेकर चलने वाले उपन्यास तथा (ii) ग्रामीण जीवन को उभारने वाले उपन्यास।

नागरिक अंचल से सम्बन्धित उपन्यासों में मुख्य हैं—डा० रांगेय राघव का 'काका', उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' और शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा'। 'काका' में मथुरा का नागरिक जीवन चित्रित किया गया है। उस अंचल विशेष की खूबी के कारण ही उसके पात्र विकास की ओर अग्रसर होते हैं। वातावरण एवं यमुनातट के प्राकृतिक चित्रण में स्थानीय बोली का ही प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए 'आज लाला कहीं चोट खाकर आये हो, तभी यहां इतनी उसके दिखा रहे हो' आदि।

इसी तरह 'सागर, लहरें और मनुष्य' में लेखक ने 'बारसोपा' के मछुओं और 'माहीम' के कोलियों का जन-जीवन चित्रित किया है। इस उपन्यास वर्णित इन जातियों का वर्णन इतना यथार्थ एवं स्वाभाविक बन पड़ा है, जैसे हमारे आंखों के समक्ष बम्बई के समुद्रतट के मछुओं की बस्ती हो। लेखक ने जिस बारीकी से उनके रीति-रिवाज, यौन सम्बन्ध, नृत्य, गीत, लड़ाई-झगड़ा, शराब, मार-पीट, गाली-गलोच आदि का वर्णन किया है वह बड़ा ही सजीव बन पड़ा है। इस तरह यह उपन्यास एकप्रकार से मछुओं का जीवन-चरित्र बन कर हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है। हां रेणु के समान प्राकृतिक वर्णन यहां बहुत कम बन पड़ा है। भाषा भी इतनी स्थानीय नहीं है। साथ ही बम्बई का फिल्मी जीवन भी उसे आंचलिक बनाने में रोकता है। इस तरह कथावस्तु का विस्तार बम्बई का फिल्मी जन-जीवन एवं काव्यात्मक प्रकृति चित्रण का अभाव आदि उसकी आंचलिकता को आघात पहुँचाते हैं।

विषय में डा० शांतिस्वरूप गुप्त कहते हैं—"........'बलचनमा' तथा 'वरुण के बेटे' निस्संदेह आंचलिक उपन्यास कहलाने के अधिकारी हैं। चरित्र-चित्रण, कथा की अन्विति, कथानक का आंचलिक आधार, वातावरण की सजीवता, जन-जीवन तथा संस्कृति का विशद चित्रण, भाषा-सभी दृष्टि से उनमें सफल आंचलिक उपन्यास के गुण विद्यमान हैं।" इस उपन्यास में जो कुछ बलचनमा का चरित्र है वह उस अंचल की धरती की देन है। वहीं की गंध लेकर वह पनपा है। उपन्यास का सम्पूर्ण जन-जीवन अपनी सांस्कृतिक धरोहर के साथ प्रकट हुआ है। यहां तक कि मिथिला की लोक-भाषा में यहां कुछ गीत भी गाये गये हैं। एक गीत देखिए—

'सखि हे मजरल आमक बाग
कुहू कुहू चिकरय कोइल किया
झींगुर नावय फाग
कंत हमर परदेस बसई रहि
बिसरि राग अनुराग'

इसलिए हम कह सकते हैं कि 'बलचनमा'—जिसमें भौगोलिक स्थिति के चित्रण का अभाव है—एक आंचलिक उपन्यास है। इसमें आंचलिक रस का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता है।

'वरुण के बेटे' भी ऐसा ही उपन्यास है। इसमें मछुओं का जन-जीवन पूर्ण समक्ष आता है। इसमें उन मछुओं के मछली मारने, बाजार में बेचने, दिन भर काम करने आदि के विस्तृत चित्र दिए गए हैं। इस प्रकार मछुओं की आर्थिक अवस्था का वर्णन तथा जमींदारों की रुपये ऐंठने की प्रवृति भी यहां दिखाई गई है। यहां तक कि उनमें अब राजनीतिक चेतना भी दिखाई देने लगी है। मछुओं के गीत भी देखिए—

'ऊपर तान, हुइयो
पीछे हट के, हुइयो
जाल संभाल, हुइयो
× × ×
भारत माता, हुइयो
बाह गरीखर, हुइयो'

नारियों के लोक-गीतों, प्राकृतिक चित्रों आदि के समन्वय से यह उपन्यास और भी अधिक सफल हो गया है। ठीक इसी प्रकार के मछुओं के जीवन को सत्यार्थी का 'ब्रह्मपुत्र' भी हमारे समक्ष रखता है। इस उपन्यास में ब्रह्मपुत्र नदी के अंचल की भौगोलिक एवं सामाजिक स्थिति का चित्रण किया गया है। इस दृष्टि से 'ब्रह्मपुत्र' एक सफल आंचलिक उपन्यास कहा जा सकता है।

इधर कुछ उपन्यास जाति विशेष को लेकर भी लिखे गए हैं। कुछ विद्वान इन उपन्यासों को आंचलिक नहीं मानते, पर हमारा यह आग्रह है कि इन उपन्यासों में

भी शुद्ध आंचलिकता पाई जाती है। करवटों का वन प्रदेशी जीवन रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूं' में सजीव हो उठा है। ठीक ऐसा ही चित्रण 'रथ के पहिये' में सत्यार्थी जी ने किया है। पहले में जहां नटों के रीति-रिवाज का, दैनिक जीवन एवं आजीविका के साधनों का, नट-कौशल एवं शुद्ध यौन सम्बन्धों का, तम्बूओं में रहने का तथा शराबादि पीने का बड़ा सफल वर्णन किया गया है। प्रसंगवश इनके साथ ही चमारों, ठाकुरों, जमींदारों एवं सिपाहियों के वर्णन की झांकी भी मिल जाती है। उपन्यास में नट अपनी ही भाषा में बोलते हैं। लेकिन फिर भी इस उपन्यास में आंचलिक उपन्यास की पूर्णता नहीं है क्योंकि इसमें खत्री जी के तिलस्मी उपन्यासों जैसी रहस्यमयता भी आ जाती है, जो उपन्यास की आंचलिकता को आघात पहुँचाती है।

मध्य प्रदेश के करंजिया अंचल का एवं वहां की गोंड जाति का बहुत ही सुन्दर चित्रण 'रथ के पहिये' में हो पाया है। इस उपन्यास में जहां एक ओर सत्यार्थी जी ने वहां के सामाजिक जन-जीवन का अंकन किया है वहां दूसरी ओर सामसेनी प्रथा एवं करमा नृत्य आदि के रूप में सांस्कृतिक झांकी भी प्रस्तुत की गई है। वर्ग विशेष का चित्रण करने वाले आंचलिक उपन्यासों में उदयशंकर भट्ट के 'शेष-अशेष' का नाम भी लिया जा सकता है। इसमें साधुओं के जीवन का अच्छा खासा विवरण दिया गया है। लेखक ने साधुओं की नारी सम्बन्धी कमजोरी को चित्रित कर इस वर्ग की दुर्बलता की ओर भी संकेत किया है परन्तु साथ ही उनकी राष्ट्रीयता भी स्तुत्य है। ये अच्छाई एवं बुराई दोनों के समन्वित रूप बन कर सामने आये हैं। सारांश में हम कह सकते हैं कि यह उपन्यास भट्ट जी का सफल उपन्यास है।

कथि जे चढ़िये आयेल
भारत माता
कथि जे चढल सुराज
चलु सली देखन को
कथि जे चढिये आयेल
बीर जमाहिर
कथि पर गंधी महराज।

तो कहीं होली का भंडोवा गाया जाता है—

अरे जे कटहल, तत जे बड़हल
चुम्मा लेवे में जात नहीं रे जाये।

कहीं हलवाहा मुक्त कण्ठ से गाता है—

'आम :जे कटहल, तत जे बड़हल
नेबुआ अधिक सूरषे
मास असाढ हो रामा।........

इस प्रकार लोक-गीतों की सतरंगी हमें यत्र-तत्र दिखाई देती है।

जन-जागरण के संदेश के रूप में लेखक ने राजनीतिक नेताओं की धांधलेबाजी, वड़े लोगों के अनैतिक व्यवहार, जमींदार और तहसीलदारों की मनमानी एवं वर्ग-संघर्ष आदि के वर्णन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से लेखक इनसे वचने के लिए संदेश देता है।

शुभ्र चांदनी के फैलाने वाले चन्द्रमा में भी कलंक की कल्पना कर स्पष्टतः इस धारणा को महत्व दिया गया है कि सम्पूर्ण अच्छाईयों के खजाने में भी कहीं-कहीं बुराईयां भी छुपी रहती हैं। 'मैला आंचल' के सम्बन्ध में यहां हम यही कहना चाहते हैं। इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी की आदर्शवादी प्रवृति भी आ गई है जो अस्वाभाविक लगता है। उदाहरण के लिए विश्वनाथ प्रसाद जैसे अत्याचारी तहसील-दार का अन्त में अपनी ७०० बीघा जमीन गरीबों में बांट कर हृदय परिवर्तन करा देना। यह एकदम किसी भी पात्र के चरित्र में अस्वाभाविक लग सकता है। ठीक यही आदर्शवादी हो जाने की बात डा० प्रशान्त के सम्बन्ध में कही जा सकती है। साथ ही अत्यधिक ग्राम्य-उत्सवों, गीतों आदि का वर्णन भी उबा देने वाला हो जाता है।

पूर्णिया जिले के 'परानपुर' गांव और उसके आस-पास के गांवों को सजीव कर दिया है 'परती परिकथा' में। "इसमें जमींदारी प्रथा के अन्त, नये वन्दोवस्त, गैवई नेताओं का अभ्युदय, उनकी वेईमानी, स्वार्थपरायणता, घूस, दलाली, राजनीतिक पार्टियों का संघर्ष, समाचार-पत्रों की शक्ति और उनकी अनैतिकता के ऐसे चित्र प्रस्तुत किये गए हैं कि अंचल का राजनीतिक जीवन साकार हो उठा है।" और जो एक बात

भी शुद्ध आंचलिकता पाई जाती है। करवटों का वन प्रदेशी जीवन रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूं' में सजीव हो उठा है। ठीक ऐसा ही चित्रण 'रथ के पहिये' में सत्यार्थी जी ने किया है। पहले में जहां नटों के रीति-रिवाज का, दैनिक जीवन एवं आजीविका के साधनों का, नट-कौशल एवं शुद्ध यौन सम्बन्धों का, तम्बूओं में रहने का तथा शराबादि पीने का बड़ा सफल वर्णन किया गया है। प्रसंगवश इनके साथ ही चमारों, ठाकुरों, जमींदारों एवं सिपाहियों के वर्णन की झांकी भी मिल जाती है। उपन्यास में नट अपनी ही भाषा में बोलते हैं। लेकिन फिर भी इस उपन्यास में आंचलिक उपन्यास की पूर्णता नहीं है क्योंकि इसमें खत्री जी के तिलस्मी उपन्यासों जैसी रहस्यमयता भी आ जाती है, जो उपन्यास की आंचलिकता को आघात पहुँचाती है।

मध्य प्रदेश के करंजिया अंचल का एवं वहां की गोंड जाति का बहुत ही सुन्दर चित्रण 'रथ के पहिये' में हो पाया है। इस उपन्यास में जहां एक ओर सत्यार्थी जी ने वहां के सामाजिक जन-जीवन का अंकन किया है वहां दूसरी ओर सामसेनी प्रथा एवं करमा नृत्य आदि के रूप में सांस्कृतिक झांकी भी प्रस्तुत की गई है। वर्ग विशेष का चित्रण करने वाले आंचलिक उपन्यासों में उदयशंकर भट्ट के 'शेष-अशेष' का नाम भी लिया जा सकता है। इसमें साधुओं के जीवन का अच्छा खासा विवरण दिया गया है। लेखक ने साधुओं की नारी सम्बन्धी कमजोरी को चित्रित कर इस वर्ग की दुर्बलता की ओर भी संकेत किया है परन्तु साथ ही उनकी राष्ट्रीयता भी स्तुत्य है। ये अच्छाई एवं बुराई दोनों के समन्वित रूप बन कर सामने आये हैं। सारांश में हम कह सकते हैं कि यह उपन्यास भट्ट जी का सफल उपन्यास है।

आंचलिक उपन्यासों के क्षेत्र में वास्तविक क्रांति के जन्मदाता हैं फणीश्वरनाथ 'रेणु', जिनके 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' में बिहार का ग्रामीण जीवन ऐतिहासिक हो गया है। रेणु जी ने 'मैला आंचल' में १९४२ से १९४८ तक के मेरीगंज के जन-जीवन का कच्चा चिट्ठा उन्हीं की भाषा में प्रस्तुत किया है। मेरीगंज की विभिन्न टोलियों का चित्रण भी कम आकर्षक नहीं है। इसमें वहां की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति का बड़ा ही मनोहारी वर्णन प्राप्य है। लोक-संस्कृति के चित्रण में तो रेणु जी की कलम का कोई सानी ही नहीं कहा जा सकता। बिदापद, नाच, जाट-जाट्टिन का खेल, संथाल नृत्य, वेश-भूषा, रहन-सहन एवं धार्मिक विश्वास तथा भूत-प्रेतों में विश्वास आदि को बड़ी यथार्थता के साथ प्रस्तुत किया है। जहां एक ओर उच्च कहलाने वालों के नीची जाति की स्त्रियों के अवैध सम्बन्धों की चर्चा है, वहां दूसरी ओर राजनीतिक पतन और आर्थिक हीनता के चित्र भी अंकित किए गए हैं। लोक-गीतों, लोक-भाषा एवं लोकोक्तियों की यथार्थता के कारण आंच-लिकता के चार चांद लग गये हैं। सुराती कीर्तन सुनिए:—

कथि जे चढ़िये आयेल
भारत माता
कथि जे चढल सुराज
चलु सखी देखन को
कथि जे चढिये आयेल
बीर जमाहिर
कथि पर गंधी महराज ।

तो कहीं होली का भंडोवा गाया जाता है—

अरे जे कटहल, तत जे वड़हल
चुम्मा लेवे में जात नहीं रे जाये ।

कहीं हलवाहा मुक्त कण्ठ से गाता है—

'आम ;जे कटहल, तत जे वड़हल
नेबुआ अधिक सूरपे
मास असाढ हो रामा ।........

इस प्रकार लोक-गीतों की सतरंगी हमें यत्र-तत्र दिखाई देती है।

जन-जागरण के संदेश के रूप में लेखक ने राजनीतिक नेताओं की धांधलेबाजी, बड़े लोगों के अनैतिक व्यवहार, जमींदार और तहसीलदारों की मनमानी एवं वर्ग-संघर्ष आदि के वर्णन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से लेखक इनसे बचने के लिए संदेश देता है।

शुभ्र चांदनी के फैलाने वाले चन्द्रमा में भी कलंक की कल्पना कर स्पष्टतः इस धारणा को महत्व दिया गया है कि सम्पूर्ण अच्छाईयों के खजाने में भी कहीं-कहीं बुराईयां भी छुपी रहती हैं। 'मैला आंचल' के सम्बन्ध में यहां हम यही कहना चाहते हैं। इस उपन्यास में प्रेमचन्द जी की आदर्शवादी प्रवृति भी आ गई है जो अस्वाभाविक लगता है। उदाहरण के लिए विश्वनाथ प्रसाद जैसे अत्याचारी तहसीलदार का अन्त में अपनी ७०० बीघा जमीन गरीबों में बांट कर हृदय परिवर्तन करा देना। यह एकदम किसी भी पात्र के चरित्र में अस्वाभाविक लग सकता है। ठीक यही आदर्शवादी हो जाने की बात डा० प्रशान्त के सम्बन्ध में कही जा सकती है। साथ ही अत्यधिक ग्राम्य-उत्सवों, गीतों आदि का वर्णन भी उबा देने वाला हो जाता है।

पूर्णिया जिले के 'परानपुर' गांव और उसके आस-पास के गांवों को सजीव कर दिया है 'परती परिकथा' में। "इसमें जमींदारी प्रथा के अन्त, नये बन्दोबस्त, गंवई नेताओं का अभ्युदय, उनकी बेईमानी, स्वार्थपरायणता, घूस, दलाली, राजनीतिक पार्टियों का संघर्ष, समाचार-पत्रों की शक्ति और उनकी अनैतिकता के ऐसे चित्र प्रस्तुत किये गए हैं कि अंचल का राजनीतिक जीवन साकार हो उठा है।" और जो एक बात

'मैला आंचल' से अधिक दिखाई देती है, वह है लोक-संस्कृति के चित्रण की बात। लोक-कथाएं एवं लोक-गीत भी यहां द्रष्टव्य हैं। एक लोक-गीत देखिए—

'हां रे पन कउवा,
सावन-भादव केर उमडल नदिया
भांसि डोल मैया केर बेड़वा रे, पन कउवा।'

इन गीतों और कथाओं में लेखक ने लोक-भाषा को उतार देने का प्रयास किया है। कहीं चिड़ियाओं के चहचहाने के ध्वनिबद्ध करने में लेखक उबाने सा लगता है। फिर भी 'परती परिकथा', 'मैला आंचल' के बाद लेखक बड़ा शक्तिशाली एवं सही अर्थों में आंचलिक उपन्यासकार है। ग्रामीण अंचल से सम्बन्धित अन्य उपन्यासकारों में रामदरश मिश्र और शैलेश मटियानी का नाम उल्लेखनीय है। मिश्र जी का 'पानी के प्राचीर' तथा मटियानी जी का 'होल्दार' सफल आंचलिक उपन्यास कहे जा सकते हैं। प्रथम में गोरखपुर जिले के राप्ति और गोरी नदियों से घिरे भू-भाग के कल्पित गांव पांडेपुरवा की कथा है—इस अंचल की अशिक्षा, दरिद्रता, दुर्दशा, अन्ध-विश्वास, त्यौहार, मेले, भूत-प्रेतों पर विश्वास, आपसी झगड़े आदि का वर्णन है तो द्वितीय में पर्वतीय प्रदेश का दिग्दर्शन। दोनों उपन्यासों में लोक-भाषा, लोक-गीत एवं प्राकृतिक वातावरण का चित्रण आदि भी उपलब्ध होते हैं।

भाषा—आंचलिक उपन्यासों की भाषा के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं दिखाई देते। इनमें आंचलिक भाषा का उपयोग कहां तक हो, यह भी एक प्रश्न है। पूर्व पृष्ठों में यह बताने का प्रयास किया गया है कि स्थानीय भाषा का प्रयोग आंचलिक उपन्यासों की विशेषता है क्योंकि स्थानीय रंग (Local Calour) लोक भाषा के माध्यम से ही अधिक सम्भव है। इससे जहां एक ओर हिन्दी का शब्दकोष बढ़ता है वहां दूसरी ओर अनेक बाधाएं भी उपस्थित हो जाती हैं। लोक-भाषा के तीन उद्देश्य होते हैं—(i) स्थानीय रंगत प्रस्तुत करने हेतु, (ii) यथार्थ वातावरण की सृष्टि के लिए, (iii) हास्य, विनोद और व्यंग्य की सर्जना के लिए। यदि लोक-भाषा उपन्यास में इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति करती है तो उत्तम है, नहीं तो अत्यधिक लोक-भाषा का प्रयोग उसी समस्या को प्रस्तुत कर देगा, जो समस्या प्रेमचन्द के अधिक उर्दूनुमा पात्रों के कारण उठी थी। परन्तु अपने सम्पूर्ण कथा साहित्य में जहां-जहां उर्दू-हिन्दी में लेखक ने सन्तुलन बनाया है वह कृती सभी के गले का हार बन गई है। वृन्दावन लाल वर्मा के गढ कुण्डार, महारानी दुर्गावती, विराटा की पद्मनी तथा 'टूटे कांटों' में लोक-भाषा का सन्तुलित प्रयोग किया है।

अतः हमें लोक-भाषा का प्रयोग इस अनुपात एवं विवेक के साथ करना चाहिए जिससे उसका दूसरी भाषा में अनुवाद होने में कठिनाई न आये।

शक्ति और सीमाएं—आंचलिक उपन्यासों की शक्ति और सीमाओं के सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता मानवीय संवेदना को

उभारती है। स्वाभाविक चित्रण जितना आंचलिक उपन्यासों में बन पड़ता है उतना अन्य किसी प्रकार के उपन्यास में नहीं। इनमें हमें अंचल विशेष की रीति-रिवाज, संस्कृति, धार्मिक विश्वास, भौगोलिक परिचय का एक ही जगह पर यथार्थ चित्रण मिलता है। उसमें आर्थिक एवं राजनीतिक चेतना भी मुखर हो उठी है। यह भावात्मक एकता (Emotional Integration) का एक सर्वोत्तम साधन है। सभी प्रकार के अंचलों में जब इसी प्रकार के उपन्यास लिखे जाने लगेंगे तब भारतीय संस्कृति का यथार्थ चित्र हमारे समक्ष आ सकेगा। कुछ लोगों का कहना है कि आंचलिक उपन्यासों के पाठक बहुत ही सीमित होते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि विश्व के अन्य उपन्यासकार जैसे हार्डी, मार्क ट्वेन एवं रेणु के उपन्यास वैसेक्स नाविल, लाइफ आन मिसीसिपी एवं मैला आंचल सभी प्रकार के पाठकों को ग्राह्य हैं। अतः हम कह सकते हैं कि निकट भविष्य में आंचलिक उपन्यास अपने पाठकों की अधिक संख्या बढ़ायेंगे।

आंचलिक उपन्यास अपनी कुछ सीमाएं भी रखता है, जिनका सम्बन्ध उसकी शैली से अधिक है। उपन्यासकार चाहे जिस शैली का प्रयोग करे उसे जीवन में संवेदना अवश्य देनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो सफल कहलाने का अधिकारी नहीं। निराला से लेकर रेणु तक आंचलिक उपन्यास लेखन में विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया गया है। विवाद रेणु जी की रिपोर्ताज शैली को लेकर उठता है। इस शैली में रचना एक रस हो उठती है। परन्तु यह भी बता देना उचित होगा कि उपन्यास केवल रिपोर्ताज का संकलन मात्र होकर कुछ और भी है। यह कुछ और ही उसे श्रेष्ठ उपन्यास बना देता है।

आंचलिक उपन्यासकार की दृष्टि अधिकतर एक सीमित परिवेश में ही अपने पात्रों के चरित्र विकास में लगी रहती है, इसलिए वे पात्र सार्वदेशिक नहीं हो पाते। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उस पात्र का सर्वाङ्गीण चित्रण उस सीमित दायरे में नहीं हो पाता। साथ ही यह सीमित परिवेश किसी तात्विक चिन्तन की गुत्थी भी नहीं सुलझा सकता। लेकिन अधिकतर ऐसा नहीं रहता क्योंकि यह तो उपन्यासकार पर स्वयं आश्रित है कि वह अपने विचारों को किस प्रकार रख पाता है। सार्त्रे और कामू अपनी गम्भीर विचारधारा को सीमित पटल पर ही तो व्यक्त कर सके हैं।

आंचलिक उपन्यासकारों के दृष्टिकोण भी अस्वस्थ से जान पड़ते हैं क्योंकि उनकी मन्शा जितनी अवैध सम्बन्धों के चित्रण में रम सकी है उतनी अन्यत्र नहीं। इससे उपन्यास में अश्लीलता का होना स्वाभाविक है। इसका कारण फ्रायड का अन्धाधुन्ध अनुकरण है। यथार्थवादिता का बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त किन्हीं-किन्हीं उपन्यासकारों में अति आदर्शवादिता तथा अत्यधिक भावुकता भी उभर उठी है। 'कब तक पुकारूं' का तिलस्मी अथवा रहस्यात्मक वातावरण आंचलिकता पर आघात करता है, जो त्याज्य है।

डॉ० एस० पी० खत्री—"आलोचना का प्रधान लक्षण साहित्यिक कृति के रूप-रंग, आकार-प्रकार तथा उसकी वास्तविक आत्मा का प्रदर्शन है।"

रघुनाथ प्रसाद साधक—"आलोचना उस शास्त्रीय विधि को कहते हैं जो निष्पक्ष भावेन किसी वस्तु, पदार्थ व रचना मात्र के कला कौशल, गुण दोष एवं उत्तमानुत्तम सिद्ध करते हुए मानव समाज के उपयोगार्थ कला की सार्थकता प्रस्तुत करे।"

एनसाईक्लोपीड़िया व्रिटेनिका का मत—"समालोचना का अर्थ गुण-दोषों का परख करना है चाहे वह परख साहित्य के क्षेत्र में की गयी हो या ललित-कला के क्षेत्र में। इसका स्वरूप निर्णय में निहित होता है।"

कार्लाइल—"आलोचना ग्रन्थ के प्रति उद्‌भूत आलोचक की मानसिक प्रतिक्रिया का परिणाम है।"

कालरिज—"समीक्षा का उद्देश्य साहित्य निर्माण के नियमों को निश्चित करना है, निर्णय देना नहीं।"

रिचर्डस समालोचना में निर्णय को, मैथ्य आरनोल्ड तटस्थता को, कार्लाइल प्रभाव को, ड्राइडन मूल्यांकन को अधिक महत्त्व देता है तथा एक्रिसन कृति के सौन्दर्य का उद्‌घाटन पर अधिक वल देता है।

टी० एस० इलियट भी किसी वस्तु के मूल्यों के निर्णय को आलोचना मानते हैं।

आलोचना का धर्म या कर्त्तव्य—आलोचना के धर्म में और आलोचक के धर्म में कोई अन्तर नहीं होता है क्योंकि आलोचना आलोचक की ही एक मानसिक प्रक्रिया है। इस सम्वन्ध में निम्नलिखित धर्म आलोचना के लिए अनिवार्य माने गये हैं—

१. वोइसाल के मतानुसार—"आलोचना के तीन प्रमुख कर्त्तव्य हैं—पहला है अर्थ का स्पष्टीकरण, दूसरा वर्गीकरण और तीसरा निर्णय प्रदान। इसका प्रमुख उद्देश्य जनता लेखकों की अभिरुचि का संशोधन तथा कला और साहित्य का श्रेष्ठ निर्देशन करना है।"

२. ब्रुयेन्नर के मतानुसार—"आलोचना साधारण वर्ग की मन्त्राणी है जो उनकी अभिरुचि तथा उनके मत लेखा रखती है।"

३. एण्डमण्ड जांस के शब्दों में—"आलोचना का उद्देश्य न तो प्रशंसा करना है और न दोषारोपण, आलोचक में सुबुद्धि, सहानुभूति का होना आवश्यक है।"

४. मोल्टन आलोचना का धर्म साहित्य के विकास का रहस्योद्‌घाटन करना मानते हैं। उनके अनुसार आलोचना उन सिद्धान्तों का निर्माण करती है जो साहित्य निर्माण के मूल आधार होते हैं।

५. रिचर्डस आलोचक को निर्णायक मानकर आलोचना का प्रमुख धर्म निर्णय देना वताते हैं।

६. ड्राइडन आलोचना का प्रमुख धर्म मूल्यांकन करना मानते हैं।

७. वाल्टर पेटर ने आलोचक के तीन कर्त्तव्य बताये हैं—(१) कलाकार के सहज गुणों का अनुभव (२) उनका विवेचन और (३) उनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति।

८. कालरिज समालोचना का आदर्श काव्य के सौन्दर्यपूर्ण अंगों पर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना मानते हैं।

९. सेन्टसबरी के मतानुसार आलोचना का धर्म साहित्य की परीक्षा करना और उसके सरस तत्वों की ओर संकेत करना है।

१०. साइमण्डस के अनुसार—"श्रेष्ठ आलोचक वही होगा जो साहित्य का निर्णय कर्त्ता, प्रकाश कर्त्ता तथा वैज्ञानिक विश्लेषक तीनों ही हो।"

११. जे० ई० स्पिगर्न आलोचना का धर्म निम्नलिखित तीन प्रश्नों का उत्तर देना मानते हैं—

१. कलाकार ने क्या अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है ?
२. उसे अभिव्यक्त करने में वह कितना सफल हुआ है ?
३. क्या अभिव्यक्त तथ्य अभिव्यक्ति के योग्य था ?

१२. ए० पोप ने समालोचक के लिए निम्नलिखित नियमों की अनिवार्यता बताई है—

१. प्रकृति तथा जीवन के नियमों का अनुसरण।
२. गर्वहीनता।
३. कलाकार के ध्येय तथा अनुभूतियों का सम्यक् अध्ययन।
४. सम्पूर्ण साहित्य की अन्तरात्मा में प्रवेश करना।
५. कलाकार के उद्देश्य को महत्व देना।
६. केवल भाषा के महत्त्व तक ही सीमित न रहना।
७. पृथक-पृथक विषयों के लिए भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग।
८. केवल छन्द तुक को ही महत्त्व न देना।
९. शब्दों को भावों का प्रतिरूप मानना।
१०. अतिशयोक्ति या किसी वस्तु के बाहुल्य का अन्वेषण करना।
११. प्राचीन कलाकारों को ही महत्त्व देना तथा आधुनिकों को महत्व न देना ठीक नहीं।
१२. नियमानुकूल साहित्य को ही श्रेष्ठ न मानना।
१३. स्वतन्त्र रूप से विवेचन करना।
१४. व्यक्तित्व से अधिक कृति को महत्त्व देना।
१५. केवल नवीनता को ही महत्त्व न देना।
१६. समान भाव से आलोचना न करना।
१७. सम्प्रदायों से पृथक् रहना।
१८. ईर्ष्या मुक्त रहना।

डॉ० एस० पी० खत्री—"आलोचना का प्रधान लक्षण साहित्यिक कृति के रूप-रंग, आकार-प्रकार तथा उसकी वास्तविक आत्मा का प्रदर्शन है।"

रघुनाथ प्रसाद साधक—"आलोचना उस शास्त्रीय विधि को कहते हैं जो निष्पक्ष भावेन किसी वस्तु, पदार्थ व रचना मात्र के कला कौशल, गुण दोष एवं उत्तमानुत्तम सिद्ध करते हुए मानव समाज के उपयोगार्थ कला की सार्थकता प्रस्तुत करे।"

एनसाईक्लोपीड़िया ब्रिटेनिका का मत—"समालोचना का अर्थ गुण-दोषों का परख करना है चाहे वह परख साहित्य के क्षेत्र में की गयी हो या ललित-कला के क्षेत्र में। इसका स्वरूप निर्णय में निहित होता है।"

कार्लाइल—"आलोचना ग्रन्थ के प्रति उद्भूत आलोचक की मानसिक प्रतिक्रिया का परिणाम है।"

कालरिज—"समीक्षा का उद्देश्य साहित्य निर्माण के नियमों को निश्चित करना है, निर्णय देना नहीं।"

रिचर्डस समालोचना में निर्णय को, मैथ्य आरनोल्ड तटस्थता को, कार्लाइल प्रभाव को, ड्राइडन मूल्यांकन को अधिक महत्त्व देता है तथा एडिसन कृति के सौन्दर्य का उद्घाटन पर अधिक बल देता है।

टी० एस० इलियट भी किसी वस्तु के मूल्यों के निर्णय को आलोचना मानते हैं।

आलोचना का धर्म या कर्त्तव्य—आलोचना के धर्म में और आलोचक के धर्म में कोई अन्तर नहीं होता है क्योंकि आलोचना आलोचक की ही एक मानसिक प्रक्रिया है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित धर्म आलोचना के लिए अनिवार्य माने गये हैं—

१. वोइसाल के मतानुसार—"आलोचना के तीन प्रमुख कर्त्तव्य हैं—पहला है अर्थ का स्पष्टीकरण, दूसरा वर्गीकरण और तीसरा निर्णय प्रदान। इसका प्रमुख उद्देश्य जनता लेखकों की अभिरुचि का संशोधन तथा कला और साहित्य का श्रेष्ठ निर्देशन करना है।"

२. ब्रुयेन्नर के मतानुसार—"आलोचना साधारण वर्ग की मन्त्राणी है जो उनकी अभिरुचि तथा उनके मत लेखा रखती है।"

३. एण्डमण्ड जॉस के शब्दों में—"आलोचना का उद्देश्य न तो प्रशंसा करना है और न दोषारोपण, आलोचक में सुबुद्धि, सहानुभूति का होना आवश्यक है।"

४. मोल्टन आलोचना का धर्म साहित्य के विकास का रहस्योद्घाटन करना मानते हैं। उनके अनुसार आलोचना उन सिद्धान्तों का निर्माण करती है जो साहित्य निर्माण के मूल आधार होते हैं।

५. रिचर्डस आलोचक को निर्णायक मानकर आलोचना का प्रमुख धर्म निर्णय देना बताते हैं।

६. ड्राइडन आलोचना का प्रमुख धर्म मूल्यांकन करना मानते हैं।

७. वाल्टर पेटर ने आलोचक के तीन कर्त्तव्य बताये हैं—(१) कलाकार के सहज गुणों का अनुभव (२) उनका विवेचन और (३) उनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति।

८. कालरिज समालोचना का आदर्श काव्य के सौन्दर्यपूर्ण अंगों पर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना मानते हैं।

९. सेन्टसबरी के मतानुसार आलोचना का धर्म साहित्य की परीक्षा करना और उसके सरस तत्वों की ओर संकेत करना है।

१०. साइमण्डस के अनुसार—"श्रेष्ठ आलोचक वही होगा जो साहित्य का निर्णय कर्त्ता, प्रकाश कर्त्ता तथा वैज्ञानिक विश्लेपक तीनों ही हो।"

११. जे० ई० स्पिगर्न आलोचना का धर्म निम्नलिखित तीन प्रश्नों का उत्तर देना मानते हैं—

१. कलाकार ने क्या अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है ?
२. उसे अभिव्यक्त करने में वह कितना सफल हुआ है ?
३. क्या अभिव्यक्त तथ्य अभिव्यक्ति के योग्य था ?

१२. ए० पोप ने समालोचक के लिए निम्नलिखित नियमों की अनिवार्यता बताई है—

१. प्रकृति तथा जीवन के नियमों का अनुसरण।
२. गर्वहीनता।
३. कलाकार के ध्येय तथा अनुभूतियों का सम्यक् अध्ययन।
४. सम्पूर्ण साहित्य की अन्तरात्मा में प्रवेश करना।
५. कलाकार के उद्देश्य को महत्व देना।
६. केवल भाषा के महत्त्व तक ही सीमित न रहना।
७. पृथक-पृथक विषयों के लिए भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग।
८. केवल छन्द तुक को ही महत्त्व न देना।
९. शब्दों को भावों का प्रतिरूप मानना।
१०. अतिशयोक्ति या किसी वस्तु के बाहुल्य का अन्वेपण करना।
११. प्राचीन कलाकारों को ही महत्त्व देना तथा आधुनिकों को महत्त्व न देना ठीक नहीं।
१२. नियमानुकूल साहित्य को ही श्रेष्ठ न मानना।
१३. स्वतन्त्र रूप से विवेचन करना।
१४. व्यक्तित्व से अधिक कृति को महत्त्व देना।
१५. केवल नवीनता को ही महत्त्व न देना।
१६. समान भाव से आलोचना न करना।
१७. सम्प्रदायों से पृथक् रहना।
१८. ईर्ष्या मुक्त रहना।

१६. नियम, बुद्धि तथा ज्ञान के आधार पर व्यक्ति तथा सत्य की उपेक्षा न करना।

१३. आउडन के अनुसार समीक्षक का कर्त्तव्य अतीत की संस्कृति के ज्ञान का प्रसार करना, पाठक को मानव जीवन में व्याप्त एकता, उसके अपने अनुभव के साथ कृति की संगति तथा कलात्मक महत्त्वों का अन्य महत्त्वों से सम्बन्ध का परिचय देना है।

उपर्युक्त मतों के आधार पर यदि निष्कर्ष निकाला जाय तो समालोचना के निम्नलिखित धर्म और प्रमुख उद्देश्य सिद्ध किये जा सकते हैं—

१. धर्म—१. सुनिश्चितता २. स्वातन्त्र्य ३. ज्ञान ४. श्रेष्ठ विचार ५. निर्णय ६. मूल्यांकन ७. दिशा निर्देशन ८. सिद्धान्त निर्माण ९. स्पष्ट अभिव्यक्ति १०. अन्वेषण ११. परीक्षण।

२. उद्देश्य—१. विवेचन।
२. तुलना।
३. प्रेरणा दान।

आलोचना का वर्गीकरण

वर्गीकरण का आधार—(१) विषय के आधार पर, जैसे दार्शनिक आलोचना, अर्थशास्त्रीय आलोचना आदि।

(२) देश के आधार पर, जैसे अमरीकन आलोचना, रूसी आलोचना, फ्रांसीसी आलोचना आदि।

(३) किन्तु यह वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं है। आचार्यों ने आलोचना का वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रणाली के आधार पर किया है। इस आधार पर (प्रणाली के आधार पर) आलोचना के अनेक भेद किये गये हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं—अनुभवात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, सैद्धान्तिक।

(४) विद्वानों के मतों के आधार पर—१. डा० श्यामसुन्दरदास ने आलोचना के चार भेद माने हैं—

(क) सैद्धान्तिक आलोचना

(ख) व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना के दो भेद माने गये हैं—

(क) शास्त्रीय सिद्धान्तों पर की गई आलोचना ।

(ख) वैज्ञानिक प्रणाली पर की गई आलोचना ।

शास्त्रीय समीक्षा के चार भेद हैं—

१. निर्णयात्मक समीक्षा
२. तुलनात्मक समीक्षा
३. आदर्शात्मक समीक्षा
४. चारित्रिक समीक्षा

और वैज्ञानिक समीक्षा के भी ये चार भेद हैं—

१. विवेचनात्मक
२. आध्यात्मिक
३. प्रभाव-व्यंजक
४. ऐतिहासिक

विवेचनात्मक समीक्षा के दो प्रकार बताये जाते हैं—

१. व्याख्यात्मक
२. गवेषणात्मक

(५) सम्प्रदायों के आधार पर, जैसे रसवादी, अलंकारवादी, रीतिवादी आदि ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्गीकरण के लिए वर्गीकरण करना उचित नहीं होता है । शाखा में से शाखा, प्रशाखाओं को निकालते जाने में जड़ हाथ से छूट जाती है । अतः अध्ययन के लिए हम प्रणालियों के आधार पर आलोचना के निम्नलिखित प्रकार मान सकते हैं —

१. आत्मप्रधान
२. सैद्धान्तिक
३. व्याख्यात्मक
४. निर्णयात्मक
५. तुलनात्मक
६. मनोवैज्ञानिक

१. आत्मप्रधान आलोचना—इसको कुछ लोग प्रभाववादी भी कहते हैं । यह आलोचना व्यक्तिवादी और भावपूर्ण होती है । इस पद्धति का आलोचक किसी बनी बनाई आलोचना पद्धति को नहीं अपनाता वरन् वह तो अपनी ही रुचि की अभिव्यक्ति करता है । स्पिन्गार ने लिखा है—"To have sensation in the presence of the work of art is to express them, that is the function of the criticism for an impressionist critic. अर्थात् किसी कृति को देखकर जिन भावों और मनोवेगों की अनुभूति होती है उन्हें उसी तरह से प्रगट कर देना प्रभाववादी समीक्षक का कार्य होता है ।"

श्री पीटर ने प्रभाववादी समीक्षा में तीन प्रश्नों के उत्तरों की उपस्थिति स्वीकार करते हुए लिखा है—"What is the song or picture disengaing personally presented in life or in book to me. What effect does it produce to me. Does it give me pleasure, if so, what short of degree of pleasure........अर्थात् प्रभाववादी समीक्षा में इन प्रश्नों का उत्तर निहित होता है—

१. निर्माता ने जीवन में कौनसे संगीत या चित्र प्रस्तुत किये हैं ?

२. उनका मेरे ऊपर क्या प्रभाव पड़ा है ?

३. प्रभाव आनन्दमय है या नहीं ?

४. यदि आनन्दात्मक है तो किस कोटि का आनन्द है ?"

स्पष्ट है कि इस आलोचना में आलोचक की रुचि विशेष का प्राधान्य रहता है। इसलिए कुछ विद्वान इसे उपादेय न मानकर घातक प्रणाली मानते हैं, क्योंकि कृति विशेष का सही और एक रूप मूल्यांकन इससे नहीं किया जा सकता। लेकिन हमारे मत से इस धारणा में सत्य होते हुए भी औचित्य दिखाई नहीं देता। किसी कृति का एक रूप मूल्यांकन उसकी प्रतिष्ठा के लिए अधिक घातक होता है। प्रभाववादी समीक्षा उसके प्रत्येक अंग को उभार कर सामने रख देती है।

२. सैद्धान्तिक—डा० त्रिगुणायत के मतानुसार—"बहुत सी एक-सी कृतियों का अध्ययन कर जब आलोचक आलोचना के मापदण्ड के रूप में किन्हीं सामान्य नियमों की निर्धारणा करता है तो उस समीक्षा को सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं।" इस प्रकार की आलोचना बंधे बंधाये नियमों के आधार पर की जाती है। कृति का मूल्यांकन निश्चित नियमों को कसौटी मानकर किया जाता है। अर्थात् कृति को एक निश्चित सांचे में ढाल कर उसकी परीक्षा की जाती है। 'साहित्य विवेचन' के लेखकों के मतानुसार—"सैद्धान्तिक आलोचना में आलोचना शास्त्र के सिद्धान्तों को निश्चित किया जाता है और काव्य या साहित्य, कविता, नाटक, उपन्यास इत्यादि के रूप का विश्लेषण करके उनके लक्षण निर्धारित किये जाते हैं। साहित्यिक आलोचना के किन सिद्धान्तों और नियमों का अनुसरण किया जाना चाहिये, कवि या कलाकार की कृति की परीक्षा करते हुए आलोचक को किन सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण करना चाहिये, नाटक, उपन्यास अथवा कथा की विवेचना में कौन-कौन से तत्त्व अपेक्षित हैं, इत्यादि प्रश्नों पर सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत ही विचार किया जाता है।"

जगत में इसके जहां भी सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं वहां समीक्षक के व्यक्तित्व की छाप अवश्य देखी जा सकती है।

इस पद्धति का दूसरा पक्ष और है वह यह कि आलोचक शास्त्र के आधार पर ही कृति की समीक्षा नहीं करता वरन् 'वह उन सिद्धान्तों और नियमों को भी खोज करता है जिन पर कृति का निर्माण हुआ है।' उस पद्धति का आलोचक कृति के गुण-दोषों पर अपनी राय न देकर नियमों की दुहाई देकर उनकी ओर संकेत भर करता चलता है।

३. **व्याख्यात्मक**—हडसन ने लिखा है कि "The modern critic is for the most part more anxious to understand and interpret them to distribute blame or praise अर्थात् आधुनिक समीक्षक कृति विशेष को समझने के लिए उसकी व्याख्या करने के लिए जितना उत्सुक रहता है उतना उसकी निन्दा या प्रशंसा करने के लिए नहीं।" क्षेमेन्द्र तथा योगेन्द्र मल्लिक के मतानुसार "व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक सब प्रकार के सिद्धान्तों या आदर्शों का त्याग करके कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर अत्यन्त सहृदयतापूर्वक उसके आदर्शों, उद्देश्यों तथा विशेषताओं की व्याख्या तथा विवेचना करता है।" मौल्टन ने इस प्रणाली की तीन विशेषताएं मानी हैं—

१. यह आलोचना आलोच्य वस्तुओं में उत्तम, मध्यम आदि भेद स्वीकार नहीं करती है।

२. यह श्रेणी भेद न मानते हुए भी वर्गभेद मानती है और निश्चित नियमों के पालन में विश्वास रखती हुई भी निर्णयात्मक आलोचना से भिन्न होती है, क्योंकि यह निर्णय नहीं देती।

३. यह नियमों के परिवर्तन को स्वीकार करती है।

इसकी अन्य विशेषताएं ये हैं—

१. यह अन्वेषण प्रधान होता है, निर्णय प्रधान नहीं।
२. यह वैज्ञानिक अधिक होता है साहित्यिक कम।
३. यह प्रत्येक कृति के लिए एक ही नियम न मानकर उसी की प्रकृति के अनुकूल नियमों के आधार पर उसकी आलोचना करता है।
४. इसमें कवि ने क्या अभिव्यक्त किया है, उसी पर ध्यान केन्द्रित रहता है।
५. इसकी तुलना तो की जा सकती है लेकिन निर्णय नहीं दिया जा सकता।

४. **निर्णयात्मक आलोचना**—डा० त्रिगुणायत के मतानुसार—"निर्णयात्मक आलोचक कुछ निश्चित नैतिक और साहित्यिक सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर अपना निर्णय दिया करता है, व्याख्यात्मक समीक्षाकार की तरह वह सैद्धान्तिक आलोचना के नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता बल्कि वह सैद्धान्तिक आलोचना का पालन भी करता है और सृजन भी।" हडसन ने व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षा के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"To express what is not what conceivably ought to be अर्थात् निर्णयात्मक आलोचना में व्याख्यात्मक आलोचना की भांति कृति के स्वरूप का विश्लेषण और प्रदर्शन नहीं किया जाता है बल्कि उसके आदर्श स्वरूप की ओर संकेत किया जाता है।" पीटर के मतानुसार निर्णयात्मक आलोचक को निर्णय देते समय कृति के इतिहास और युग को ध्यान में रखना चाहिये—"Every intellectual product must be judged from the point of view of its age and the people in which it was produced".

लेकिन केलेट जैसे विद्वान् इस पद्धति को दोषपूर्ण मानते हैं—"No thing is less satisfactory than an arid mechanism and merely measuring criticism अर्थात् नाम जोख करने वाली नीरस यंत्रवत् शुष्क, हृदयहीन निर्णयात्मक आलोचना सन्तोषप्रद नहीं होती है।" यह मत उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि विद्वान् ने निर्णयात्मक समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष को ही ध्यान में रखा है उसके व्यावहारिक पक्ष को उसने भुला दिया है। व्यवहार में यदि देखा जाय तो प्रत्येक बड़ा आलोचक निर्णय के आधार पर ही साहित्य में अपना स्थान बना सका है। जो समीक्षक निर्णय नहीं दे सकता वह साहित्य को दिशा-निर्देश कैसे कर सकता है? अतः साहित्य के नियमन के लिए निष्पक्ष निर्णयात्मक आलोचना बहुत ही आवश्यक है। हिन्दी आलोचना में महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल आदि विद्वानों ने निर्णय न देकर यदि आलोचना की होती तो साहित्य का नियमन उसके स्वरूप की सुगढ़ता असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गयी होती।

१. एक ही कवि की एकाधिक कृतियों की तुलना ।
२. कृतियों के समान विषयों की तुलना ।
३. दो कवियों की तुलना ।
४. एक भाषा के कवि की दूसरी भाषा के कवियों के साथ तुलना ।
५. एक असमान कवियों की केवल महत्त्व की दृष्टि से तुलना ।

इस पद्धति में एक दोष है और वह यह कि यह कटु विवाद को जन्म देती है। दूसरा यह कि यह कभी-कभी पक्षपात पूर्ण होने से सही मूल्यांकन करने की क्षमता खो बैठती है। अतः इस पद्धति में निर्णय से दूर रहना चाहिये, तटस्थ रहना चाहिये और नीर-क्षीर विवेक से काम लेते हुए तथ्य-मात्र को ही व्यक्त करना चाहिये। 'साहित्य विवेचन' के लेखक के मतानुसार "तुलनात्मक दृष्टि आलोचना में तभी श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है जब कि वह पूर्ण वैज्ञानिक हो और आलोचक अन्यसक्त भाव से दोनों पक्षों की समान सहानुभूति से समीक्षा करे।"

६. **मनोवैज्ञानिक**—श्री क्षेमचन्द्र सुमन तथा योगेन्द्रकुमार मल्लिक के मतानुसार "कवि या कलाकार की रचनाओं में इस प्रकार की आलोचना में वैयक्तिक स्वभाव तथा सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक और पारिवारिक परिस्थितियों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं के प्रकाश में देखा जाता है।" ऐतिहासिक आलोचना से इसका अन्तर बताते हुए गुलाबराय लिखते हैं कि—"इस प्रकार की आलोचना में कवि के वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभाव से कृति का आधार देखा जाता है। ऐतिहासिक में देश की परिस्थिति के प्रभाव को महत्व दिया जाता है और मनोवैज्ञानिक में व्यक्ति की आन्तरिक और उसके निजी जीवन से सम्बन्ध रखने वाली वाह्य परिस्थितियों को।" दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस प्रणाली में कृति और कृतिकार को मिलाकर विवेचना की जाती है। इसमें कृतिकार के व्यक्तित्व को अधिक महत्त्व दिया जाता है। संक्षेप में इस प्रणाली का गठन इन आधारों पर होता है—

१. लेखक क्या कहना चाहता है ?
२. क्यों कहना चाहता है ?
३. उसको किस तत्त्व ने अधिक प्रभावित किया है ?
४. प्रभाव की प्रतिक्रिया की दिशा क्या है ?
५. लेखक का मानसिक स्तर क्या है और उसका गठन कैसा है ?

स्पष्ट है कि इस प्रणाली में कृति के साथ-साथ कृतिकार की भी आलोचना की जाती है। आधुनिक युग में जहां व्यक्तिवादिता का बोल-बाला है, यह पद्धति बहुत महत्त्व प्राप्त करती जारही है। साहित्य ने भी मनोविज्ञान को ग्रहण कर एक नया रूप धारण कर लिया है। ऐसे मनोवैज्ञानिक साहित्य का मूल्यांकन करने में यही पद्धति सबसे अधिक सक्षम सिद्ध होती है। इस पद्धति ने साहित्य को जो सबसे बड़ी देन दी है वह यह कि साहित्य के माध्यम से लेखक के जीवन और व्यक्तित्व का परिचय। अज्ञात

लेखकों के जीवन को आज इसी पद्धति का अनुसरण कर अनेक तथ्यों को प्रकाश में लाया जा रहा है। लेकिन इस पद्धति का प्रमुख दोष यह है कि इसने साहित्य के प्रमुख उद्देश्य आनन्द की अवहेलना करदी है।

७. अन्य आलोचना पद्धतियां—इन पद्धतियों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रणालियां भी हैं। इनके कुछ रूप संस्कृत समीक्षा शास्त्र में मिलते हैं और कुछ हिन्दी-समीक्षा शास्त्र में। संक्षेप में ये निम्नलिखित हैं—

१. टीका पद्धति—इस पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएं हैं —

(क) प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ बताना।

(ख) पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना।

(ग) व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं का उद्घाटन करना।

(घ) अन्तर्कथाओं तथा अवान्तर प्रसंगों का विवेचन करना।

२. भाष्य पद्धति—यह दर्शन से अधिक सम्बन्धित है। इसमें सूत्रों की व्याख्या की जाती है।

३. शास्त्रार्थ पद्धति—इसमें शंकाओं का समाधान अपने मत का सप्रमाण प्रतिष्ठान किया जाता है। इसी के अन्तर्गत खण्डन-मण्डन पद्धति भी समाविष्ट हो जाती है।

४. आचार्य पद्धति—इसमें नये सिद्धान्तों का निर्माण और पुराने सिद्धान्तों का नवीनीकरण किया जाता है।

५. वैज्ञानिक पद्धति—यह अनुसन्धानात्मक प्रबन्धों में प्रयुक्त होती है। इसमें अन्वेषण और मूल्यांकन पर अधिक बल दिया जाता है।

६. ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली—सरोजिनी मिश्रा के मतानुसार "इस प्रणाली का सर्वप्रथम नियम यह है कि आलोचक को साहित्य-निर्माण काल तत्कालीन वातावरण को ध्यान में रखते हुए किसी रचना की विवेचना" करनी होती है। इतिहास-परक ग्रन्थ इसी शैली के होते हैं।

१०. अभिव्यंजनावादी—यह क्रोचे की आलोचना प्रणाली है। क्रोचे केवल अभिव्यंजना को महत्त्व देता है अभिव्यंग्य को नहीं। उसकी दृष्टि से आलोचक को यह देखना चाहिए कि अभिव्यंग्य को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया जा सका है या नहीं। अनुभूतियों की आलोचना कौन कर सकता है? कैसे कर सकता है? आलोचना तो उनकी अभिव्यक्ति की ही की जा सकती है।

११. मार्क्सवादी आलोचना—इसका प्रमुख आधार-वर्ग संघर्ष और अर्थवैषम्य है। यह पद्धति साहित्य का मूल्यांकन साहित्य की तुला पर नहीं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कसौटी पर कस कर करती है। इस प्रणाली के आलोचक की दृष्टि में सम्पूर्ण सृष्टि और उसका इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है और उसका मूलाधार अर्थ-वैषम्य है। इस प्रकार युग परिस्थितियों के परिपार्श्व में साहित्य का मूल्यांकन करना ही इस पद्धति का प्रमुख लक्ष्य है।

संक्षेप में हिन्दी-आलोचना की ये ही प्रमुख प्रकार हैं। इन पद्धतियों में से हिन्दी में व्याख्यात्मक, सैद्धान्तिक, निर्णयात्मक और मनोवैज्ञानिक पद्धति अधिक प्रचलित हैं। लेकिन आजकल अनुसंधानात्मक पद्धति अधिक जोर पकड़ती जा रही है। धीरे-धीरे उसका स्वरूप इतना विकसित होता जा रहा है कि समीक्षा की सभी प्रणालियां उसी की सीमा में बद्ध होती जा रही हैं। आलोचना के क्षेत्र में आजकल इसी पद्धति के ग्रन्थों की संख्या अधिक दिखायी देती है। नयी पीढ़ी की अधिकांश प्रतिभाएं इसी पद्धति का अनुसरण कर समालोचना के क्षेत्र में पदार्पण कर रही हैं और अन्य रूप धीरे-धीरे इसी में विलीन होते जा रहे हैं।

हिन्दी समालोचना का विकास—हिन्दी समालोचना के विकास को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. रीतिकालीन समीक्षा
२. वर्तमान समीक्षा

१. रीतिकालीन समीक्षा प्रणालियां—रीतिकाल के समीक्षकों ने संस्कृत शास्त्रों से प्रेरणा लेकर समीक्षा ग्रन्थों की सर्जना की थी। इस काल की रचनाएं प्रमुख रूप से चार प्रकार की थीं—

१. व्याख्यात्मक—इस प्रकार की आलोचना में लेखकों ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएं लिखी हैं, भाषण लिखे हैं। आलोचक कृति के स्पष्ट करने के लिए अपनी ओर से भी बहुत कुछ जोड़ता चला है।

२. सैद्धान्तिक—इस पद्धति के चार प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण हुआ—१. अलंकार ग्रन्थ २. रसवादी ग्रन्थ ३. काव्य शास्त्र के ग्रन्थ ४. शृंगारिक ग्रन्थ। इनमें नायक-नायिका भेदों का निरुपण किया गया है। उदाहरण के लिए करनेस का कर्णाभरण, केशव की रसिक प्रिया, भिखारीदास का काव्य निर्णय और देव का जाति-विलास क्रमशः प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

३. निर्णय देने की प्रवृत्ति।
४. शब्द शक्ति मूलक और अलंकार मूलक चमत्कार का रसवाद से सामंजस्य।
५. बात को अधिक से अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा।
६. बुद्धि और हृदय का समन्वय।

शुक्लजी की आलोचना पद्धति पर फिर भी नन्ददुलारे वाजपेयी ने अवैज्ञानिकता का दोष लगाया है। इसका एक मात्र कारण यही प्रतीत होता है कि शुक्लजी ने छायावाद के प्रति कुछ उपेक्षा दिखायी थी और वाजपेयीजी उसके समर्थक हैं। लेकिन हम शुक्ल पद्धति को वैज्ञानिक न मानकर भी उसे अवैज्ञानिक सिद्ध करने में वाजपेयी की अवैज्ञानिक और एकांगी दृष्टि के लिए क्या कहें, सिवाय डॉ० त्रिगुणायत के इन शब्दों के कि वाजपेयीजी ने शुक्लजी के साथ अन्याय किया है।

४. शुक्लोत्तर युग—शुक्ल युग में ऐसा कोई अन्य आलोचक नहीं हुआ जिसने शुक्लजी का अनुसरण न किया हो और उनमें भिन्न समालोचना के किसी उत्कृष्ट स्वरूप को जन्म देने में समर्थ हो सका हो। लेकिन धीरे-धीरे समय ने करवट बदली और नये युग का प्रारम्भ हुआ। इस युग में निम्नलिखित प्रकार की समीक्षाएं प्रमुख रूप से प्रचलित हैं—

१. **शुक्ल पद्धति**—इस पद्धति के अनुसरण-कर्त्ता शुक्लोत्तर युग में भी हैं। ये प्राचीनतावादी और आदर्शवादी हैं। इस पद्धति की समालोचना में शुक्ल जैसी ही व्याख्यात्मकता, शास्त्रीयता, आदर्शप्रियता, समन्वय भावना, कवि-व्यक्तित्व का अध्ययन, तुलनात्मक एवं निर्णयात्मक दृष्टि पायी जाती है। इस पद्धति के प्रमुख आलोचक डा० श्यामसुन्दरदास, रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', डा० रमाशंकर शुक्ल, डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, गुलाबराय, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, गिरिजादत्त शुक्ल आदि हैं।

प्रयत्न करने लगा है।" इस पद्धति के सम्बन्ध में कार्लाइल ने भी लिखा है कि "आलोचक भावाभिभूत और अभावाभिभूत के मध्य का अर्थकर्त्ता होता है।....वह उनके वास्तविक अर्थ के कुछ रूपों की व्यंजना करता है किन्तु उसके गूढार्थ को नहीं समझ पाता है।" हिन्दी में इस पद्धति के आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विश्वम्भर मानव आदि उल्लेख्य हैं।

३. **प्रगतिवादी**—इस पद्धति का विवेचन समीक्षा के भेदों के विवेचन के समय ऊपर किया जा चुका है। इस पद्धति के प्रमुख आलोचक ये हैं—डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द गुप्त आदि। यह पद्धति उपयोगितावादी पर आधारित है और सौष्ठववादी से एकदम विपरीत है। अमृतराय ने 'नयी समीक्षा' में इस पद्धति के सम्बन्ध में लिखा है—"मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील पक्ष के सम्बन्ध का उद्घाटन करती है।" डा० भगवतदत्त मिश्र के मतानुसार—"मार्क्सवादी जीवन शक्तियों के आधार पर कलाकृति की श्रेष्ठता स्वीकार करता है। उसके मूल्यांकन का आधार-बौद्धिक है।" इस पद्धति पर प्रकाश डालते हुए नन्ददुलारे वाजपेयी ने बताया है कि इस पद्धति का आलोचक यह देखता है कि कौनसा कवि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है और कौनसा कवि विपन्न? "जो कवि निम्न वर्ग का रहा हो वही प्रगतिशील और सम्युन्नत माना जायेगा।" यह पद्धति अभिव्यक्ति सौष्ठव को महत्त्व नहीं देती है। केवल वर्ण्य विषय के आधार पर ही साहित्य को कसना इसका एक मात्र धर्म है, जो मार्क्सवाद के सिद्धान्तों से परिचालित रहता है।

४. **अनुसंधानात्मक**—इस आलोचना के दो रूप दिखायी देते हैं—पहला अनुसन्धानात्मक निबन्ध के रूप में और दूसरा प्रबन्धों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। निबन्धों की संख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है। आज जो कुछ दिखायी दे भी रहे हैं तो उनमें से बहुत से प्रबन्धों के ही अंश मात्र हैं। अतः यहां अनुसंधानात्मक प्रबन्धों के स्वरूप पर ही प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है।

इन प्रबन्धों के लिखने की सामान्य पद्धति यह है कि सबसे पहले समर्पण, उसके बाद किसी बड़े लेखक के विचार, फिर निवेदन और इसके पश्चात् विषय सूची। विषय सूची के आधार पर अध्यायों से सम्बन्धित विषय का सप्रमाण गवेषणात्मक, तुलनात्मक विवेचन और फिर निष्कर्ष रूप में निर्णय या मूल्यांकन तथा इस प्रकार के विवेचन के पूर्ण होने पर उपसंहार और ग्रन्थ सूची। अनुसंधानात्मक समालोचना में सबसे अधिक ध्यान गवेषणा, तुलना और मूल्यांकन पर दिया जाता है। विषय प्रतिपादन की भी अनेक शैलियां दिखायी देती हैं किन्तु उनमें से प्रमुख हैं—विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक और गवेषणात्मक।

हिन्दी में इस प्रकार की समालोचना के अनेक ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं। यदि गणना की जाये तो लगभग ४००-४५० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके होंगे और लगभग १५०-२०० व्यक्ति लेखक कार्य में व्यस्त होंगे।

उपसंहार—संक्षेप में हम गुलाबराय जी के शब्दों में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि "आजकल अधिकांश अच्छी आलोचनाएं व्याख्यात्मक, शास्त्रीय और मूल्य सम्बन्धी समन्वयात्मक होती हैं, जिनमें भावपक्ष, कलापक्ष एवं लोक पक्ष को समान महत्व दिया जाता है।" आजकल की आलोचना में विश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

२४
हिन्दी मुक्तक काव्य

१. परिभाषा ।
२. मुक्तक और प्रबन्ध ।
३. मुक्तक के भेद-प्रभेद ।
४. मुक्तक की उत्पत्ति और विकास ।
५. हिन्दी मुक्तक काव्य ।
६. निष्कर्ष ।

मुक्तक की परिभाषा—मुक्तक शब्द की उत्पत्ति मुक्त शब्द में कत् प्रत्यय जुड़ने से हुई है। मुक्त शब्द में क प्रत्यय और मुंच धातु है और मुंच धातु का अर्थ—खोलना, त्यागना और मुक्त करना होता है। मुक्तक का अर्थ सम्पूर्ण या अपने आप में पूर्ण होता है। मुक्त शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में कई अर्थों में पाया जाता है। कोषकारों ने मुक्त का प्रयोग लगभग ६ अर्थों में किया है। आज मुक्तक शब्द ने एक रूढ़ि धारण कर ली है जिससे उसका अर्थ स्वतन्त्र, निरपेक्ष और फुटकर कविता के अर्थ में लिया जाता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य के लिए मुक्तक शब्द का प्रयोग किया है। संस्कृत काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में इसका उल्लेख सर्वप्रथम अग्निपुराण में पाया जाता है। उसमें लिखा है कि—"मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्", आगे चल कर ध्वान्यालोक में अभिनव गुप्त ने मुक्तक की विशद व्याख्या करते हुए लिखा है कि ऐसे पद्य को जो अगले पिछले पद्यों से किसी प्रकार भी सम्बन्धित न हो तथा जो अपने विषय को प्रकट करने में अकेला समर्थ हो, मुक्तक कहते हैं। अभिनव गुप्त ने प्रबन्ध और मुक्तक में रस सम्बन्धी साम्य बताया है। वे कहते हैं "प्रबन्ध मुक्त के वापि रसादीन बन्धमिच्छता", आनन्दवर्धन में मुक्तक में रसात्मकता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "तत्र मुक्तकेषु रसबन्धभिनिविशिनः कवैः तदाश्रपमौचित्यम् ।" अर्थात् मुक्तकों में भी रस की प्रतिष्ठा रहती है। इसके अनुसार उसमें भी कवि को औचित्य का ध्यान रखना पड़ता है।

आचार्य शुक्ल ने मुक्तक शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थाई भाव ग्रहण करता है। इसमें तो इसके ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनमें हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।

पर कारज देह को धारे फिरो, परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसो।
निधि नीर सुधा के समान करो, सब ही विधि सुन्दरता सरसो॥
घन आनन्द जीवन दायक हौं, कबौ मेरियै पीर हिये परसो।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आंगन मो अंसुवान को लै बरसो॥

मुक्तक और प्रबन्ध—बाबू गुलाबराय ने मुक्तक और प्रबन्ध में इस प्रकार भेद बतलाया है—"बंध की दृष्टि से हिन्दी साहित्य ही नहीं भारतीय समीक्षा पद्धति में भी श्रव्य काव्य के दो भेद किए गए हैं—एक प्रबन्ध और दूसरा मुक्तक। प्रबन्ध में पूर्वा-पर का तारतम्य होता है। मुक्तक में इस तारतम्य का अभाव रहता है। प्रबन्ध में छन्द एक दूसरे से कथानक की श्रृङ्खला में बंधे होते हैं। उनका क्रम उलटा पलटा नहीं जा सकता, वे एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। मुक्तक छन्द पारस्परिक बन्धन से मुक्त होते हैं, वे स्वतः पूर्ण होते हैं। वे क्रम से रखे जा सकते हैं किन्तु एक छन्द दूसरे छन्द से अपेक्षा नहीं करता। साहित्य दर्पणकार ने दो-दो और तीन-तीन छन्दों के भी मुक्तक माने हैं। अंग्रेजी स्फुट कविताओं के स्टेन्जा (St ınza) समूह और आजकल के गीत भी इसी प्रकार के संयुक्त मुक्तक गिने जावेंगे। प्रबन्ध काव्य में सम्पूर्ण काव्य के सामूहिक प्रभाव पर अधिक ध्यान रखा जाता है। मुक्तक में एक छन्द की अलग-अलग साज-सम्हाल की जाती है।"

उपर्युक्त कथन से यह तो स्पष्ट हो ही गया कि प्रबन्ध और मुक्तक में क्या अन्तर है। अब हमें मुक्तक के भेदों पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए—

मुक्तक के भेद-प्रभेद—संस्कृत आचार्यों ने मुक्तक के अनेक भेद माने हैं। दण्डी के अनुसार मुक्तक के मुख्य तीन भेद बताये गये हैं—मुक्तक कुलक, कोष और संघात। आनन्दवर्धन ने ६ नामों का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने मुक्तक का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, कोष, प्रघट्टक, विकीर्णक और संघात। उपर्युक्त भेद मुख्यतः श्लोक संख्या, रचनाकार और विषय के अनुसार ही किए गए हैं—१. **मुक्तक**—अपने आप में पूर्ण तथा अर्थ व्यंजक श्लोक। २. **युग्मक या संदानितक**—दो श्लोकों में समाप्त होने वाली रचना। ३. **विशेषक**—तीन श्लोकों में अपना अर्थ स्पष्ट करने वाली और समाप्त हो जाने वाली रचना। ४. **कलापक**—चार श्लोकों वाली रचना। ५. **कुलक**—पांच श्लोकों वाली रचना। परन्तु कुछ आचार्यों ने इस पर आपत्ति उठाई है और इसे पांच से अधिक श्लोकों की रचना बताया है। इनमें हेमचन्द्र प्रमुख हैं जिन्होंने १४ श्लोकों तक की रचना माना है। अग्निपुराण ने भी पांच से अधिक श्लोक माने हैं। ६. **कोष**—परस्पर असम्बन्ध श्लोकों का समूह। ७. **प्रघट्टक**—एक ही कवि द्वारा रचित मुक्तकों के समूह का नाम प्रघट्टक है। ८. **विकर्षण**—अनेक कवियों द्वारा रचित रचनाओं का संग्रह विकर्षण होता है। ९. **संघात या पर्याय बन्ध**—एक विषय पर एक ही कवि द्वारा रचित छन्द समूह को संघात कहते हैं।

प्रबन्ध कोष आदि में अनेक कवियों ने मुक्तकों का प्रयोग किया है। इन मुक्तकों का भावों की सरसता, शैली की स्वाभाविकता तथा अभिव्यक्ति की समृद्धि मुख्य गुण हैं।

हिन्दी में मुक्तक काव्य का विकास—जिस प्रकार प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में मुक्तक साहित्य को विषयानुसार तीन वर्गों में—(i) जैन एवं बौद्ध कवियों के वैराग्य प्रधान मुक्तक (ii) शृङ्गारी मुक्त जिनमें अमरूक गोवर्द्धनाचार्य के मुक्तक प्रमुख हैं (iii) भर्तृहरि आदि के नीति सम्बन्धी मुक्तक—विभाजित किया है उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी इनको कई वर्गों में बांट दिया है। कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि संत कवियों ने वैराग्य प्रधान मुक्तकों को जन्म दिया तो दूसरी ओर बिहारी, मतिराम, घनानन्द, देव, विद्यापति आदि ने शृङ्गारी परम्परा को जन्म दिया और तीसरी ओर गिरधर, वृन्द, रहीम आदि ने नीति विषयक मुक्तकों की परम्परा को बढ़ावा दिया। हिन्दी के मध्यकालीन मुक्तकों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—रीतिबद्ध और रीतिमुक्त मुक्तक। आधुनिक युग से पूर्व मुक्तक साहित्य को इन चार शीर्षकों के अन्तर्गत रख सकते हैं—

(१) भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक (२) रीतिबद्ध मुक्तक रचना (३) स्वच्छ प्रेम मूलक मुक्तक और (४) नीति-युक्त मुक्त काव्य। इसके अतिरिक्त एक पांचवा वर्ग भी पाया जाता है जिसे 'वीर रस मुक्तक' नाम से अभिहित किया जाता है।

भक्ति एवं वैराग्य प्रधान मुक्तक—इस परम्परा का तार अपभ्रंश में योगीन्दु, रामसिंह और जिनिदत्त, सूर आदि के धर्म वैराग्य और धर्म सम्बन्धी दोहों की रचना से चला आ रहा है। हिन्दी में इस वर्ग के मुक्तकों की परम्परा कबीर से प्रारम्भ हुई है। इन्होंने (कबीर) भी दोहों आदि से मिलते-जुलते शैली रूप को मुक्तक रचना के लिए अपनाया जिसे दोहा न कह कर 'साखी' नाम से पुकारा। कबीर अपनी अशिक्षितता के कारण अपनी रचनाओं में छन्दों एवं उनके नियमों का यथासम्भव पालन नहीं कर सके और वे मस्तस्वभावी अपने काव्य को किन्हीं कृत्रिम नियमों में आबद्ध करना नहीं चाहते थे इसीलिए उनकी साखियों में सहजता और स्वाभाविकता है। ऐसा माना जाता है कि कबीर की साखियां ५६ अंगों में विभाजित हैं और इसीलिए उनके वर्ण्य विषय का अनुमान लगाना बड़ा कठिन है। इनकी साखियों में मुख्यतः गुरुभक्ति, ज्ञान परिचय, चेतावनी, यथार्थता, कुसंगति, विरनेय, ईश्वर प्रेम आदि का परिचय मिलता है। ईश्वर विषयक प्रेम के लिए इनकी उक्ति देखिए—

कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुंई धरै, सो पैठे इहि माहिं॥

इसी प्रकार विरहोक्ति भी प्रस्तुत की जा रही है—

चोट सताणी विरह की, सब तन जरजर होई।
मारणहारा जाणि है, मैं जिहि लागी सोई॥

विरहिन अभी पंथ सरि, पंथी बूझे धाई।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलेंगे आई॥

इसी प्रकार कबीर ने आपसी भेद-भाव को दूर करने के लिए यह साखी कितनी सुन्दरता से कही है—

कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बे पीर॥

कबीर ने अपनी साखियों के माध्यम से आध्यात्मिक एवं लौकिक प्रेम तथा बन्धुत्व की भावना और गुरुमहत्ता को इस प्रकार चित्रित किया है कि पाठक सहज ही भावाविभूत हो उठता है। कबीर का अनुकरण उनके समकालीन कवियों ने तो किया ही साथ ही साथ राम भक्ति और कृष्ण भक्ति शाखा तथा रीति कालीन कवियों ने भी बड़ी बहुतायत से किया है। कालान्तर में दोहों के स्थान पर कवित्त और सवैयों का भी संत कवियों द्वारा प्रयोग होने लगा। सुन्दरदास के कवित्त को देखिए, जिसमें ब्रह्म के आगे और सब क्रम सांख्य के अनुकूल है—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति ते महत्तत्व, पुनि अहंकार है।
अहंकार हू तें तीन गुण, सत रज तम,
तम हू ते महाभूत विषय प्रसार हैं॥
रज हू तें इन्द्री रस पृथक पृथक भई,
सत्त हू तें मन आदि देवता विचार है।
ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सूं कहत गुरु,
सुन्दर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है॥

तुलसीदास के द्वारा भी उनकी 'कवितावली' में कवित्त एवं सवैयों की रचना बड़े ही सुन्दर और सरल रूप में की गई है। वार के समय में कवि लोग दोहों और साखियों की अपेक्षा कवित्त और सवैयों को अपनाने लगे। इसका कारण यह है कि एक तो इन कवित्तों का विस्तार अधिक होता है जिससे विषय स्पष्ट हो जाता है और कवि को माथापच्ची करने से छुट्टी मिल जाती है, दूसरे इनमें नाद सौंदर्य भी पाया जाता है जो पाठक को सहज ही अपनी ओर आकर्षित करता है।

रस मंजरी ग्रन्थों से माना जाना चाहिए। इन भक्त कवियों के साथ-साथ अकबर के दरबारी कवियों—गंग, रहीम, बीरबल, नरहरि आदि कवियों में शृङ्गारिकता की मात्रा बढ़ती जा रही थी। इन कवियों में काव्य की नायिका के रूप सौंदर्य, चेष्टाओं तथा प्रणय लीलाओं का वर्णन पाया जाता था किन्तु शास्त्रीय सिद्धान्तों का अभाव पाया जाता है। केशवदास हिन्दी साहित्य में प्रथम कवि हैं जिन्होंने अपनी 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' में भक्त कवियों द्वारा गीति काव्य के शृङ्गार वर्णन को यानि रीति प्रवृत्ति को सर्वप्रथम मुक्तकों से सम्बन्धित किया। कालान्तर में इन दोनों का ऐसा समन्वय पाया जाता है कि किसी रीतिकार ने रीति का नाम तक नहीं लिया।

अकबर के आश्रित अन्य राज्यों पर भी शृङ्गारिक मुक्तक परम्परा का प्रभाव पड़ा और उनके दरबारों में भी रीतिबद्ध मुक्तक कवि शृङ्गारिक मुक्तकों की प्रवृत्ति में प्रवेश कर गये।

स्वच्छन्द प्रेम मूलक काव्य—घनानन्द, रसखान, आलम बोधा आदि कवियों ने वैयक्तिक अनुभूति की व्यंजना के लिए मुक्तक शैली को अपनाया। यद्यपि इन्होंने रीतिबद्ध शृङ्गारी कवियों की भांति दोहा, कवित्त, सवैया आदि का अनुसरण किया है तथापि ये शास्त्रीय नियमों के बन्धन में नहीं बन्धे। भाव गाम्भीर्य की दृष्टि से इनका काव्य सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इन्होंने व्यंग्य और प्रवहरण-शीलता के कारण अपने काव्य के मुक्तकों में गहरी अभिवृद्धि की है। उदाहरण स्वरूप हम प्रत्येक की कुछ पंक्तियां देख सकते हैं इससे उनकी रसानुभूति क्षमता स्पष्ट प्रकट होती है—

प्रेम रंग को जगमगे जगे जामिनि के,
जोबन की जोति जगि जोर उमगत है।
मदन के मारे मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि झुकि झंपि उघरत हैं॥
आलम सो नवल निकाई इन नैनन की,
पोंखुरी पदुम पै भंवर थिरकत हैं।
चाहत हैं उड़िबे को देखत मयंक मुख,
जानत हैं रैनि तातें ताहि में रहत हैं॥ —आलम

× × ×

गुरनि बतायौ, राधा मोहन हू गायो,
सदासुखद सुहायों वृन्दावन गाढ़े गहि रे।
अद्भुत अभूत महि मण्डन, परे तें परे,
जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लाहि रे॥
आंनद को घन छायो रहत निरंतर ही,
सरस सुदेय सो, पपीहापन बहि रे।

जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसी,
पावन पुलनि पै पतित परि रहिरे ।। —घनानन्द

× × ×

यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनी है ।

× × × ×

सहते ही बनै न, कहते न वनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै ।। —बोधा

नीति मुक्तक काव्य—जिस काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति नीति एवं उपदेश प्रधान रहती है उसे नीति काव्य कहते हैं। नीति काव्य की रचनाओं को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. कबीर आदि की रूपक, उलटवासियां आदि प्रधान नीति-काव्यमयी रचनाएं हैं।

२. अन्योक्ति-परक रचनाएं—दीनदयाल गिरि की रचनाएं विशेष रूप से इस वर्ग में आती हैं।

३. समासोक्ति-परक रचनाएं—इसमें प्रवन्ध काव्यों की नीति रचनाएं आती हैं।

४. व्यंजना के रूप में नीति या उपदेश प्रगट करने वाली रचनाएं।

नीति प्रधान रचनाओं में इन चार प्रमुख प्रकारों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसी रचनायें हैं जिनमें काव्यत्व की प्रधानता न होकर भी कथा मूलक प्रधानता होती है, उन्हें हम सूक्ति कहना ही उचित समझते हैं। हिन्दी में नीति मुक्त काव्य रचनाकारों में घाघ, वृन्द, गिरधर आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने दोहा, छप्पय, कुण्डलियां आदि छन्दों का प्रयोग किया है। इनके काव्य में बौद्धिकता के बाहुल्य के कारण भाव-प्रवहणता कम है परन्तु अपनी सरस और सरल शैली के कारण इन्होंने अपनी रचनाओं को भी रोचक बना दिया है—

साईं बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरनाकुश अरु कंश को गयो दुहन को राज।।
गयो दुहन को राज बाप बेटा के बिगरे।
दुश्मन दावागीर भये महि मण्डल सिगरे।।
कह गिरधर कविराय जुगन याही चलि आई।
पिता पुत्र के वैर नफा कहुँ कौने पाई।।

वीर-रसात्मक मुक्तक काव्य—मध्य युग को शृङ्गारी काव्य प्रधान युग कहा जाता है तथापि वीर-रसप्रधान रचनाओं का प्राचुर्य है। वीर रस प्रधान काव्य को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) राजस्थानी कवियों द्वारा डिंगल भाषा में रचित काव्य (२) व्रजभाषा में रचित काव्य। राजस्थानी कवियों में पृथ्वीराज, बांकीदास, सूर्यमल्ल मिश्र, दूरसा जी आदि कवि प्रमुख कवि हैं जिन्होंने अनुभूतिक वीर काव्यों

की रचना की है। इन कवियों ने राजस्थानी वीर महाराजाओं की महिमा को लेकर अनेक ओजपूर्ण मुक्तकों की रचना की है। दूरसी जी और पृथ्वीराज का अकबर से घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी उन्होंने महाराणा प्रताप की प्रशस्ति के खुल्लम-खुला गीत गाये। महाराणा के सामने अकबर को सदैव नीच बताने की उन्होंने कोशिश की। दुरसा जी के शब्दों में—

अकबर गरब न आण, हीन्दू सह चाकर हुआ।
दीठो कोई दीवाण, करती लटका कटहड़े॥

अपनी 'वीर सतसई' में कवि राजा सूर्यमल्ल मिश्र ने राजपूती आदर्शों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

भूषण ब्रजभाषा में वीर-रसात्मक कविता करने वाले सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इन्होंने महाराजा छत्रसाल और छत्रपति शिवाजी की यश-गाथा बड़ी ही ओजस्विनी भाषा में गाई है। इसके बाद भूषण के कुछ अनुकरणीय कवि भी पाये जाते हैं जिनमें पद्माकर तथा ग्वाल आदि प्रमुख हैं जिन्होंने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का वर्णन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन मुक्तक साहित्य विषय-विस्तार की दृष्टि अति व्यापक है। शृङ्गार, वीर आदि रसों के अतिरिक्त इस युग में हास्य रस का भी बाहुल्य रहा है जिनमें खटमल बाईसी प्रमुख है और मुक्तक छन्दों में लिखी हुई है।

आधुनिक काल—आधुनिक युग के अधिष्ठाता श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी माने जाते हैं। इस युग में मुक्तक छन्दों का पर्याप्त विकास हुआ। भारतेन्दु जी ने एक ओर तो रीति कालीन कवियों की भक्ति और शृङ्गार परम्परा का अनुसरण किया तथा दूसरी ओर समाजसुधार, राष्ट्रीयता, एकता, समानता आदि पर मुक्तकों की रचना की। इनकी भाषा सरल, स्वाभाविक और सामयिक है। इनके समकालीन अन्य कवि श्रीधर पाठक आदि ने भी इनका अनुकरण करके मुक्तक छन्दों की रचना की।

द्विवेदी युग—द्विवेदी युग के काव्य में राष्ट्रीयता का विकास कुछ अधिक दिखाई पड़ता है। इस समय सामाजिक, व्यंग्यात्मक और ईश्वर भक्ति प्रधान गीतों की रचना हुई। इस समय प्रबन्ध शैली का विशेष प्रयोग पाया जाता है। फिर भी पण्डित नाथूराम शंकर शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने मुक्तकों की रचना की जिनमें उपदेशात्मकता के साथ-साथ रसात्मकता की झलक भी पाई जाती है। इन कवियों में शैली विस्तार के कारण मुक्तक रचना अपना स्थान न बना पाई और ये कवि अपने मुक्तकों में भावात्मकता नहीं ला पाये। इस समय की मुक्तक रचनाओं में 'आंसू' और 'मधुशाला' क्रमशः प्रसाद और बच्चन मुख्य हैं।

हिन्दी मुक्तक काव्य—आधुनिक हिन्दी काव्य तो वास्तव में मुक्तक काव्य के अन्तर्गत ही आता है। नवीन काव्य चेतना के साथ-साथ मुक्तक भी नये रूपों और परिधानों में हमारे सामने आता है। छायावादी और रहस्यवादी दोनों प्रकार के गीतों में स्थूल दृश्य की उपेक्षा है। इन गीतों में बाह्य प्रकृति का चित्रण भी आन्तरिक रूप से ही होता है। यह मुक्तक धारा प्रयोगवादी कवियों द्वारा अपनाई गई। अंग्रेजी के लिरिक शब्द पर आधारित हिन्दी के प्रगीतों का अब महत्व कम हो रहा है। बच्चन और नरेन्द्र शर्मा तक तो गीत काव्य धारावाहिक रूप में चलता रहा परन्तु इनके बाद इसमें रुकावटें आने लगी। उलझी हुई संवेदना वाले प्रयोगवादी कवियों ने इनको बेराह छोड़ दिया। पर सचाई तो यह है कि गीतों का विकास आज तक भी नहीं रुका है चाहे उनका रूप कुछ भी क्यों न हो गया हो। नये गीतकारों ने अपने काव्य में गीतों के कोई निश्चित नियम नहीं अपनाये हैं और कहीं का कहीं तुक मिलाते हैं। टेक के पद के विषय में भी इन्होंने कोई निश्चित मानदण्ड और आधार स्वीकार नहीं किया है। नये कवियों के गीत आधुनिक लोक प्रचलित गीतों की लय पर आधारित हैं। उर्दू की गजल, रुबाई, शेर तथा अंग्रेजी की सोनेट आदि ढंग की रचनाएं भी इनके अनेक कवियों द्वारा की गई हैं। निराला, पंत, रामविलास शर्मा तथा त्रिलोचन शास्त्री और शमशेर सिंह आदि क्रमशः सोनेट और रुबाई एवं शेर के लिए प्रसिद्ध हैं। निराला ने इनका सम्बन्ध मूलतः हिन्दी कविता से रखा है तथा शमशेर आदि को छोड़ कर कुछ कवियों जैसे नरेन्द्र शर्मा, नागार्जुन आदि ने भारतीय ग्राम गीतों से मिलती-जुलती रचनायें भी की हैं।

पंत और निराला मुक्तक छन्द के प्रवर्तक माने जाते हैं परन्तु प्रगतिवादी कवियों के पश्चात इसे प्रयोगवादियों ने विशेष प्रश्रय दिया है। अज्ञेय ने इलियट तथा लारेन्स आदि की प्रचलित पुरावृत्ति, टेकनीक तथा भावावेश गद्यात्मक ध्वनिक चित्रण पद्धति के प्रभाव से इन मुक्त छन्दों में अनेक प्रयोग किये हैं। अज्ञेय की कविता में लय एवं नाद सौंदर्य नहीं पाया जाता है जो कि 'भारती जी' के छन्दों में पाया जाता है। विभिन्न नये प्रयोगवादी इस क्षेत्र में असफलता ही पा रहे हैं और मुक्त छन्द के स्थान पर गद्य की रचना ही कर रहे हैं। आज के छन्दों में कूड़ा, कचरा आदि न जाने क्या क्या मुक्तक छन्द के नाम पर दिया जा रहा है। इस प्रयोग में बौद्धिकता तथा उलझी हुई संवेदनाओं का भी प्राचुर्य पाया जाता है।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न युगों में हिन्दी मुक्तक की विभिन्न स्थिति रही है पर यह देखा गया है कि प्रत्येक युग में हिन्दी मुक्तक पलता रहा है और भविष्य में भी इसकी प्रगति ही होगी, ऐसा विश्वास किया जाता है।

२५
नवीन गीत काव्य

१. गीत काव्य।
२. गीत काव्य का संक्षिप्त इतिहास।
३. नवीन गीतकाव्य।
४. नवीन गीतकार।
५. नवीन गीत-धारा के विषय।
६. नवीन गीतकाव्य की प्रवृत्तियां।
७. भाषा और शैली।
८. निष्कर्ष।

गीत-काव्य—गीतकाव्य काव्य की वह विशिष्ट धारा है जिसमें संगीतात्मकता सरस पदावली, रागात्मकता, संक्षिप्तता, भाव की एकता और भावातिरेकता का प्राधान्य होता है। साहित्य की इस विधा को गेय मुक्तक भी कहा जाता है। गीतकाव्य में वैयक्तिक स्वर अधिक मुखर होते हैं। इन्हीं ,लक्षणों के आधार पर गीत की परिभाषा महादेवी ने इस प्रकार की है—"सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेषकर गिने चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।" डा० नगेन्द्र ने इसी बात को दूसरे शब्दों में समझाते हुए कहा है—"गीतिकाव्य की आत्मा है भाव, जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीति में फूट निकलता है। स्वभाव से ही उसमें हार्दिकता का तत्व वर्त्तमान रहता है। उसमें एक प्रकार की एकसूत्रता तथा सुसंगठित एकता होती है जो समस्त कविता को आन्वित किये रहती है। वह एक सस्त क्षणिक एवं तीव्र मनोवेग का परिणाम होती है।" उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गीतकाव्य में—संगीतात्मकता, आत्माभिव्यंजना, व्यक्तिवादिता, लयात्मक अनुभूति, धारावाहिक प्रवाह, आदि तत्त्व वर्तमान रहते हैं। बाबू गुलाबराय ने भी लिखा है कि—"संक्षेप में प्रगीत काव्य के तत्त्व इस प्रकार हैं—संगीतात्मकता और उसके अनुकूल प्रवाहमयी कोमलकांत पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्म निवेदन के रूप में प्रकट होती है), संक्षिप्तता और भाव की एकता। यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्तःप्रेरित होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।"

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि गीत के साथ संगीत और राग का घनिष्ट सम्बन्ध है। काव्य के अन्य रूप चाहे गेय हों या न हों लेकिन गीत का गेय होना संगीत, स्वर बद्ध होना उसके लिए एक अनिवार्य शर्त है।

गीतकाव्य का संक्षिप्त इतिहास—गीत काव्य के बीज वेदों में प्राप्त होते हैं। सामवेद गायन पर ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् गीता भी गीत काव्य को अग्रसर करने में कम सहयोगिनी सिद्ध नहीं हुई। गीता का अर्थ ही यह है कि जो गाया जा सके। वैदिक साहित्य के पश्चात् बौद्ध गाथाओं का इस सन्दर्भ में उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। इनमें वैराग्य और राग-गाथाएं विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। गाथा का अर्थ मनुष्य का स्तवन होता है। ये स्तवन गेय हुआ करते थे।

संस्कृत साहित्य में वाल्मीकीय रामायण और मेघदूत गेयता से ओतप्रोत हैं। मेघदूत में तो गीत के प्रमुख तत्त्व निजीपन को भी लक्षित किया जा सकता है। गीत-काव्य के इस विकास को प्रौढ़ता प्रदान करने वाले जयदेव हुए। इनका गीत गोविन्द राग-रागनियों बँधन गीत-काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस ग्रन्थ की मधुर-कोमलकांत पदावली तो आज तक के कवियों के लिए भी ईर्षा और आदर्श की वस्तु बनी हुई है।

विद्यापति और चण्डीदास जयदेव से बहुत प्रभावित हुए। इनके गीत भक्तिरस से पूर्ण हैं, साथ ही उनमें शृंगार की सरसता भी है। इनके गीतों में भक्ति और प्रेम दोनों का निजीपन, हार्दिकता और भाव सुकुमारता तथा कोमल पदावली के साथ अभिव्यक्तीकरण हुआ है।

हिन्दी में इस धारा का उदय वीरगाथा काल से हुआ। उत्साह जनित वीर रस से पूर्ण गीत आज भी लोक में गाये जाते हैं। इस काल की सबसे प्रसिद्ध रचना जगनिक का आल्ह खण्ड है। भक्तिकाल में कबीर, सूर, मीरा, तुलसी आदि महाकवियों ने भक्ति और प्रेम परक गीत गाये। इनके गीतों में दर्शन, तन्मयता, भाव-सौकुमार्य, वेदना, विरह और भक्ति की अभिव्यंजना हुई है। कुछ गीतों में कथात्मकता भी लक्षित होती है। रीतिकाल में देव, मतिराम, भूषण ने बड़े सुन्दर गेय मुक्तकों की रचना की। इन कवियों के मुक्तकों का प्रधान विषय भक्ति, प्रेम और उत्साह पर आश्रित थे। वैसे इस युग में प्रधानता प्रेम परक गेय मुक्तकों की ही रही है।

आधुनिक काल में भारतेन्दु ने गीत काव्य को नई सज्जा प्रदान की। इन्होंने प्राचीन परिपाटी को युगानुकूल भाव-मधुरिमा प्रदान की और साथ ही नवीन प्रवृत्तियों को भी जन्म दिया। इसी युग में हुए श्रीधर पाठक जिन्होंने भारत-स्तवन सम्बन्धी गीत गाये। द्विवेदी युग में मैथिलीशरण गुप्त ने उर्मिला और यशोधरा की वेदना के गीतों का सृजन किया। इन्होंने रहस्यवादी और छायावादी गीतों की भी सर्जना की।

छायावादी युग में प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी ने गीतों को नवीन भाव-भंगिमा, सौन्दर्य सुषमा, मादकता, पीड़ा और एकात्मक दर्शन मंडित करके उन्हें नयी दिशा में प्रवृत्त किया। इस युग के आध्यात्मिक विरह मिलन के गीत, दाम्पत्य प्रेम और

सौन्दर्य सम्बन्धी गीत, तथा प्रकृति का मानवीकरण करके गाये हुए गीत आज भी गीत-काव्य पर अपना आंचल फहराये हुए हैं। इस युग के गीतों का प्रमुख विषय प्रेम, वेदना, प्रकृति, प्रिय, परमपुरुष, करुणा और सौन्दर्य के चित्रण को लेकर काव्य में अवतरित हुए हैं। इन कवियों ने और विशेष रूप से माखनलाल चतुर्वेदी तथा बालकृष्ण शर्मा ने नवीन राष्ट्रगीतों की भी रचना की। ये गीत भारत जागरण और उसकी गौरव-गाथा को लेकर लिखे गये हैं। इस युग के गीतों की भाषा कोमल और प्रतीक प्रधान थी।

छायावाद के पश्चात् साहित्य में प्रगतिवाद आविर्भूत हुआ। इस वाद से प्रभावित गीत अधिक स्थूल, निरावरण और समाज की रूढ़ियों के खण्डन की भावना से ओतप्रोत हैं। प्रगतिवादी युग में छायावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप यथार्थ की अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया। कवियों ने समाज की ओर देखा और उसकी अव्यवस्था को गीतों का प्रधान विषय बनाया। ऐसे गीतों में व्यंग्य अधिक मुखर हो गया है। प्रगतिवादी गीतों के प्रमुख विषय किसान, मजदूर, शोषक, रूस, मार्क्सवादी सिद्धान्त, उन्मुक्त प्रेम और मानववाद थे। इन गीतों की भाषा सरल और स्पष्ट है। इतनी सरल और स्पष्ट है कि इस युग के काव्य को कलाहीन काव्य की संज्ञा देकर उसका बहिष्कार किया गया।

बहिष्कार की प्रतिक्रिया ने हिन्दी काव्य में प्रयोगवाद या नयी कविता को जन्म दिया। इस युग में प्रतिक्रिया का इतना उग्र रूप सामने आया कि नयी कविता में लय तो रह गयी लेकिन गीत लुप्त होता चला गया। जब इस काव्य-धारा ने जन्म लिया तब तक तो अवश्य गीत चलते रहे लेकिन ज्यों-ज्यों यह धारा आगे बढ़ती गयी यह गीत मुक्त होती गयी। लेकिन फिर भी कुछ गीतकारों की कलम ने गीतों का साथ नहीं छोड़ा, बल्कि उन्होंने नयी कविता के आन्दोलन को अपने गीतों में स्थान देते हुए उन्हें नये रूप में सजाकर साहित्य-मन्दिर में प्रस्तुत किया।

नवीन गीत—इसी को हमने नवीन गीतकाव्य की संज्ञा दी है। नवीन गीत से हमारा तात्पर्य उन गीतों से है जो नयी कविता के युग में आज लिखे जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में नये काव्य की यह एक विशेष धारा है। नया काव्य छन्द मुक्त और मुक्त-गेय काव्य है लेकिन नवीन गीत काव्य ऐसा नहीं है। यह काव्य-धारा यद्यपि नये काव्य की छाया में ही पनप रही है लेकिन उसने गीत-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा है।

डा० शिवकुमार मिश्र ने इस काव्य-धारा के सम्बन्ध में लिखा है—"हिन्दी की नव्यतर गीत कविता वर्तमान समय के नाना साहित्यिक वादों-प्रवादों से बहुत कुछ निर्लिप्त रहकर हिन्दी कविता की सतत विकासशील परम्परा के एक अंग के रूप में गतिशील हुई है। नये युग के गीतकारों ने उसे अपने वैयक्तिक जीवन के हर्ष-विषादों, सुख-दुख आदि के प्रकटीकरण के अतिरिक्त सामूहिक जीवन के उल्लास और आशा-निराशा से मिश्रित आवेगों के भी व्यक्तिकरण के माध्यम के रूप में अपना कर, अपनी नैसर्गिक भाव-भूमि में ही उसे विकसित और परिपुष्ट किया है, साथ ही युगानुरूप जागरूकता से उसे सम्बन्धित कर अतिरिक्त विशेषता भी प्रदान की है।"

इस प्रकार ये व्यक्ति परम्परा और नवीनता के समन्वय से अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रतिष्ठित किये हुये हैं। इनकी अपनी विशेषता एक यह भी है कि ये हृदय की नैसर्गिक भाव-भूमि पर स्थित होकर ही गीत-सृजन कर रहे हैं, किसी सिद्धान्त को लेकर नहीं।

प्रमुख गीतकार—डा० शिवकुमार के मतानुसार नये गीतकारों के दो वर्ग हैं—

१. छायावादी प्रगीत और गीत सृष्टि दोनों को ही नये युग के अनुकूल अधिक सुथरे रूप में प्रस्तुत करने वाला वर्ग—इसमें बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, जानकी वल्लभ शास्त्री, सुमित्राकुमारी सिन्हा तथा कोकिल आदि का नाम उल्लेखनीय है।

२. विशेषतः छायावादोत्तर युग की गीत सृष्टि को ही अपनाकर नवीन विकास प्रदर्शित करते हुए आगे बढ़ने वाला वर्ग—इसमें शम्भुनाथसिंह, क्षेम, हंसकुमार तिवारी, वीरेन्द्र मिश्र, नीरज, रमानाथ अवस्थी आदि प्रतिनिधि कवियों का नाम लिया जा सकता है।

नवीन गीत-धारा के विषय—इस धारा के विषयों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—

१. प्रमुख विषय
२. गौण विषय

प्रमुख विषयों में प्रेम और प्रकृति आते हैं और गौण विषयों में जीवन तथा समाज के अन्य पक्ष। इनमें से भी कवियों की भाव-दृष्टि मानव पर अधिक केन्द्रित रही है।

१. प्रेम—इन गीतकारों का प्रणय बौद्धिक धरातल पर खड़ा है। इसमें छायावाद जैसी वायवीयता नहीं है। इनके लिए प्रेम जीवन का अभिन्न अंग है। नीरज ने 'प्राणगीत' में लिखा है—

प्रेम है कि ज्योति स्नेह एक है, प्रेम है कि प्राण-देह एक है।
प्रेम हीन गति प्रगति विरुद्ध है.................................।

इसे इतना अधिक महत्त्व देने के कारण ही इसमें यथार्थता और निरावरणता तथा एक सतत ललक बनाये रखने की शक्ति का समावेश हो गया है—

सांझ प्यासी पाश प्यासा राग प्यासे
रूप के संसार में मैं भी पियासा

—क्षेम, जीवनतरी

डा० मिश्र ने इनके प्रणय के इस स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है-"प्रणय सम्बन्धी इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर इन कवियों ने अपने काव्य में उसका जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह स्थूल तथा लौकिक पीठिका पर भी उसके दो प्रकार के चित्र देता है। एक वह, जिसमें रूपासक्ति तथा अतृप्ति के होते हुए भी मुख्यतः वैयक्तिक हर्षोल्लास और सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए एक गहन आकुलता दीख पड़ती है, उसका

माधुर्य पक्ष ही विशेष रूप से उभर कर सामने आता है। दूसरा वह, जिसमें इन सबके बावजूद भी प्रधानतया सभी भावनाओं अथवा ह्रासशील प्रवृत्तियों की प्रधानता है।" क्षेम की उपर्युक्त पंक्तियों में तथा शम्भुनाथ सिंह के गीतों में पहले प्रकार के भाव-चित्र मिलते हैं और नीरज तथा रमनाथ अवस्थी में दूसरी प्रकार के। नीरज की ये पंक्तियां देखिये—

आज चुम्बन की लगी बरसात अधरों की गली में
बीच में दीवार-सी फिर क्यों खड़ी सहसा शरम है।

लेकिन एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि कवि नीरज ने ऐसे समय पर दार्शनिकता का आंचल ढककर सभी भावनाओं को सस्ता होने से बचा लिया है—

रूप की इस कांपती लौ के तले
यह हमारा प्यार कितने दिन चलेगा।

वीरेन्द्रकुमार और हंसकुमार तिवारी ने प्रणय की परिणति के गीत गाये हैं। यथार्थ से परिचित होने के कारण इसीलिए इनके गीतों में पीड़ा और आंसू छलक पड़े हैं—

पीर मेरी कर रही गमगीन मुझको
और उससे भी अधिक तेरे नयन का नीर रानी
और उससे भी अधिक हर पांव की जंजीर रानी

—वीरेन्द्र मिश्र, गीतम

मुझे दूर कर दूर जा रहे
दूर कभी जा भी पाओगे
इस जीवन के जीर्ण-दीप का
तुम्हें प्रकाश बना रक्खूंगा

—हंसकुमार, अनागत

हंसकुमार की इन पंक्तियोंकी विरह की स्वस्थ परिणति आज की गीत धारा का प्रमुख अंग बनती जारही है।

२. प्रकृति—वैसे प्रकृति की ओर नवीन गीतकारों का अधिक रूझान दिखाई नहीं देता। इसका कारण यह हैकि जहां कहीं गायक ने वैयक्तिक अनुभूतियों से छुटकारा पाया है वहां उसकी दृष्टि समाज की ओर उन्मुख होगयी है। फिर भी हंसकुमार तथा शम्भुनाथसिंह और क्षेम ने प्रकृति को स्वीकार किया है। नये गीतों में प्रकृति कवि की मनःस्थिति के अनुरूप ही अवतरित हुई है, अपने स्वतन्त्र रूप में बहुत कम। इस प्रकार नये गीतों में प्रकृति के दो रूपों को ग्रहण किया गया है—१. आलम्बन रूप २. उद्दीपन रूप।

आलम्बन रूप—

सजी सलोनी प्रकृति परी रे

हंसे कपोलों में तरु कानन, फूल-फूल में उपवन उपवन
मंद गंध से अंध पवन रे बौर-बौर में विहंसा वन वन

—हंसकुमार, रिमझिम

आज जग आंगन सजाती आगयी लो मेघ माला
आज श्याम दुकूलिनी लहरा गयी लो मेघ माला।

—शम्भुनाथसिंह, रूप रश्मि

उद्दीपन रूप—यह रूप क्षेम, नीरज और वीरेन्द्र मिश्र के गीतों में बहुत पाया जाता है—

मुसकाता है जब चांद-निशा की बाहों में
सच मानो तब मुझ पर खुमार छाजाता है —नीरज, प्राणगीत
बादल के पीछे झूम उठी वह परछाईं
रो उठे प्राण फिर आज किसी की सुधि आई। —क्षेम

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि इन गीतकारों ने प्रकृति का मानवीकरण करके ही उसे ग्रहण किया है। कहीं-कहीं तो प्रकृति स्वयं ही सुन्दर होने के कारण उसे लुभा गयी है लेकिन इन गीतों में प्रकृति का वह रूप अधिक आकर्षक लगता है, जिसमें कवि की कल्पना से रंग और रस भरा गया है। उदाहरण के लिए वीरेन्द मिश्र की ये पंक्तियां देखिये—

पालकी ले श्यामघन की भीड़ जब चलदी पवन की—
मौन डोले की दुल्हन सी चांदनी गाने लगी।

इस प्रकार के वर्णनों में रतिभाव की ही प्रधानता रही है। इसीलिए प्रेयसी के रूप-चित्रण के लिए भी प्रकृति को नीरज ने कहीं-कहीं काव्य में ग्रहण कर उसे उपकृत कर दिया है—

दामिनी द्युति ज्योति मुक्ताहार पहने,
इन्द्र धनुषी कंचुकी तन पर सजाये।

क्षेम के गीतों में भी प्रकृति के मानवीकरण करने के मूल में यौन भावना ही काम कर रही है—

कोटि-कोटि लालस दृग खोले देख रही है धरा गगन को।
पंखुरियों से कली-कली की साध खुल रही आलिंगन को।

क्षेम ने इस दिशा में ग्रामीण-प्रकृति का चित्रण कर एक नया कदम उठाकर सराहनीय काम किया है—

झूम उठा आहट से रहिला की बालरियां
घहर उसी धूलों पर लतरी की बादरियां
एड़ी पर उचक-उचक झांक रही है सरसों
झमक रही तीसी की वेसर की झालरियां। —नीलम ज्योति

३. **मानव**—जैसा कि अभी कहा जा चुका है कि इन कवियों ने जहां भी अपनी व्यक्ति-सीमा के बाहर झांका है वहां उन्होंने मानव को ही देखा है। जब कवि स्वयं सामाजिक भूमि पर खड़ा कर देता है तब उसकी कलम से ऐसी गीत-पंक्तियां जन्म लेती हैं—

मैं गीत लुटाता हूँ उन लोगों पर दुनियां में जिनका कुछ आधार नहीं।
मैं आंख मिलाता हूँ उन आंखों से जिनका कोई भी पहरेदार नहीं।
—रमानाथ अवस्थी, रात और शहनाई

और ऐसी ही मानसिक स्थिति में इन गीतकारों की राष्ट्रीय-चेतना भी मुखर हो उठी है। नीरज तथा वीरेन्द्र मिश्र ने तो कहीं-कहीं राष्ट्रीय सीमा को लांघ कर अन्तर्राष्ट्रीय भावना के भी गीत लिखे हैं।

हंसराज तिवारी का 'स्वदेश संगीत', शम्भुनाथसिंह की उदयाचल की कविताएं, वीरेन्द्र मिश्र की 'देश' तथा अन्य रचनाएं, नीरज का 'प्राणगीत' आदि में इस प्रकार के गीतों को देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए वीरेन्द्र मिश्र की यह पंक्ति देखिये—

युद्ध का खेमा सजाते ही न रहना, एशिया की आन का भी ध्यान रखना।

इसके अतिरिक्त इन कवियों ने मृत्यु और जीवन जैसे दार्शनिक विषयों पर भी गीत लिखे। ऐसे गीतकारों में नीरज का नाम सर्वप्रथम आता है। इन विषयों को ग्रहण करते समय इन कवियों ने सबसे बड़ी एक विशेषता का परिचय दिया है। वह यह कि इन पर उन्होंने अपना ही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। वे किसी तर्क शास्त्र या दर्शन शास्त्र के चक्कर में नहीं पड़े हैं। उनके कवि-संस्कारों ने जो कुछ कलम को दिया वही गीत बनकर कागज पर उतरा है।

प्रवृत्तियां—वैसे यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि ये गीतकार किसी एक संगठन में बंधे हुए नहीं हैं, सबके सब स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। अतः नवीन गीत काव्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करते समय यह प्रश्न खड़ा होता है कि प्रत्येक कवि की काव्य-प्रवृत्तियों का पृथक-पृथक विवेचन करने से किसी सामूहिक निष्कर्ष पर कैसे पहुँचा जा सकता है? इसका सीधा उत्तर यही है कि ये गीतकार स्वतन्त्र वेत्ता होते हुए भी कुछ पारस्परिक समानताएं रखते हैं। ये समानताएं दो प्रकार की हैं। पहली यह कि सभी एक ही काव्य विधा या काव्य-रूप-गीत-को अपना कर चले हैं। दूसरी यह कि एक ही युग में जन्म लेने के कारण समाज के प्रति सचेष्टता और सामयिक जागरण से प्रभावित होने के कारण प्रायः सभी की भाव-भूमियां एकता के सूत्र में आबद्ध होगई हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नवीन गीतों की प्रवृत्तियों में साम्य और वैषम्य दोनों है। साम्य कम दिखाई देता है और वैषम्य अधिक। कारण कवियों की स्वतन्त्र व्यक्तित्व की अस्तित्व वादिता है।

१. समाज के प्रति झुकाव—नये गीतकारों में यह प्रवृत्ति सहज न होकर युग प्रभाव और सामयिक दबाव से उद्भूत हुई है। इस प्रवृत्ति को चित्रित करने में उनको

वैयक्तिक प्रणयानुभूति ने भी गीतकारों को रोका और टोका है लेकिन जीवन की विषमताएं और सामाजिक संघर्ष की कटुता के सामने वह टिक नहीं सकी है । वीरेन्द्र मिश्र जब यह कहते हैं कि 'जिन्दगानी गारहा हूं, मन नहीं बहला रहा हूं, अथवा दूर होती जा रही है कल्पना, पास आती जा रही है जिन्दगी' तब वे समाज और जीवन के इसी दबाव की अभिव्यक्ति करते हैं । यह प्रवृति नीरज और अवस्थी में भी देखी जा सकती है । शम्भुनाथसिंह जब कहते हैं—'मैं छोड़ स्वप्न छाया इस दूर देश आया'—और नीरज को जीवन का कटु-सत्य ललकारता है—'आज किन्तु जब जीवन का कटु-सत्य मुझे ललकार रहा है'—तब ये गीतकार सामाजिक उत्तरदायित्व का पूरी तरह अनुभव करते हुए सामने आते हैं और तूफानी लहरों की पुकार सुनकर प्रणय तट से बँधी जीवन-नौका का लंगर खोलकर मंझधार में पहुँच जाते हैं और कवि गा उठता है—

भ्रम नहीं यह टूटती जंजीर है, और ही भूगोल की तस्वीर है।
रेशमी अन्याय की अर्थी लिए मुस्कराती जा रही है जिन्दगी।

२. **दार्शनिकता**—नये गीतकारों की दार्शनिकता को डा० शिवकुमार मिश्र ने दो कोटियां स्वीकार की हैं—व्यक्तिपरक और समाजपरक । "नव्यतर गीत कविता की व्यक्तिपरक दार्शनिकता का निर्माण प्रथमतः उस अतृप्त मूलक जीवन-दर्शन से हुआ है-योगवाद जिसका प्रधान लक्ष्य है—जिसे रमानाथ अवस्थी ने स्वर दिया है, द्वितीय जीवन की क्षण भंगुरता—मृत्युवाद, नियतिवाद तथा उपलब्ध क्षणों का सम्पूर्ण भोग करने की वृत्ति लिए हुए उस उमर खय्यामी दर्शन से हुआ है जिसके स्वरकार नीरज हैं तथा समाजपरक अथवा प्रगतिशील दार्शनिकता को प्रश्रय देने वाले शम्भुनाथसिंह, वीरेन्द्र मिश्र यदा-कदा क्षेम जैसे कवि भी हैं, जिन्होंने या तो उसका स्रोत समाजवादी चिन्ताधारा से जोड़ा है या उस मानवतावाद से जिसे नवयुग की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति माना जा सकता है ।" स्पष्ट है कि व्यक्तिपरक दार्शनिकता के दो आयाम हैं-एक तो अतृप्ति का और दूसरा भोगवाद का प्रतिफलन है । छायावादोत्तर युग में अंचल ने अतृप्ति, पियासा और तृष्णा मूलक गीत गाये जिसका प्रभाव रमानाथ अवस्थी पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा । ऐसी स्थिति में गीतकार कभी तो भोगवादी होकर जीवन और यौवन की क्षणिकता का तर्क देता है, कभी नियति को कोसता है और सभी कृत्रिम मदहोशी का स्वांग रचता है । और फिर भी कुछ हाथ नहीं आता तो वह कभी-कभी अपनी अतृप्ति का आरोप द्वारा उदात्तीकरण करके गाने लगता है—

मुझको प्यासे सूरज से प्रीत बड़ी है, मेरी तृष्णा में मरु की प्यास जड़ी है ।

नये हिन्दी गीत-काव्य में उमर खय्यामी दर्शन को बच्चन ने अपनाया और नीरज उससे सर्वाधिक प्रभावित हुए ।

नये गीतों में इस दार्शनिकता के तीन पक्ष दिखाई देते हैं—

१. **जीवन की क्षणिकता**—

इसलिए कल पर न टालो आज की अभिसार वेला । —नीरज

× × ×

आज का यह गीत सुनलो कल न शायद गा सकूं मैं। —शम्भुनाथसिंह

२. मृत्युवाद—जगक्षणिक, जीवन क्षणिक, लघुता यहां विस्तृत अमर है।

—हंसकुमा

मृत्यु की काया बसी हर देहधारी में
जी रहा हर एक मरने की तयारी में। —अवस्थी

३. जीवन का भोग—भोगवाद।

आज पिलादो जी भर कर मधु, कल का करो न ध्यान सुनयने।

वस्तुतः ये तीनों पक्ष एक दूसरे से मिले हुए हैं, पृथक-पृथक नहीं। यह विचार उमर खय्याम में ही नहीं भारतीय दर्शन में भी प्रभूत मात्रा में देखा जा सकता है। लेकिन हिन्दी में उसका आगमन खय्याम के काव्य के द्वारा ही हुआ।

समाजपरक दार्शनिकता का मूलाधार मानवतावाद है। यह मानवतावाद युग की देन है, प्रगतिशीलता का परिचायक है और गीतकारों की समाजवादिता से उद्भूत है। इसी का एक दूसरा पहलू है मानववाद, जिसने कवि को समाज से सम्पृक्त किया और यथार्थ अनुभूति करने के लिए विवश किया।

इन दोनों वादों का गीतों के शिल्प पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। मानववाद से प्रेरित होकर कवि ग्राम्य वातावरण की ओर मुड़ा, "उन्होंने न केवल ग्रामों की धरती, प्रकृति अथवा निवासियों को ही अपने गीतों में उतारा वरन् लोक और ग्राम गीतों की लयों, धुनों तथा भाषा आदि को भी पूरे उत्साह से ग्रहण कर अपने गीतों को नया कलेवर प्रदान किया, उनमें नये संगीत की सृष्टि की, उन्हें नये सांचे में ढाला।" इस समाजपरक दार्शनिकता ने कवियों को जीवन के प्रति आस्थावान बनाया, उसकी व्यक्तिपरक भावनाओं का उदात्तीकरण किया। सुख-दुख झेलने की शक्ति प्रदान कर उन्हें पलायन करने से रोका है। अवस्थी ने गाया—'डाल के रंग-बिरंगे फूल राह के दुबले पतले शूल, मुझे लगते सब एक समान' और क्षेम ने इन सबको भाग्य का दान मान कर स्वीकार किया। सभी कवि जीवन और समाज से जुड़े रहे। संक्षेप में इस समाजपरक दार्शनिकता ने कवियों में अस्तित्ववाद के बीज बोये और भारतीय संस्कार-वश उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से नियतिवाद की ओर उन्मुख किया। और इस सब झुकाव के मूल में मानव तथा युग को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला मानवतावाद अपनी प्रमुख भूमिका अदा कर रहा है। वीरेन्द्र मिश्र ने उस उत्तरदायित्व का निर्वाह पूर्ण रूप से किया है—

मैं आगत के प्रति सावधान, विश्वस्त प्रणत,
पीढ़ी-पीढ़ी के लिए गीत लिखने में रत।

उनका यह समाजपरक मानवतावादी दृष्टिकोण कहीं युद्ध विरोध के रूप में व्यक्त हुआ है कहीं राष्ट्र भक्ति के रूप में, देश गान के रूप में। अवस्थी के गीतों में भी यह स्वर अत्यन्त मुखर है—

मुझको बड़ा सा काम दो
चाहे न कुछ आराम दो
लेकिन जहां थक कर गिरें
मुझको वहीं तुम थाम लो
गिरते हुए इन्सान को कुछ मैं कहूँ कुछ तुम कहो
जीवन कभी सूना न हो, कुछ मैं कहूँ कुछ तुम कहो।

संक्षेप में जीवन के प्रति आस्था, उसके स्वस्थ विकास के लिए कामना, मानववाद और मानवतावाद, जनवाद की अभिव्यक्ति करना इन गीतकारों की मुख्य प्रवृत्तियां रही हैं।

३. **अहंवादिता**—यह नये गीतकार की ही नहीं प्रत्येक गीतकार की प्रवृत्ति होती है कि गीत का सृजन जैसे बिना अहं के हो ही नहीं सकता। जब यह कहा जाता है कि गीत के लिए निजीपन, रागात्मकता आवश्यक है तो उसे गीत की इसी दिशा का संकेत समझना चाहिए। नये गीतों में यह अहंवादिता कई प्रकार से व्यक्त हुई है। कहीं तो कवि अपने विषय में स्पष्टीकरण देने लगता है—

मेरे उर को निर्मल जानो
पिछले जीवन को भ्रम जानो। —अवस्थी

कहीं वह स्वयं के उत्तरदायित्व के प्रति सचेष्ट होने का दावा करता है—

मैं आगत के प्रति सावधान विश्वस्त प्रणत। —वीरेन्द्र मिश्र

कहीं वह अपने सिद्धान्तों को व्यक्त करके अहम् को तुष्ट करता है—

मानता कुछ सत्य ही इस विश्व का आधार है प्रिय........
किन्तु निज में सत्य का आधार क्या है रूप क्या है
.........................सत्य तो झंकार है प्रिय। —क्षेम

और कभी वह अपनी अनुभूतियों के स्वरूप को व्यक्त करता है—

मेरी पीड़ा की गहराई मत पूछो तुम,
इसमें दुनियां भर के सागर भर जायेंगे। —वीरेन्द्र मिश्र
मुझे अकेला देख मौत ललचाई सारी रात। —अवस्थी

इस प्रकार कवि की यह अहम्वादिता अनेक प्रकार के गीतों में व्यक्त हुई है, लेकिन इसका प्रधान क्षेत्र प्रणय रहा है। सामाजिक क्षेत्र में कवि एक सामाजिक प्राणी के रूप में सामने आया है, अहम् त्रस्त व्यक्ति के रूप में नहीं। इस दिशा में वीरेन्द्र मिश्र अधिक प्रगतिशील रहे हैं, जहां कहीं उन्हें अवसर मिला है उन्होंने तुरन्त अपने अहम् का छुटकारा पाकर समाज के साथ-साथ देश के भी गीत गाना प्रारम्भ कर दिया है—

मेरा देश है ये, इससे प्यार मुझको
आल्हा की हुँकार, रमायन की कथा।
वृन्दावन के रास, गोपियों की व्यथा।

त्योहारों की धूम, दिवाली के दिये
होली के रंगों बिन कोई क्या जिये
यह सब मेरी दुनियां की आवाज है,
इस पर ही तो होता मुझको नाज है।

और ऐसे ही स्थल पर कवि यह घोषणा करने पर मजबूर हो जाता है कि—

लेखनी वजा रही सितार है,
गा रहा नवीन गीतकार है।

निष्कर्ष यही है कि नये गीतों में ये प्रवृत्तियां पायी जाती हैं—

१. सामाजिकता
२. नियतिवाद
३. भोगवाद
४. मृत्युवाद
५. क्षणवाद
६. मानववाद
७. मानवतावाद
८. समाजवाद
९. अहम् कविता
१०. देश भक्ति

नये गीतों में ये प्रवृत्तियां कुछ इस तरह गुंथी हुई हैं कि उन्हें पृथक-पृथक कठ-ों में रखकर दर्शाना सम्भव नहीं है। कवि संस्कार से इन सभी प्रवृत्तियों में जीने आदी है। अतः वह जब भी लिखता है तो प्रायः ये सब या उनमें से अधिकांश एक रे के रूप में अपना रूप ढाल कर गीतों में उतर ही आती हैं। इनमें से नियतिवाद, ..गवाद, मृत्युवाद, क्षणवाद विशेष रूप से एक साथ मिलकर व्यक्त हुई हैं और मानव-वाद, मानवतावाद, समाजवाद और देश भक्ति एक दूसरे के प्रतिफल या विकास के रूप में प्रस्तुत हुई हैं।

रही अहम्वादिता के व्यक्तीकरण की बात सो वह तो गीत-काव्य का प्राण है ही। किसी न किसी रूप में वह इन सभी प्रवृत्तियों के मूल में सदा रहती है। नये गीतों में भी इसे अपनाया गया है और एक स्वस्थ रूप में अपनाया गया है। विकृति के रूप में उसने गीतों में कुत्सित और हीन मनोभावों को प्रविष्ट नहीं होने दिया है।

नये गीत का शिल्प

काव्य रूप—नये गीत के शिल्प के सम्बन्ध में एक बात तो यह सर्वप्रथम जान लेनी चाहिए कि आज का गीतकार किसी आदर्श काव्य रूप का निर्माण नहीं कर पाया है। सभी ने प्रायः परम्परा का ही पालन किया है। उसमें किसी अभिनव स्वरूप के दर्शन नहीं होते। यह कवि की अक्षमता है या गीत-गठन की संकीर्णता, कहना कठिन है।

भाषा शैली—नये गीतों की भाषा सरल और प्रवाहमयी है। उसमें जटिल से जटिल अनुभूतियों को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। नये गीतकारों की भाषा पर

छायावाद की भाषा की अभी भी छाया पड़ी हुई है। यदि विवेचन की दृष्टि से देखा जाय तो नये गीतों की भाषा शैली के तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं—

१. छायावादी—यह रूप शम्भुसिंह के काव्य में अधिक मुखर है। डा० मिश्र के शब्दों में—"छायावादी प्रभावों ने जहां उनकी भाषा को एक मधुरता, सरसता तथा संगीतात्मकता प्रदान की है, वहां नये युग की मांग ने उसे सहज बोधगम्य भी बने रहने दिया है।" अन्य कवियों के शब्द विधान पर भी छायावादी शब्द विधान का प्रभाव पड़ा है चाहे वह कम मात्रा में ही क्यों न हो। जब-जब नये गीतकारों ने प्रणय, प्रकृति और सौन्दर्य तथा अनुभूतियों की तरलता के गीत गाये हैं तब-तब उनकी भाषा-शैली का रूप छायावादी प्रकृति के अनुकूल हो गया है।

२. साधारण बोलचाल का रूप—नये गीतों की भाषा शैली का यही प्रमुख रूप है। इस रूप पर उर्दू और व्यवहार में आने वाले शब्दों, वाक्यों का प्रभाव अधिक गहरे रूप में पड़ा है। शम्भुनाथसिंह में तो उर्दू गजलों, शेरों जैसी अनेक उक्तियां देखी जा सकती हैं। वीरेन्द्र मिश्र के गीतों में भी उर्दू या लोक प्रचलित शब्दावली से व्यावहारिक सरल भाषा का प्रयोग हुआ है। नीरज के तो गीत जैसे जीते ही उर्दू का सहारा लेकर हैं। उनके गीतों का निर्माण करने में बगिया, कब्र, कफन, मजार, मरघट, इन्सान, चिता, अर्थी, बुलबुल, दर्द, प्यास, दीप, कारवां, मौत, श्मशान आदि शब्दों ने प्रमुख योग दिया है।

नवीन गीतों में भाषा शैली के इस स्वरूप को ग्रहण कराने में कवि-सम्मेलनोंका प्रमुख योग रहा है। 'कवि सम्मेलनों से विशेष सम्बन्ध होने के कारण उक्ति की खूबी, विरोधाभासों का सौन्दर्य, उर्दू की सी तर्जेबयानी, सब का उपयोग' आज के गीतों में सफलतापूर्वक किया जा रहा है। इसी के प्रभाव में आकर कभी-कभी सिनेमा की लयों पर भी गीतों का सृजन कर लिया गया है।

३. लोक भाषा का रूप—जब नये गीतकार का रूझान ग्राम्य चित्रण की ओर हुआ और जब उसने भाषा को लोक प्रचलित रूप देना चाहा तब गीतों का शिल्प लोक-गीतों के शिल्प के अनुकूल होगया। गीतों के इस शिल्प का शिलान्यास सर्वप्रथम बच्चन ने किया और शम्भुनाथसिंह तथा क्षेम आदि ने उसे विकास प्रदान किया। गीतों में टेर, बरगद, सिहर, गियर, चैतर, बिरहा, बहली, कजली, बतियां, पंखुरियां आदि का प्रयोग इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं। संक्षेप में जब-जब कवि ने गांव का गीत, किसान का गीत, असाढ का गीत और गांव की धुनों तथा लयों पर अपने तथा नगर के भी गीत गाये हैं तब-तब उनकी भाषा शैली पर लोक-भाषा का प्रगाढ प्रभाव देखा जा सकता है।

भाषा के इन रूपों से गीतों में सरसता, सहजता और प्रवाहमानता एवं प्रभावोत्पादकता का तो समावेश हुआ, परन्तु उसकी व्यंजना शक्ति का धीरे-धीरे लोप होगया। गीतों में व्यंजनों के वाहक के रूप में प्रमुख रूप से प्रतीक प्रयुक्त होते हैं। नये गीतों ने नयी कविता के युग में भी किन्हीं नये और महत्व-

५. नायक का अभ्युदय वर्णित होना चाहिए और किसी अन्य चरित्र के लिए नायक का वध वर्जित।

६. उसमें पंच संधियों आदि की योजना होनी चाहिए।

७. कथा-प्रवाह-अवरोधक अनावश्यक प्रसंगों का त्याग।

८. सांस्कृतिक सम्बद्धता होनी चाहिए।

दण्डी के अनुसार महाकाव्य के प्रमुख शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार होने चाहिए—

१. महाकाव्य सर्गबद्ध रचना होनी चाहिए पर सर्ग न बहुत बड़े हों और न बहुत छोटे।

२. महाकाव्य के प्रारम्भ में आशीर्वचन, नमस्कार आदि का विधान रहना चाहिए।

३. महाकाव्य का कथानक लोक प्रचलित या इतिहास प्रसिद्ध एवं अन्य कथा पर आधारित होना चाहिये।

४. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि का उल्लेख हो।

५. नायक चतुर और उदात्त गुण सम्पन्न होना चाहिए।

६. महाकाव्य वर्णनों से पूर्ण होना चाहिए।

७. अलंकार, रस और भाव चित्रण होना चाहिए।

८. महाकाव्य लोकरंजक होना चाहिए।

रुद्रट की महाकाव्य के लिए दी गई विस्तृत परिभाषा इस प्रकार है—

१. महाकाव्य में किसी प्रकार की उत्पाद्य या अनुत्पाद्य कथा रहती है।

२. प्रसंगानुकूल अन्तर्कथाओं का नियोजन।

३. सर्गबद्धता और नाटकीय तत्व।

४. महाकाव्य में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण किया जाता है।

५. सर्वगुण सम्पन्न नायक।

६. प्रतिनायक और उसके वंशादि का वर्णन भी महाकाव्य में पाया जाता है।

७. प्रतिनायक पर नायक की विजय। इस प्रकार वह एक सुखान्त रचना होती है।

८. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्रतिष्ठा।

९. रसात्मकता।

३. इन्होंने भाषा पर प्रतिबन्ध नहीं रखा।

४. सर्गों के अन्त में छन्द परिवर्तन का विधान भी हो।

विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण में महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

१. सर्गबद्धता।

२. नायक शूरवीर, सदवंश, क्षत्री, धीरोदात्त आदि गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।

३. शृङ्गार, वीर और शांत रसों में से कोई एक प्रधान हो और अन्य सहायक।

४. कथावस्तु में सभी संधियां होनी चाहिए।

५. ऐतिहासिक या सज्जन चरित्र सम्बन्धित कथानक।

६. प्रारम्भ में मंगलाचरण, ईश्वर वंदना तथा कथावस्तु निर्देश हो तथा सज्जनों की प्रशंसा और खलों की निंद्रा हो।

७. प्रकृति वर्णन के रूप में संध्या वर्णन, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि का नियोजन भी रहना चाहिए।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

अरस्तू ने महाकाव्य की विस्तृत परिभाषा दी है। उसके अनुसार निम्नलिखित विशेषताएं होनी चाहिए--

१. किसी कथा को काव्य रूप में प्रस्तुत करना यानि प्रचलित कथानक।

२. एक छन्द योजना, वर्णनात्मकता।

३. घटना क्रम में घटना क्रम का अनिश्चित समय।

४. स्वाभाविकता।

५. सरल अथवा जटिल दोनों शैलियों का प्रयोग।

६. जीवन के विभिन्न चित्रों का चित्रण, वस्तु, परिस्थिति, भावों आदि का उल्लेख।

सी० एम० बावरा ने फ्राम वर्जिल टू मिल्टन में महाकाव्य के सम्बन्ध में जो परिभाषा दी है उसके निम्नलिखित तत्व हैं--

१. कथात्मकता हो जिसका आकार बड़ा हो।

२. महत्वपूर्ण एवं गरिमायुक्त घटनाओं का चित्रण।

३. आनन्दोपलब्धि।

४. युद्धादि बड़े कार्यों का वर्णन।

५. महत तत्वों का चित्रण।

डेवनोट के अनुसार महाकाव्य केवल दो तत्वों पर आधारित है--

१. महाकाव्य में प्राचीन घटनाओं का शृङ्खलाबद्ध वर्णन किया गया हो।

२. वीर भावों का चित्रण।

५. नायक का अभ्युदय वर्णित होना चाहिए और किसी अन्य चरित्र के लिए नायक का वध वर्जित।

६. उसमें पंच संधियों आदि की योजना होनी चाहिए।

७. कथा-प्रवाह-अवरोधक अनावश्यक प्रसंगों का त्याग।

८. सांस्कृतिक सम्बद्धता होनी चाहिए।

दण्डी के अनुसार महाकाव्य के प्रमुख शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार होने चाहिए—

१. महाकाव्य सर्गबद्ध रचना होनी चाहिए पर सर्ग न बहुत बड़े हों और न बहुत छोटे।

२. महाकाव्य के प्रारम्भ में आशीर्वचन, नमस्कार आदि का विधान रहना चाहिए।

३. महाकाव्य का कथानक लोक प्रचलित या इतिहास प्रसिद्ध एवं अन्य कथा पर आधारित होना चाहिये।

४. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि का उल्लेख हो।

५. नायक चतुर और उदात्त गुण सम्पन्न होना चाहिए।

६. महाकाव्य वर्णनों से पूर्ण होना चाहिए।

७. अलंकार, रस और भाव चित्रण होना चाहिए।

८. महाकाव्य लोकरंजक होना चाहिए।

रुद्रट की महाकाव्य के लिए दी गई विस्तृत परिभाषा इस प्रकार है—

१. महाकाव्य में किसी प्रकार की उत्पाद्य या अनुत्पाद्य कथा रहती है।

२. प्रसंगानुकूल अन्तर्कथाओं का नियोजन।

३. सर्गबद्धता और नाटकीय तत्व।

४. महाकाव्य में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण किया जाता है।

५. सर्वगुण सम्पन्न नायक।

६. प्रतिनायक और उसके वंशादि का वर्णन भी महाकाव्य में पाया जाता है।

७. प्रतिनायक पर नायक की विजय। इस प्रकार वह एक सुखान्त रचना होती है।

८. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्रतिष्ठा।

९. रसात्मकता।

१०. अस्वाभाविक और अविश्वसनीय घटनाएं वर्जित हैं—दिव्य और मानवीय घटनाएं अपेक्षित हैं।

हेमचन्द्र ने अपभ्रंश को दृष्टि में रख कर महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

१. महाकाव्य में काव्य के समस्त लक्षण होने चाहिए।

२. विस्तृत अनुभव और युग के सम्पूर्ण चित्रण की ओर सं [illegible] हिए।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का मत—मिश्र जी ने महाकाव्य के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कराया है। उनकी राय में लक्षण ग्रन्थों के आधार पर लिखे गए महाकाव्यों में घटनात्मकता से अधिक वर्णनात्मकता है। मिश्र जी हिन्दी महाकाव्यों में घटनात्मकता की अपेक्षा वर्णनात्मकता की प्रधानता मानते हैं और इसे वे संस्कृत का प्रभाव मानते हैं। विदेशी महाकाव्यों में भी वर्णनात्मकता को महाकाव्य का आवश्यक तत्व माना गया है।

तुलना—इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्य के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य मतों में विशेष अन्तर नहीं है। पर पाश्चात्य आदर्शों में एक बात पर विशेष बल दिया गया है, वह यह कि महाकाव्य में नायक के व्यक्तित्व की अपेक्षा जातीयता का प्रतिनिधित्व अधिक होता है, महाकाव्य वास्तव में जाति की ही तो कथा है तथा शेष दोनों में समानता है—दोनों ही आदर्शों के अनुकूल—महाकाव्य का नायक उच्च कुलोद्भव तथा उच्च विचारों वाला होता है। उसके महान् कार्यों में महत्वाकांक्षाओं और महान् आदर्शों का प्रकाशन होता है। महाकाव्य का आकार बड़ा होने के साथ-साथ उसकी शैली गौरवपूर्ण होती है। दैवीय हस्तक्षेप के सम्बन्ध में पूर्वी और पश्चिमी आदर्शों में थोड़ा मतभेद है—पश्चिमी विशेषकर यूनान में देव को एक क्रूर सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है जो कि मानव को कष्ट और उत्पीडन में देखकर प्रसन्न होती है पर भारतीय विचारधारा इसके ठीक विपरीत है। हमारे देव सदैव सहानुभूतिपूर्ण रहते हैं।

महाकाव्य के वर्तमान और प्राचीन आदर्शों में थोड़ा अन्तर आ गया है वह यह है कि अब मंगलाचरण इत्यादि की आवश्यकता नहीं समझी जाती है और न ही मांगल्य-सूचक शब्दों का रखना ही आवश्यक जान पड़ता है। प्राचीन काल में भी इस परम्परा का दृढ़ता या कट्टरता से पालन नहीं हुआ था। इसका उदाहरण 'कुमार-सम्भव' है जिसमें कोई मंगलाचरण नहीं है। प्रिय-प्रवास का आरम्भ भी वैसे ही होता है। आजकल नायक के सम्बन्ध में भी शैथिल्य अन्तर आ गया है। आधुनिक महाकाव्य कामायनी में नायक तो मनु है परन्तु प्राधान्य श्रद्धा का है।

निष्कर्ष रूप में हम गुलाबराय के ये शब्द प्रस्तुत कर सकते हैं—"महाकाव्य वह विषयप्रधान काव्य है जिसमें कि अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है।"

भारतीय महाकाव्यों की परम्परा—भारतीय महाकाव्यों की परम्परा भारतीय महाकवि वाल्मीकि की रामायण से मानी जाती है। रामायण ने भारतीय जन-जीवन में असीम रस और जीवन का संचार किया है। यही कारण है कि वाल्मीकि की गणना महर्षियों में की जाती है और उनका सम्मान देवता की भाँति किया जाता है। वास्तव में वाल्मीकि आदि महान कवियों की रचनाओं से ही उनकी दिव्य दृष्टि-

सम्पन्नता स्पष्ट हो जाती है। उनका काव्य अलौकिकता से पूर्ण था। इसी कारण उपनिषद में कहा गया है, कविर्मनीषी: परिभूः स्वयंभूः।

'रामायण' में रामराज्य के रूप में एक आदर्श समाज का चित्रण किया गया है—पृथ्वी पर भी किस प्रकार स्वर्गीय सुख सुविधायें हो सकती हैं, मानव जीवन की आदर्श भावना किस प्रकार जागृत की जा सकती है आदि बातों का बाल्मीकि रामायण में उल्लेख किया गया है और मानव समाज में जो सब दृष्टि से सफल और उत्तम है, आदर्श-पूर्ण करने की कोशिश की गई है। रामायण के नायक मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं। रामायण में प्रवन्धत्व का निर्वाह सम्यक रूप से हुआ है और इसकी शैली सरल किन्तु प्रौढ़ है। इसमें राम का चरित्र सात सर्गों में चित्रित किया गया है।

रामायण आकार की दृष्टि से बहुत ही विस्तृत महाकाव्य है। यह अट्ठारह वर्गों में विभक्त है। महाभारत को हमारे यहां इतिहास माना गया है। किन्तु आधुनिक समीक्षा पद्धति के अनुसार उसे भी महाकाव्य कहा गया है। महाभारत के रचयिता महर्षि व्यासदेव माने जाते हैं। इसकी मुख्य कथा कौरव पाण्डवों के सम्वन्ध में है। इसके विभिन्न पर्वों में अनेक उपाख्यानों का संग्रह किया गया है, जिनमें 'नल-दमयन्ती' तथा 'संवरण तप्ता' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। यद्यपि काल की दृष्टि से रामायण और महाभारत दोनों ही प्रारम्भिक महाकाव्य हैं तथापि रामायण की सी सुसम्बद्धता महाभारत में नहीं पाई जाती। महाभारत में इतनी अन्वति नहीं है जितनी कि रामायण में।

बाल्मीकि तथा व्यास की रचनाओं के समान किसी की भी रचना को स्थान नहीं मिला है तो भी कालीदास का नाम इनके बाद ही आता है। कालीदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रघुवंश' है। इस महाकाव्य में रघुवंश के कई राजाओं का काव्यात्मक वर्णन है, परन्तु दिलीप, रघु और राम के लोकोत्तर चरित्र को प्रधानता दी गई है। रघुवंश में १९ सर्ग हैं। कालीदास के पश्चात् श्री हर्ष का 'नैषध चरित' है जिसमें राजा नल का चरित्र है। यह ग्रन्थ और माघ का 'शिशुपाल-वध' अपने पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए प्रसिद्ध है। भारवि के 'किरतार्जुनीयम' महाकाव्य का स्थान रघुवंश के तुरन्त बाद ही है। किरतार्जुनीयम् का कथानक महाभारत में से लिया गया है। इसमें अर्जुन और किरातवेशधारी शंकर के युद्ध का वर्णन है। महादेव से अर्जुन का पाशुपत अस्त्र का प्राप्त करना इस महाकाव्य का फल है।

संस्कृत के शास्त्र काव्यों में 'भट्टिकाव्य' का स्थान विशेष उल्लेखनीय है। इसका कथानक रावण-वध है। इसमें व्याकरण पर विशेष बल दिया गया है। व्याकरण शास्त्र से अनभिज्ञ लोग इससे लाभ नहीं उठा सकते हैं। उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे काव्यों और महाकाव्यों की रचना होती रही है, जिनका साहित्य-जगत में समुचित आदर हुआ है।

हिन्दी के महाकाव्य—ऐसी मान्यता है कि प्रथम महाकाव्य के अनुकूल वातावरण संघर्ष और युद्धकाल में तैयार होता है। परिवर्तनशील परिस्थितियों में महाकाव्य

की अधिक प्रेरणा मिला करती है। संक्रांति-काल ही में प्राचीन मान्यताओं के स्थान पर नवीन मान्यताओं का प्रचलन होता है। इसके साथ ही जब अपने लक्ष्य के लिए पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव होता है तभी कोई महाकाव्य की रचना कर पाता है।

पृथ्वीराज रासो—हिन्दी का प्रथम वीर-गीत तो बीसलदेव रासो है किन्तु प्रथम महाकाव्य पृथ्वीराज रासो है। पृथ्वीराज रासो एक विकसनशील महाकाव्य है। विकसनशील महाकाव्य की तीन विशेषतायें हैं—(१) प्रचलित लोकगाथा जो विकसित होती हुई महाकाव्य का रूप धारण कर लेती है। (२) किसी ऐतिहासिक नायक के विकसित होते होते महाकाव्य का रूप धारण कर लेने पर विकसनशील महाकाव्य की रचना होती है। (३) वे गेय जन-महाकाव्य जिनका गायक कोई प्राचीन कवि होता है। कालान्तर में उसका नाम-मात्र शेष रह जाता है। उसकी रचना जनता के कण्ठों में पड़ कर नूतन रूप धारण कर लेती है।

हिन्दी में पृथ्वीराज रासो दूसरे प्रकार का महाकाव्य है। पृथ्वीराज रासो का कर्ता पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द नामक भाट बताया जाता है। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता असंदिग्ध है। बाबू श्यामसुन्दरदास आदि विद्वान इसे महाकाव्य न मान कर एक वीरकाव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। फिर भी लक्षण ग्रन्थों के अनुसार रासो को महाकाव्य कहना उपयुक्त है। यह ग्रन्थ ६९ समयों (अध्यायों) में समाप्त हुआ है और लगभग ढाई हजार पृष्ठ का है। इस ग्रन्थ में युद्ध-वर्णन के साथ-साथ वीरभावना तथा शृङ्गार एवं शांत रसों का भी पर्याप्त विवरण है। इसमें देवता और भक्ति-मुक्ति आदि की स्तुति इसके सांस्कृतिक पक्ष की द्योतक है। चौहान वंश के साथ-साथ चन्द ने क्षत्रियों के अन्य छत्तीस वंशों की कथायें भी लिखी हैं परन्तु विशेषता चौहान वंश को उभारने में है और उसमें भी मुख्यतः पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों और आखेट आदि के वर्णनों का प्राधान्य है।

'जलहन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज' उक्ति के अनुसार यह माना जाता है कि पृथ्वीराज रासो की रचना में चन्द के पुत्र जल्हन ने भी प्रर्याप्त योग दिया है।

रासो ऐतिहासिक ज्ञान के लिए उपयुक्त ग्रन्थ है। रासो की भाषा संस्कृत, अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के बीच एक शृङ्खला का कार्य करती है। रासो में कथा-शिल्प के सहारे कथानक को लचीला बनाने का प्रयत्न किया गया है। रासो में चरित्र-चित्रण की व्यापकता का अभाव है। चरित्र-प्रधान महाकाव्य होने से कवि का सम्पूर्ण ध्यान नायक पर ही केन्द्रीत है। रासो का नायक आदर्श भारतीय नायक है। रासो में रूढ़ियों का भलीभांति पालन किया गया है यथा—सर्ग, प्रतिबन्ध, मंगलाचरण, वस्तु-निर्देश, दुर्जन-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा, कवि-विनम्रता, नायक-प्रशंसा, नायक की वंशावली, छन्द सम्बन्धी रूढ़ियां आदि। रासो में प्रभावोत्पादकता एवं प्रभाव-एक्य पाया जाता है।

जीवन शक्ति और प्रवणता की दृष्टि से रासो हिन्दी का एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। रासो की लोकप्रियता उसकी जीवन-शक्ति-प्रवणता की ही तो परिचायका है। रासो की शैली में जहां लोक परम्परा का पालन किया गया है वहां लोक-रुचि का भी यथा-सम्भव ध्यान रखा गया है। रासो में कोतूहल पूर्ण घटनाओं का भी सुन्दर वर्णन किया गया है। रासो में ऐतिहासिक, पौराणिक तथा रोमांचक, तीन शैलियों का प्रयोग किया गया है। रासों में कुछ अनावश्यक उप कथाओं का भी वर्णन किया गया है—यथा—४५वें अध्याय में संयोगिता के पूर्व जन्म की कथा।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम ऐसा महाकाव्य है जिसमें प्राचीन परम्पराओं के पालन के साथ पर्याप्त मौलिकता भी पाई जाती है और किसी भी प्रथम महाकाव्य की समस्त विशेषतायें अन्तर्निहित हैं। कुछ विद्वान इसे राष्ट्रीय भावना-शून्य मानते हैं, परन्तु सामंती युग में जैसा एक कवि संदेश दे सकता है वैसा इसमें भी दिया गया है—अपनी मान मर्यादा का पालन करते हुए प्राणों का उत्सर्ग कर देना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। समस्त काव्य में इसी संदेश का बोलबाला है। परन्तु आधुनिक युग जैसी राष्ट्रीयता एक सामंती युग के कवि में कैसे पाई जा सकती है।

पद्मावत—प्रेम-मार्गी शाखा के प्रमुख कवि जायसी लोक और परलोक दोनों की साधना चाहते थे। उन्होंने अपने पद्मावत में मनसवी पद्धति के अनुसार शाहे-वक्त की वंदना की है। उनके महाकाव्य में लौकिक प्रेम-गाथाओं द्वारा पारमार्थिक प्रेम की स्थापना की गई है। जिस पद्मावती की प्रेमकथा पृथ्वीराज रासो में गौण थी वही जायसी के पद्मावत में आकर मुख्य कथा का रूप ले लेती है। जायसी ने बहुत ही कम हेरफेर के साथ भारतीय लोक-प्रचलित कथाओं का वर्णन किया है। इसलिए पद्मावत का कथानक ऐतिहासिक है। शुक्ल जी के अनुसार पद्मावत का पूर्वार्द्ध कल्पित और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है।

पद्मावत में नाटक की पांचों संधियों का निर्वाह हुआ है। खण्डों में विभाजित होने के कारण कथानक सुगठित है। कथानक नायक का साथ छोड़ कर सहसा नागमती का साथी बन जाता है। खण्डों की संख्या ५८ है। पद्मावत में कुछ इतिहास-विरुद्ध घटनाओं का भी समावेश कर दिया गया है जिससे काव्यानन्द में खलल पड़ता है—यथा सिंहल द्वीप में गन्धर्वसेन नाम के राजा की उपस्थिति तथा कुम्भलनेर प्रसंग। पद्मावत में व्यर्थ प्रसंगों की भी भरमार है जैसे—सिंहल द्वीप का भोज-वर्णन, युद्ध आदि का वर्णन, नख-शिख वर्णन, सोलह शृङ्गार आदि।

जायसी का नायक आदर्श होते हुए भी राजनीति और सामाजिक जीवन में कोई आदर्श स्थापित नहीं करता है। इसके विपरीत उसके सरदार गोरा, बादल आदि अधिक दक्ष हैं जो उसे अलाउद्दीन की चाल से सावधान कराते हैं। जायसी ने रत्नसेन

को आदर्श राजा से अधिक आदर्श मानव के रूप में चित्रित किया है। रत्नसेन का चित्र आदर्श प्रेमी के रूप में चित्रित है। पद्मावत में प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। पद्मावत में ठेठ अवधी भाषा का रूप दीखता है। वियोग-शृङ्गार का जायसी ने अद्वितीय वर्णन किया है। जायसी ने अनेक दुहरे अर्थ वाले शब्दों का भी प्रयोग किया है।

जायसी ने अपने काव्य की रचना आध्यात्मिकता की स्थापना हेतु की है। वे आत्मा-परमात्मा के मिलन को जीवन का मुख्य लक्ष्य मानते हैं तथा माया को बाधक मानते हैं। इन्होंने परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रेम के सहज और सुकोमल पथ को ही श्रेष्ठ माना है। जायसी के पद्मावत में आत्मपक्ष की प्रधानता के कारण लौकिक पक्ष की हत्या हो गई है। जायसी ने प्रतीकों में एकरूपता का ध्यान नहीं रखा है। कभी रत्नसेन की दृष्टि में पद्मावती ब्रह्म है तो कभी पद्मावती की दृष्टि में रत्नसेन ब्रह्म है। एकरूपता के निर्वाह के लिए पद्मावती को ही आदि से अन्त तक ब्रह्म माना जाना चाहिए। किन्तु नागमती और पद्मावती दोनों ही भारतीय नारियों के रूप में है जिनके पति ही परमेश्वर होते हैं।

जायसी ने आध्यात्म-निरूपण के फेर में पड़ कर नागमती के प्रति अपनी हृदय-हीनता का परिचय दिया है।

निष्कर्ष रूप में पद्मावत प्रबन्धकाव्य का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें रासो की अपेक्षा अधिक अन्विति है। पद्मावत में कथा का निर्वाह अच्छा हुआ है। आरम्भ से लेकर अन्त तक इसमें शैली और भाषा की एकरूपता और सरसता है।

'रामचरित मानस'—रामचरित मानस हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य समझा जाता है। महाकाव्य जिन शास्त्रीय सिद्धांतों पर आधारित है 'मानस' उन पर पूर्ण-रूपेण खरा उतरता है। मध्य युग से लेकर आज तक के उत्तरी भारत का वह अकेला महाकाव्य है जिसे समाज के सम्पूर्ण दृष्टिकोण को बदलने और धर्म-ग्रन्थ होने का सौभाग्य प्राप्त है। तुलसी की उक्तियों को जनता उतना ही महत्व देती है जितना कि कोई भी जाति अपने पवित्रतम ग्रन्थों की उक्तियों को देती है। कुछ लोग मानस को कोरा पुराण-काव्य मानते हैं किन्तु इस प्रकार के प्रश्न महत्वहीन हैं।

'मानस' का कथानक अत्यन्त प्राचीन और परम्परागत प्रचलित है। प्राचीन परम्परागत कथा को भी तुलसीदास जी ने अपनी लेखनी के कौशल द्वारा इस प्रकार रखा है कि वह सर्वथा नवीन और भव्य बन गई है। तुलसीदास जी ने ब्रज और अवधी भाषा तथा मुक्तक शैली को अपनाया है। तुलसीदास जी ने भक्ति-भावना से प्रेरित होकर अपने काव्य को खण्ड काव्य की भांति सजाया और संवारा। तुलसी ने अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। काव्य में स्वाभाविकता की ओर विशेष ध्यान दिया है। पात्रों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि उनकी मर्यादा और स्वाभाविकता पर कहीं

भी चोट नहीं आ पाई है। वैसे मानस के सात सोपान हैं परन्तु कथा की दृष्टि से इसके ३ खण्ड हैं, पहला खण्ड भाव, दूसरा विचार और तीसरा ज्ञान का प्रतीक है। दार्शनिक मतों का सविस्तार समावेश है। तुलसी ने अपनी वाक्चातुर्यता द्वारा दार्शनिक प्रश्नों की जटिलता को सरल कर दिया है और उन्हें जनश्रुत बना दिया है। घटना-निर्वाह के साथ-साथ वस्तुवर्णन, भाव-व्यंजना और सम्वाद-योजना के मर्मस्पर्शी स्थलों को भी प्रस्तुत किया है। तुलसी ने अपने काव्य में लगभग सभी काव्य-शैलियों का प्रयोग किया है। नायक का आदर्श निरूपण तो अद्वितीय है। विश्व-साहित्य में ऐसे आदर्श नायक का पाया जाना असम्भव है।

तुलसी ने लोकोपकार को विशेष महत्व दिया है। तुलसी के पात्रों और उक्तियों में पूर्ण शालीनता टपकती है। तुलसी ने धार्मिक कटुता को दूर करके एकता तथा वन्धुत्व की भावना की स्थापना की है। मानस प्रत्येक दृष्टि से महाकाव्य है।

रामचन्द्रिका—केशवदास की रामचन्द्रिका भी प्रवन्ध-काव्य के अन्तर्गत गृहीत की जाती है। किन्तु प्रवन्व काव्य के लिए कथानक, तारतम्य और गाम्भीर्य का उसमें सर्वथा अभाव है। केशव ने यहां पर पाण्डित्य-प्रदर्शन ही अपना उद्देश्य माना है। छंदों एवं अलंकारों की भरमार के कारण केशवदास मार्मिक स्थलों का चुनाव भी नहीं कर पाये। वे स्वयं लिखते हैं--"रामचन्द्र की चन्द्रिका वरनत हों वहुछन्द।" महाकाव्य के स्थूल लक्षणों की पूर्ति करने का जवरदस्ती प्रयास किया गया है। सम्पूर्ण कथा ३९ सर्गों में विभाजित है तथा पुरुषोत्तम राम इसके चरित-नायक हैं। रामचन्द्रिका का कथानक शिथिल और वस्तुवर्णन देश काल के औचित्य से शून्य है। इसमें अनावश्यक वर्णनों की भरमार की गई है, इससे काव्य-सौंदर्य समाप्त हो गया है। चरित्र-चित्रण भी त्रुटिपूर्ण है। अनेक स्थलों पर भगवान राम के मुख से ही सर्वथा अनुपयुक्त और अप्रासंगिक वातें कहलवाई गई हैं।

प्रिय-प्रवास—कृष्ण चरित के महाकाव्यों में हरिऔध जी के प्रिय-प्रवास का प्रमुख स्थान है। इस महाकाव्य में करुणा तथा वियोग शृङ्गार के साथ-साथ वात्सल्य के वियोग की भी प्रमुखता है। यह एक आधुनिक ढंग का महाकाव्य है। शास्त्रीय सिद्धांतों के पालन के साथ-साथ इसमें नवीन दृष्टिकोणों को भी स्थान दिया गया है। इसमें नायक की अपेक्षा नायक के चरित्र को प्रधानता दी गई है।

साथ इसमें विरह वेदना को भी पर्याप्त स्थान दिया गया है। उपाध्याय जी ने प्रकृति का विशद चित्रण किया है। ऋतु-वर्णन में कवि ने प्रसंगानुकूलता का ध्यान रखा है। संस्कृत के अपरिचित प्रयोग के कारण भाषा क्लिष्ट हो गई है। शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार प्रिय-प्रवास के 'महाकाव्य' होने में संदेह है।

साकेत—आधुनिक काव्य में रामकाव्य-धारा गुप्त जी के साकेत में पाई जाती है। डा० नगेन्द्र के अनुसार साकेत-सृजन में दो प्रेरणाएं थीं—१. राम भक्ति, २. भारतीय जीवन को समग्र रूप से देखने की लालसा। साकेत का कथानक बाल्मीकि रामायण और रामचरित मानस पर ही मुख्य रूप से आधारित है किन्तु गुप्त जी ने उसमें अनुकूलता के अनुसार यथास्थान परिवर्तन कर दिए हैं इसलिए काव्य में मौलिकता का सा आनन्द आता है। उर्मिला विषयक उदासीनता को दूर करने के लिए साकेत का कथानक साकेत नगरी के इर्द-गिर्द ही घूमता है। साकेत बारह सर्गों में विभाजित है। पुस्तक का आरम्भ वंदना से होता है तथा समाप्ति उर्मिला-लक्ष्मण संयोग से होती है। कथा का मुख्य उद्देश्य उर्मिला का विरह वर्णन है। इस महाकाव्य में कैकेई-चरित्र पर भी विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। साकेत के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में भी पर्याप्त मौलिकता पाई जाती है। साकेत में नाट्य संधियों का पूर्ण निर्वाह नहीं हो पाया है। कारण यह है कि भारतीय जनता में रामकथा जितनी दूर तक फैल चुकी है उसको बदल देना या उसमें परिवर्तन लाना किसी साधारण कवि का काम नहीं है। क्योंकि कथा-संयोजन बड़ा कसा हुआ है, गुप्त जी ने अपने काव्य की उद्देश्य पूर्ति करने के लिए उपेक्षिता उर्मिला को महत्व तो दिया है परन्तु वे सीता और राम की भक्ति से भी अपना मुख नहीं मोड़ पाये हैं फलतः कथानक में तिहरी साधना के फलस्वरूप, यत्र-तत्र अव्यवस्था दिखाई पड़ जाती है। प्रबन्ध काव्य के लक्षणों और सांस्कृतिक महत्ता की दृष्टि से 'साकेत' हिन्दी के उत्कृष्ट महाकाव्यों की श्रेणी में आता है।

कामायनी—प्रसाद जी की सर्वश्रेष्ठ और लोकप्रिय कृति कामायनी मानी जाती है। प्रो० विनयमोहन शर्मा के अनुसार कामायनी प्रसाद का अन्तिम ग्रन्थ है और छायावाद का प्रथम महाकाव्य। कामायनी को लगभग सभी विद्वानों ने महाकाव्य स्वीकार किया है। नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार—"परम्परागत महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ति न करने पर भी कामायनी को नये युग का प्रतिनिधि महाकाव्य कहने में कोई हिचक नहीं होती।" राममूर्ति 'रेणु', महादेवी वर्मा, डा० सरनामसिंह शर्मा आदि के नाम भी इस क्रम में उल्लेखनीय हैं।

कामायनी का कथानक अस्पष्ट होते हुए भी ऐतिहासिकता को समेटे हुए है। उसमें प्रलय से लेकर आज तक की कहानी को गुम्फित किया गया है। समस्त काव्य में स्थूल घटनाएं तीन या चार ही हैं, जो श्रद्धा और मनु के मिलने और बिछुड़ने तथा इड़ा और मनु के मिलन और विछोह तक ही सीमित हैं। कामायनी में रोचकता का

अभाव है किन्तु मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं का चित्रण इसमें रोचकता की पूर्ति करता है। कामायनी में शृङ्गार, वीर, रौद्र, शांत आदि सभी रसों की रचना की गई है। इसकी नायिका सर्वगुण सम्पन्न है। कामायनीकार ने उसकी एक मनोवृत्ति पर एक सर्ग तक की रचना करदी है।

काव्यत्व की दृष्टि से कामायनी एक मौलिक रचना है। यद्यपि कामायनी के पात्र ऐतिहासिक हैं तथा भारतीय धर्म ग्रन्थों में चर्चित हैं तथापि कवि ने कथा को विस्तार स्वयं ही दिया है। कथानक में उलझन नहीं है। कामायनी काव्य की दृष्टि से जितनी प्रौढ़ है, जीवन-दर्शन और युग-संदेश की दृष्टि से उतनी ही महान् है। कामायनी में भौतिक जगत के साथ-साथ मानसिक क्रियाओं का भी उल्लेख किया गया है। कामायनी में शैव दर्शन की समरसता का प्रतिपादन भी किया गया है। प्रकृति के सौम्य और उग्र रूप दोनों का यथा-योग्य चित्रण करने में प्रसाद जी ने तनिक भी भूल नहीं की। कामायनी नायिका-प्रधान काव्य है क्योंकि इसमें मनु के चरित्र को गिरा दिया गया है। महाकाव्य के सिद्धांतों के अनुसार नायक के गुण कभी भी सहनायक या नायिका के द्वारा दबाये नहीं जा सकते। कामायनी निश्चय ही हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

साकेत संत (पण्डित बलदेव प्रसाद मिश्र)—इस महाकाव्य में भरत-चरित्र को प्रकाशित किया गया है। यद्यपि राम के साथ-साथ भरत का सर्वत्र उल्लेख मिलता है। परन्तु स्वतन्त्र रूप से भरत का त्यागमय जीवन एक काव्य-ग्रन्थ के लिए भी उपयुक्त हो सकता है। इस महाकाव्य में कल्पना तथा भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता का विशेष पुट है। फलस्वरूप शुष्कता का पुट भी पाया जाता है। वर्तमान युग की विचारधाराओं से परिचित होते हुए भी 'साकेत संत' के कवि ने धार्मिक स्थलों के वर्णन में आदर्श भावुकता का परिचय दिया है।

आर्यावर्त (मोहनलाल महतो 'वियोगी')—कवि ने महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की पूर्ति का असफल प्रयास किया है। इसमें तेरह सर्ग हैं। सफल महाकाव्य की कोशिश में यह एक प्रबन्धकाव्य ही रह गया है किन्तु उसमें निहित राष्ट्रीय भावना ने उसे महाकाव्यत्व प्रदान करने की चेष्टा की है। अतः यह एक असफल महाकाव्य है।

किन्तु उनकी यह धारणा भ्रांत है। इसमें विचार की एकता बिल्कुल नहीं है, वरन् युद्ध के औचित्य और अनौच्यित को लेकर उठने वाली शंका ही है।" उसने उनके मन को अस्थिर कर दिया है और उनके अनुसार "महाकाव्य की रचना मनुष्य को विकल करने वाली अनेक भाव-धाराओं के बीच सामंजस्य लाने का प्रयास है, समय के पारस्परिक विरोधी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा है।" वस्तुतः नगेन्द्र जी ने किस प्रकार ये शब्द कह दिये परन्तु जहां तक मेरा अपना मत है—मैं 'कुरुक्षेत्र' को एक युग-प्रतिनिधि महाकाव्य के रूप में स्वीकार करता हूँ। आचार्य द्विवेदी ने इसी कारण उसे हिन्दी भाषा का गौरव ग्रन्थ कहा है।

'दिनकर जी' कथानक के सहारे युद्ध की अनिवार्यता पर विचार करते हुए पुरानी मान्यताओं के सहारे ही नई मान्यताओं की स्थापना करते हैं। इस काव्य में अहिंसा का महत्व स्वीकार किया गया है परन्तु साथ ही यह भी बताया गया है कि यह तभी सफल बन सकती है जबकि संसार में इसकी मान्यता हो। लेखक के अनुसार समविभाजन के साम्यवादी आधार पर ही शांति-स्थापना हो सकती है।

कृष्णायन (द्वारिकाप्रसाद मिश्र)—कृष्णकाव्य-धारा से सम्बन्धित यह महाकाव्य आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ देन है। परम्परा के पालन के साथ-साथ कवि ने नये युग की पृष्ठभूमि में प्राचीन विषय को पल्लवित किया है। कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन के सुसम्बद्ध कथानक की यह पहली रचना है।

रामचरित मानस की भांति इसमें सात खण्ड हैं जिनमें कृष्ण कथा को गति मिलती है। इस कथा में अनार्य संस्कृति पर आर्य संस्कृति की विजय दिखाई गई है तथा कृष्ण को नायक मान कर राष्ट्रीय भावनाओं को स्थान दिया गया है। कथा के माध्यम से प्राचीन शासकों का वर्णन भी किया गया है। शृंगार-धारा के स्थान पर सुधारवादी दृष्टिकोण की स्थापना की गई है। इस ग्रन्थ में केवल कृष्ण-चरित और महाभारत की कथा नहीं है किन्तु देश की सांस्कृतिक एवं धार्मिक विचारधारा का वर्तमान आवश्यकतानुसार पुनर्निर्माण किया गया है। कृष्णायन में लौकिकता के स्थान पर मानव सुलभ स्वाभाविकता का चित्रण किया गया है। इस महाकाव्य में युद्ध-वर्णन और युद्ध-कौशल का विस्तृत वर्णन दिया गया है। दार्शनिक विवेचन भी मिलता है जिसका आधार जैन-दर्शन है।

उर्वशी (दिनकर)—पौराणिक कथा पर आधारित होते हुए भी दिनकर के इस महाकाव्य में नवीनता एवं मौलिकता की प्रधानता है। अन्य कवियों की भांति दिनकर ने भी अनुकूलतानुसार कथा में परिवर्तन कर लिए हैं। दिनकर जी ने रूढ़ियों में बंधे काम-जीवन की वेदनाओं और विडम्बनाओं का उद्घाटन करते हुए बताया है कि पत्नी या पतिव्रत का आधार प्रेम नहीं है। कवि ने अपने इस महाकाव्य में काम की समस्या पर पूर्ण प्रकाश डाला है तथा उसे वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। काव्य

की दृष्टि से यह महाकाव्य श्रेष्ठ है। इसमें सौंदर्य-निरूपण का विशेष ध्यान रखा गया है। पात्रों की सृष्टि एवं चित्रण में मनोविज्ञान का सहारा लिया गया है। भाषा ओजस्विनी है।

एकलव्य (डा० रामकुमार वर्मा)—'एकलव्य' महाभारत पर आधारित एक निषाद-पुत्र की कथा है। इसमें अवतायक नायक पद के लिए अयोग्य समझे जाने वाले व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन किया गया है तथा तत्कालीन भारतीय संस्कृति एवं आचार-विचार का मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। कला की लघुता के कारण बहुत से समीक्षक इसे महाकाव्य मानने को तैयार नहीं हैं परन्तु आधुनिक महाकाव्यीय दृष्टिकोणों से परिचित व्यक्तियों ने इसे महाकाव्य स्वीकार किया है। मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, शिल्पविधान तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से यह आदर्श ग्रन्थ है।

'एकलव्य' १८ सर्गों में विभाजित महाकाव्य है—जिसके सर्गों का आधार मनोवैज्ञानिक या भावात्मक है यथा—दर्शन, परिचय, अभ्यास, प्रेरणा, प्रदर्शन, आत्म-निवेदन आदि ... ..कथा के सम्बन्ध में कवि ने समयानुकूल मौलिकताओं को भी अपनाया है। आदर्श गुरु-भक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। कवि ने स्वप्नों का प्रयोग प्रतीकों के रूप में किया है। एकलव्य की कथानक-क्षीणता मौलिक भावनाओं से पूर्ण है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा मर्मस्पर्शी चिंतन ने कथा शिल्प के स्तर को ऊंचा उठा दिया है।

तारक-वध पं० गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का प्रतीक प्रधान महाकाव्य है जिसमें पौराणिक कथा के सहारे मानव, दानव एवं देव के सनातन प्रश्नों पर विचार किया गया है। इसकी रचना एक प्रयोग है। इसकी सफलता विचारणीय है।

दोनों महाकाव्यों में प्राचीनता ही की प्रधानता है पर कवि के दृष्टिकोण में नवीनता है। प्राचीन परम्पराओं का भी पूर्ण पालन किया गया है। ये दोनों महाकाव्य व्रजभाषा में हैं।

रावण की कथा का पूर्वार्द्ध वाल्मीकि की रामायण की कथा पर आधारित है। काव्यकला की दृष्टि से हरदयालुसिंह के ये दोनों महाकाव्य कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं।

लोकायतन (सुमित्रानन्दन पंत)—कवि पंत की अब तक की अन्तिम कृतियों में लोकायतन महाकाव्य विशेष उल्लेखनीय है। लोकायतन की उत्पत्ति के विषय में समीक्षा और मूल्यांकन के लेखक श्री हरिचरण शर्मा लिखते हैं—"सन् १९४२ में 'ग्राम्या' के पश्चात सांस्कृतिक रचना के रूप में 'लोकायतन' को हिन्दी जगत को भेंट करने का विचार पंत के मन में आया। उन्होंने असम की प्रकाशित किसी पत्रिका में लिखा था कि 'लोकायतन' के नाम से हम ऐसा केन्द्र स्थापित करना चाहते है जहां लोक-संस्कृति के विकास के लिए हम प्रारम्भिक प्रयोग कर सकें।" यह महाकाव्य कवि ने अपने चौथे युग में लिखा है। लोकायतन का आकार विशाल होते हुए भी अस्वाभाविक और अनर्गल नहीं है। लोकायतन में लोक-मंगल, लोक-चेतना से अनुप्राणित लोक-जीवन की गाथा है।

निष्कर्ष—सारांश रूप में हम यही कह सकते हैं कि हिन्दी महाकाव्यों ने शास्त्रीय सिद्धांतों का पालन करते हुए मौलिकता को भी विशेषतः अपनाया है। मंगलाचरण तथा पंच संधियों का निर्वाह भी इनमें पाया जाता है। कवियों ने प्राचीन कथा को समयानुकूल परिवर्तित कर लिया है, पात्रों का प्रवेश मनोवैज्ञानिकता के आधार पर किया गया है। उलझी हुई समस्याओं का समाधान भी आधुनिक महाकाव्यों में किया गया है तथा समाज के लिए सामयिक संदेश भी है।

२७

अठारहवीं शती के प्रमुख प्रबन्ध

१. सामान्य परिचय।
२. प्रबन्ध काव्य का महत्त्व।
३. प्रबन्ध-काव्य के भेद और उसके लक्षण।
४. अठारहवीं शती के प्रमुख प्रबन्ध।
५. उपसंहार।

सामान्य परिचय—जब शब्द-काव्य विस्तारणा प्राप्त करता है तो उसके विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न रूप हो जाते हैं। काव्य में तीन प्रकार की शैलीगत विशेषताएं पाई जाती हैं—गद्य-काव्य, पद्य-काव्य और चम्पू-काव्य। पद्य-काव्य भी विभिन्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है। व्यास ने पद्य-काव्य के सात भेदों का उल्लेख किया है—महाकाव्य, कलाप, पर्यबंध, विशेषक, कुलक, मुक्तक और कोष। ये भेद साहित्य-शास्त्र में मान्यता प्राप्त नहीं कर पाये। बंध की दृष्टि से आचार्यों ने काव्य के दो भेद माने हैं—प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक-काव्य। प्रबन्ध-काव्य में किसी भी वस्तु का शृंखलाबद्ध वर्णन होता है। उसका सम्बन्ध किसी लोक विख्यात या काल्पनिक कथा से होता है। प्रबन्ध-काव्य की घटनाओं का एक दूसरी से सम्बन्ध होता है। कहीं भी घटनाओं में व्यतिक्रम नहीं आने पाता। समस्त घटनाएं रस्सी में बल की भांति एक दूसरी से लिपटी और जुड़ी रहती हैं, उनके सम्बन्धमयी होने के कारण ही कथा में प्रवाह और सरसता का निर्माण होता है। प्रबन्ध-काव्य में कवि का ध्यान कथा-सूत्र की ओर ही रहता है, कथानक में कवि का निज व्यक्तित्व नहीं झलकने पाता बल्कि नायक [illegible] उसका व्यक्तित्व पात्रों में तिरोहित हो जाता है। वह पात्रों के माध्यम से ही अपना मत [illegible] कर सकता है। इसी कारण पश्चिम के आचार्यों ने प्रबन्ध काव्य को [illegible] कहा है।

है। मुक्तक काव्य में केवल एक ही मनस्थिति का चित्रण किया जा सकता है जब कि प्रबन्ध काव्य जीवन की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति है। वास्तव में मुक्तक और प्रबन्ध की स्थिति कहानी और उपन्यास की सी है। मुक्तक काव्य का संकुचित कलेवर होने के कारण उसमें रसपरिपाक के सहायक सभी अंगों का ठीक-ठीक निरुपण नहीं किया जा सकता, जबकि प्रबन्ध काव्य के विस्तृत कलेवर में रसपरिपाक के सभी अंग विस्तारणा के साथ चित्रित किये जाते हैं। मुक्तक काव्य का भाव जानने के लिए कुछ कल्पना का सहारा लेना पड़ता है और इसमें जनसाधारण सफल नहीं हो सकते। इसके विपरीत प्रबन्ध काव्य में जीवन की विभिन्न बातों को विभिन्न परिस्थितियों में होकर विस्तार के साथ बताया जाता है तथा कल्पना का सहारा भी नहीं लेना पड़ता अतएव जनसाधारण की भी समझ में आजाता है। कुछ आचार्यों के अनुसार तो प्रबन्ध काव्य का प्रथम सोपान मुक्तक काव्य है। कवि प्रारम्भ में मुक्तक रचनाएं ही लिखता है और इसके पश्चात् ही उसमें प्रबन्धत्व की प्रौढ़ता आ पाती है, पर श्रेष्ठ काव्य प्रबन्ध काव्य ही है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थितियों में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थाई प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत बनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सभा-समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। इसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता बल्कि कोई एक रमणीय खण्ड-दृश्य इस प्रकार सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मंत्रमुग्ध सा हो जाता है।" इस कथन से स्पष्ट है कि मुक्तक काव्य का प्रभाव क्षणिक और प्रबन्ध का प्रभाव स्थाई होता है।

प्रबन्ध काव्य के भेद और उनके लक्षण—भारतीय साहित्याचार्यों ने प्रबन्ध काव्य के तीन भेद माने हैं—(१) महाकाव्य (२) काव्य (३) खण्ड-काव्य। राजेश्वर ने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों के निम्न भेद माने हैं—शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, संविधानक और आख्यानवान। अधिकांशतः प्रबन्ध काव्य के दो भेद हैं–महाकाव्य और खण्डकाव्य। काव्य रूपों की परिभाषा सामयिक परिस्थितियों के साथ बदलती रहती है और नवीन विधाओं की सृष्टि से काव्य का वर्गीकरण भी नई तरह से ही किया जाता है। आधुनिक युग की बदलती हुई मान्यताओं एवं नयी उपलब्धियों के आधार पर प्रबन्ध काव्य के भेदों का निरुपण इस प्रकार किया गया है—महाकाव्य, खण्डकाव्य, एकार्थ काव्य, गीतकाव्य, मुक्तक प्रबन्ध, नाट्य प्रगीत और आत्म चरितात्मक काव्य। ऐसा मालुम पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रसिद्धि बढ़ाने के लिए किसी नई विचारधारा को जन्म देता है और उसी का परिणाम प्रबन्ध काव्य के उपर्युक्त भेद हैं पर वस्तुतः ये सभी भेद इन तीन भेदों के अन्तर्गत आते हैं–महाकाव्य खण्डकाव्य, और एकार्थ काव्य।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सं० १७०० वि० से लेकर सं० १९०० तक का काल रीति ग्रन्थों की अधिकता के कारण रीतिकाल कहलाता है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल को 'शृंगारकाल' बताया है तथा श्री नन्ददुलारे बाजपेयी ने इसे मुक्तक काव्य के युग के नाम से अभिहित किया है। इस नामकरण के पीछे छिपी हुई यथार्थता से पाठक परिचित नहीं हैं और वे यही मानते हैं कि इस युग में प्रबन्ध काव्यों का अभाव रहा। यद्यपि यह बात सत्य है कि तत्कालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुसार रीतिग्रन्थों की रचना की और मुक्तक काव्य को प्रधानता दी तथापि कुछ ऐसे भी स्वतन्त्रचेता कवि थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन सफल प्रबन्ध काव्य के माध्यम से किया। उनकी रचनाओं के प्रकाश में न आने का कारण राजाश्रय अभाव था और इसीलिए वे तत्कालीन साहित्यिकों द्वारा उपेक्षित कर दिये गये या उन्हें साधारण कवियों की रचना समझकर पढ़ने का कष्ट नहीं किया गया। परन्तु प्रबन्ध काव्य की धारा हिन्दी साहित्य के आदिकाल से प्रारम्भ होकर भक्तिकाल में अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर क्या रीतिकाल में अवरुद्ध होगई ? नहीं, वह अपनी मंथर गति से बहुमुखी होकर प्रवाहित होती रही और उच्चकोटि के प्रबन्ध काव्यों को जन्म दिया। १८ वीं शताब्दी के प्रमुख प्रबन्ध काव्य निम्न हैं—(१) महाभारत (२) गोविन्द रामायण (३) चंडी चरित्र (४) विजय मुक्तावली (५) छत्र प्रकाश। प्रत्येक का अलग-अलग विवरण इस प्रकार है—

महाभारत (सबलसिंह चौहान)

नवीन आख्यानों का समावेश कर लिया है। और कई आख्यानों में परिवर्तन भी कर दिया है। कवि के भरसक प्रयत्न के पश्चात् भी इसका आकार विशाल होगया है।

कथानक—सवलसिंह जी ने इस ग्रन्थ के कथानक में महाभारत ही आधार नहीं वनाया अपितु शिशुपाल-वध, जैमिनी-अश्वमेघ, वेणी-संहार आदि जनश्रुतियां एवं ग्रन्थों का भी यथा योग्य समावेश किया है। महाभारत की कथावस्तु १८ पर्वों में विभक्त है और प्रत्येक पर्व में कई कई अध्यायों का विधान है। प्रत्येक पर्व का विभाजन समान नहीं है। वन्दना और महात्म्य का उल्लेख भी प्रत्येक पर्व के प्रारम्भ और अन्त में किया गया है। महाभारत के १८ पर्व इस प्रकार हैं—आदिपर्व, सभापर्व, विराटपर्व, उद्योगपर्व, द्रोणपर्व, शल्य पर्व, गदा पर्व, सौप्तिक तथा एषिकपर्व, स्त्रीपर्व, शान्ति पर्व, अश्वमेघ पर्व, आश्रमवासिक पर्व, मुशल पर्व, स्वर्गारोहण पर्व।

महाभारत की कथावस्तु पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के स्वकथनों में भी यत्र-तत्र विरोध प्रतीत होता है। वास्तविकता तो यह है सवलसिंह ने अपने महाभारत की रचना क्रमवद्धता से नहीं की थी। किसो पर्व की घटना किसी अन्य पर्व में लिखकर ग्रन्थ को खींचतान कर पूरा करने की कोशिश की है, रचनाकार ने अनेक आख्यानों को छोड़कर नये आख्यानों का समावेश किया है। सबलसिंह के महाभारत में कहीं-कहीं तो कथानक में भी व्यतिक्रम आगया है।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण—महाभारत में पात्रों की अधिकता होने के कारण कवि का ध्यान उनके चरित्रांकन की ओर नहीं रहा। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, द्रोपदी, दुर्योधन, कृष्ण तथा भीष्म प्रमुख हैं, अन्य पात्र गौण हैं।

युधिष्ठर—महाभारत में यद्यपि भीम और अर्जुन का कार्य सर्वाधिक है तथापि युधिष्ठर इस काव्य के नायक हैं। अधिकांश कार्य श्रीकृष्ण की आज्ञा से ही होते हैं। युधिष्ठर का सम्मान वे वीर एवं राजा की भांति करते हैं तथा उनकी आज्ञा का उलंघन करने का किसी में भी साहस नहीं है। युद्ध की समाप्ति पर युधिष्ठर ही राज्य-प्राप्ति और अन्त में स्वर्ग प्राप्ति के अधिकारी होते हैं।

युधिष्ठर में एक आदर्शनायक के सभी गुण विद्यमान हैं। युधिष्ठर में प्रारम्भ से ही धैर्य, शील एवं सत्य का रूप पाया जाता है व सदैव अपने दुश्मन को भी मित्र वनाने का प्रयत्न करते हैं। दुर्योधन उनके भाई आदि के प्रति शत्रुता का व्यवहार करता है तो भी उसके प्रति उनकी दुर्भावना नहीं है। वे भीम को जहर पिलाने और लाख के महल में जलाने के प्रयत्न पर भी रोष प्रगट नहीं करते। वे सदैव बड़ों का सम्मान करते हैं। वे सदैव अपने भाइयों को दुश्मन के प्रति मित्रता का व्यवहार प्रदर्शित करने की शिक्षा देती हैं। युधिष्ठर की ईश्वरीय निष्ठा वेमिसाल है व सदैव कृष्ण की आज्ञा मानकर उनके उपदेशों पर चलना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। युधिष्ठर

एक शान्तिप्रिय व्यक्ति हैं और इसी हेतु वे दुर्योधन के अत्याचारों को सहन कर लेते हैं। युद्ध वे कदापि नहीं चाहते और इसीलिए पांच गांव लेने पर ही राजी होजाते हैं।

युधिष्ठर की क्षमाशीलता की बहुलता से तो उनके भाई भी परेशान हो उठते हैं। राजा विराट द्वारा सिर पर पासे की चोट खाकर भी वे उसे माफ कर देते हैं। युधिष्ठर योग्यता और दानशीलता एवं धर्म-प्रियता के लिए तो विख्यात हैं। वे शरणागत वत्सल भी हैं। वे स्वर्गारोहण के समय देव-विमान पर स्वान के बिना जाना पसंद नहीं करते हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ साथ युधिष्ठर कुछ मानवीय दुर्बलताओं से भी वंचित नहीं रह सके हैं। उनमें वीरता और युद्ध-कुशलता का विशेष अंश नहीं पाया जाता, और इसलिए उनकी क्षमाशीलता और शान्ति-प्रियता कायरता की श्रेणी तक उतर आई है। कुछ स्थलों पर उनमें निराशा तथा दो स्थलों पर असत्य भाषण भी पाया जाता है। वास्तविकता तो यह है कि यदि युधिष्ठर में उपर्युक्त दो चार दुर्बलताएं न होती तो वे मनुष्य न रहकर देवता हो बन जाते और ब्रह्मा की दृष्टि और बुद्धि को चुनौती मिल जाती।

भाव भी कम नहीं है। वे अत्यन्त कोमल हृदय हैं। अभिमन्यु की मृत्यु पर वे अपने आपको सम्हाल तक नहीं पाते। अर्जुन उपकारी पुरुष है।

दुर्योधन—इस काव्य में दुर्योधन हमारे समक्ष प्रतिनायक के रूप में आता है। प्रारम्भ की पाण्डवों के प्रति उसकी ईर्ष्या की भावना कालान्तर में द्वेष का रूप धारण कर लेती है और वह पाण्डवों की समाप्ति पर तुल जाता है। भीम के प्रति उसकी विशेष शत्रुता है। भीम को मारने के उसने कई प्रयास किये। छल कपट आदि कलाओं में वह पारंगत है। वह नीच प्रवृत्ति का पात्र है। उपर्युक्त समस्त बुराइयों के होते हुए भी उसमें वचन पालन करने की अपूर्व क्षमता है।

उपर्युक्त प्रधान पात्रों के अलावा महाभारत में कुछ गौण पात्र भी पाये जाते हैं यथा श्रीकृष्ण, भीष्मपितामह, कर्ण, धृतराष्ट्रादि। इन पात्रों का अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण स्थान है और ये प्रधान पात्रों के कार्यों में सहायता एवं रुकावटें उत्पन्न करते हैं।

स्त्रीपात्र—यद्यपि महाभारत में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण नहीं है तथापि कथानक में वृद्धि तो होती ही है। द्रौपदी काव्य की नायिका है। यह द्रौपदी पाण्डवों की पत्नी है और प्रत्येक क्षण उनके साथ रहती है। वास्तव में महाभारत के युद्ध का कारण ही द्रौपदी है। द्रौपदी कृष्ण की भक्त है। द्रौपदी में प्रतिशोध की भावना भी पाई जाती है।

गांधारी-चरित्र महाभारत में विशेष निखार के साथ दर्शाया गया है। उसमें एक आदर्श नारी की अनुभूति है। यह कौरवों के अमानुषिक कार्य से दुःखी होती है तथा पाण्डवों के प्रति उसके हृदय में कोई द्वेष नहीं है। एक मां की ममता उसमें कूट-कूटकर भरी हुई है। दुर्योधन के क्रूर और बर्बर व्यवहार से वह दुःखी तो अवश्य है लेकिन उसका अनिष्ट नहीं चाहती।

कुन्ती पाण्डवों की मां है। उसे अपने वीर पुत्रों पर अभिमान है। वह सदैव अपने पुत्रों की आकांक्षापूर्ति में सहायक सिद्ध होती है। उसके कौमार्य जीवन में कर्ण का जन्म उसके चरित्र को गौरवपूर्ण नहीं बनाता।

प्रकृति-चित्रण—महाभारत में कवि ने प्रकृति की सर्वत्र अवहेलना की है। काव्य के विस्तृत कथानक में यदि कवि चाहता तो प्रकृति चित्रण से ही ग्रन्थ पूरा कर देता। उसने कथा के अन्तर्गत आये हुए प्राकृतिक स्थलों की भी अवहेलना करदी है। लक्षागृह के पश्चात् पाण्डवों को अपने जीवन के बारह वर्ष वन में ही व्यतीत करने पड़े। कवि ने केवल एक छन्द में गोमती नदी का वर्णन कर दिया है। सम्पूर्ण काव्य में एक स्थान पर उषाकालीन वेला का उल्लेख मिलता है। कवि ने अपने काव्य में प्रकृति को आलम्बन नहीं माना है।

वस्तुवर्णन—कथानक की विस्तारणा में कवि विभिन्न वस्तुओं का वर्णन भूलसा गया है तथापि कुछ वस्तु-वर्णन बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। कवि ने युधिष्ठर की यज्ञशाला,

अपशकुनों का चित्रण, हठयोग की साधना, सौन्दर्य वर्णन तथा उपमानों से नख-शिख वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि का बड़ा सजीव और हृदयस्पर्शी वर्णन किया है।

रस परिपाक—महाभारत में वीर रस की प्रधानता है। महाभारत के सात पर्व तो वीररस से सरोबार हैं। कवि ने वीर रस वर्णन में स्वर्गारोहण पर्व के प्रारम्भ में भीष्म का एक राक्षस से युद्ध करा दिया है। एक रस की प्रधानता होने के कारण पाठक का मन ऊब जाता है। वीर रस के पश्चात् इस काव्य में रौद्र रस का वर्णन है। महाभारत के स्त्री पर्व में करुण रस की प्रधानता है तथा यत्रतत्र अद्भुत रस का भी उल्लेख मिलता है। कवि ने शृंगार तथा शांत रस का भी काव्य में प्रसंगानुकूल वर्णन किया है।

कलापक्ष—महाभारत की आधार भाषा अवधी है। यत्र-तत्र संस्कृत के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उनके अतिरिक्त देशज शब्दों तथा अरबी-फारसी आदि के तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया है। कवि रचनानुकूल व्रजभाषा का प्रयोग करने में भी नहीं चूके हैं। कवि ने भाषा को सशक्त बनाने के लिए कहावतों तथा मुहावरों का उचित प्रयोग किया है। भाषा में व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियां पाई जाती हैं तथा यत्र तत्र पदविन्यास में भी त्रुटि पाई जाती है। काव्य की भाषा वीर-रस प्रधान तथा प्रसादगुण सम्पन्न है।

कवि ने भावसौंदर्य से पूर्ण अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग को अपनाया है। सबलसिंहजी ने शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति प्रकाश, पुनरुक्तिवदाभास आदि का प्रयोग किया है। अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीप, अतिशयोक्ति का सुन्दर समावेश किया है।

महाभारत की रचना तुलसी के 'रामचरित मानस' की भांति दोहा तथा चौपाई छंदों में की गई है। दोहा और चौपाई के अतिरिक्त कवि ने भुजे-विसरे त्रिभंगी और नाराच छन्दों का भी प्रयोग किया है।

काव्य रूप—महाभारत महाकाव्य काव्य संस्कृत के विकासशील महाकाव्य के आधार पर लिखा गया है। कवि ने अपनी बुद्धि के अनुसार कथा को सुन्दर और प्रवाहमई बनाने के लिए अनेक संस्कृत महाभारत के आख्यानों को छोड़कर उनकी जगह नवीन आख्यानों का समावेश किया है। काव्य का नायक आदर्श महामानव के नायक है तथा उसे पुरुषार्थ चतुष्टय की भी प्राप्ति होती है। वीर-रस का प्राधान्य इस काव्य का मुख्य गुण है तथा प्रकृति चित्रण एवं लौकिक सामाजिक जीवन का अभाव पाया जाता है।

का आपको शौक था। देश भक्ति, त्याग, आत्मस्वाभिमान एवं वीरत्व आपमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। आप संस्कृत, अरबी-फारसी तथा पंजाबी के मर्मज्ञ विद्वान् थे, साथ-साथ ही कवियों को भी इनके दरबार में आश्रय प्राप्त था। गोविन्दसिंह-रचित ग्रन्थ निम्न हैं—अकालस्तुति, जपजी, चण्डी'चरित्र, विचित्र नाटक, ज्ञान प्रबोध, चौबीस अवतार, शास्त्र नाम माला, श्रीमुख वाक, शब्द हजारा आदि के अतिरिक्त और भी बहुत से ग्रन्थ हैं। गोविन्द रामायण चौबीस अवतारों के चरित्र में से दशरथ-राम का चरित्र है। यह एक सुन्दर और भिन्न प्रबन्ध काव्य है।

कथानक—गोविन्द रामायण की कथावस्तु मूलतः 'वाल्मीकि रामायण' पर आधारित है किन्तु कवि ने आध्यात्म रामायण, रघुवंश, हनुमन्नाटक, रामचरित-मानस, रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थों तथा जनश्रुतियों आदि के साथ-साथ अपनी कल्पना शक्ति का भी यथा सम्भव प्रयोग किया है। कथानक में अनेक प्रसंगों को छोड़ दिया गया है अनेक स्थलों के वर्णन में त्वरा प्रदर्शन किया गया है और अनेक स्थलों पर अनावश्यक विस्तार दिया गया है तो भी उसमें एक प्रवाह और शृंखला पाई जाती है। अनेक स्थलों पर कवि ने अतिमानवीय और अद्‌भुत घटनाओं का भी वर्णन किया है।

चरित्र-चित्रण—गोविन्द रामायण में कवि का विशेष ध्यान चरित्र-चित्रण की ओर नहीं जा पाया क्योंकि उसने कथानक का संक्षिप्त और शीघ्र वर्णन करने का विशेष प्रयास किया है। गोविन्द रायायण के प्रमुख पात्र राम, लक्ष्मण, सीता, भरत, दशरथ तथा कैकेई हैं।

राम—प्रस्तुत काव्य में राम को विष्णु का अवतार माना गया है। राक्षसों को नष्ट करने के लिए ही विष्णु ने दशरथ के यहां जन्म लिया है। राम का अलौकिक सौन्दर्य वर्णनातीत है। राम के शील-निरुपण में कवि उनके आदर्श और मर्यादा का भी पालन नहीं कर पाया। राम में अदम्य वीरता है और उसका सर्वत्र परिचय मिलता है किन्तु मेघनाद युद्ध में वे नागपाश में बंध जाते हैं। यही नहीं रावण जैसे पराक्रमी और योद्धा को परास्त करने वाले वीर राम अपने ही बालक लव-कुश से युद्ध में मारे जाते हैं। तुलसी के राम की भांति गोविन्द रामायण के राम में विनय और शील का भी उतना परिचय नहीं मिलता है, धनुषयज्ञ के पश्चात् वे परशुराम में विवाद करने लगते हैं जो उनकी उग्रता का परिचायक है। कहीं-कहीं राम में निराशा तथा भाग्य-वादिता के भी दर्शन होते हैं। राम और भरत में भी 'राम चरित मानस' जैसा प्रेम नहीं है। गोविन्दसिंह के राम भरत को धनुषबाण लेकर मारने को तैयार हो जाते है।

राम सीता को विशेष प्रेम करते हैं। इसका परिचय सीता-हरण के पश्चात् स्पष्ट मिलता है। राम कुशल शासक और प्रजावत्सल राजा हैं। कवि राम का चरित्र चित्रण करते समय उनके विष्णु रूप को भूल गया है और उनका चरित्र एक मानव की भांति चित्रित किया है।

लक्ष्मण—कवि ने लक्ष्मण का चरित्र कथानक में विशेष अवकाश होते हुए भी नहीं उभारा है। लक्ष्मण में अमर्यादित उग्रता है जो कि उन्हें अपनी माता सुमित्रा से ही प्राप्त होती है। लक्ष्मण यत्रतत्र योद्धा के रूप में अवश्य आते हैं किन्तु उनकी वास्तविक वीरता का कहीं भी परिचय नहीं मिल पाता।

सीता—सीता काव्य की नायिका हैं। सीता का सौन्दर्य भी अलौकिक है और प्रथम दृष्टि में ही वे राम की ओर आकर्षित हो जाती हैं। कवि ने अपनी रचना में सीता का साधारण कामासक्ति नारी की भांति परिचय दिया है। सीता हमारे सामने एक पतिपरायण नारी, आदर्श पुत्रवधू तथा योग्य मां के रूप में आती है। सीता पति का छाया की भांति अनुसरण करती है। वे समस्त विद्याओं में पारंगत होने के कारण साधारण विपत्तियों का हँसकर सामना कर लेती हैं। सीता का चरित्र दूध के समान पवित्र और निष्कलंक है। इसका परिचय वे अग्नि-परीक्षा के समय देती हैं। वे अपने चरित्र के विषय में राम के हृदय में शंका होने से पृथ्वी में समा जाना श्रेयस्कर समझती हैं। कवि ने सीता का चरित्रांकन सफलता से किया है।

भरत—'राम चरित मानस' के भरत की तरह ही गोविन्द रायायण के भरत भी भ्रातृ-भक्त और एक आदर्श व्यक्ति हैं। वे राम के वनवास के समय अति दुःखी होते हैं और माता कैकेई को भी बुराभला कह देते हैं। वे अपनी माता के कार्य से स्वयं लज्जित हैं। राम की अनुपस्थिति में वे वैराग्य धारण कर लेते हैं और और राम को लौटाने का दृढ़ निश्चय करते हैं। वे राम के चरण पकड़कर उनसे लौटने के लिए अनुनय-विनय करते हैं। भरत वीर और एक राजनीति कुशल व्यक्ति हैं। भरत का चरित्र राम के चरित्र से भी उज्ज्वल है।

दशरथ—दशरथ एक वीर और आखेटक नरेश हैं। पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा से वे तीन विवाह करते हैं। श्रवण कुमार की मृत्यु पर उन्हें आत्मग्लानि होती है और वे स्वयं को धिक्कारते हैं। दूसरे रूप में दशरथ नरेश धर्मात्मा और पुण्य शील हैं। राम के जन्म पर राजा दशरथ के बल, प्रताप, ऐश्वर्य एवं दानशीलता का वर्णन मिलता है। वे एक पुत्र स्नेही पिता हैं। कैकेई के वरदान मांगने पर वे उसे पापिनी, पिशाचिनी आदि शब्द कहकर अपना क्रोध प्रकट करते हैं। राजा अपने प्राणों का परित्याग अपने वचन पालन करते समय भी कर देते हैं।

वह साधू का वेश धारण कर सीता-हरण करता है। वह अप-शब्दों के प्रयोग में भी नहीं चूकता है। कुम्भकरण की मृत्यु पर वह रुदन करता है। वह एक योद्धा पराक्रमी एवं विद्वान् शासक है।

प्रकृति-चित्रण—युद्ध-प्रिय कवि का मन प्रकृति-सौन्दर्य में नहीं रम पाया है। राम के चौदह वर्ष वनवास में भी उसने प्रकृति का वर्णन नहीं किया है। पंचवटी का वर्णन न के बराबर किया है। एक स्थल पर वन की भयंकरता का भी परिचय मिलता है। गोविन्दसिंह ने युद्ध तथा सौन्दर्य वर्णन में आवश्यकतानुसार प्रकृति को उपमान स्वरूप ग्रहण किया है। आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण करने में वे असफल रहे हैं।

वस्तु-वर्णन—गोविन्दसिंह ने अपने काव्य में युद्ध सम्बन्धी तथा राज सम्बन्धी वस्तुओं का ही विशेष वर्णन किया है। जन्मोत्सव तथा विवाहोत्सव का सुन्दर वर्णन है। सीता के सौन्दर्य की विस्तारणा में कवि औचित्य की सीमा भी पार कर गया है। रण-क्षेत्र में योद्धाओं के युद्ध-कौशल पर मुग्ध होने वाली अप्सराओं के सौन्दर्य वर्णन में भी कवि ने कुछ उठा नहीं रखा।

रस-परिपाक—इस काव्य में वीर-रस की प्रधानता है। अन्य घटनाओं को संक्षेप में बताते हुए कवि ने युद्ध वर्णन बड़ी विस्तारणा से किया है। ध्वन्यात्मक एवं अनुज्ञानमूलक शब्दावली के प्रयोग से युद्ध-वर्णनों में कवि ने सजीवता उत्पन्न की है। वीर के पश्चात् रौद्र और बीभत्स रस का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है। शृंगार-वर्णन कवि ने अमर्यादित रूप से किया है। करुण रस-वर्णन में कवि ने विशेष रुचि नहीं दिखाई तथा वत्सल्य, हास्य एवं अद्भुत रसों में भी कवि का मन नहीं रमा।

कलापक्ष—विभिन्न भाषाओं का ज्ञाता होने के कारण कवि ने विभिन्न भाषाओं के शब्दों के साथ-साथ काव्य की भाषा के आधार रूप में ब्रज को ही स्वीकार किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बाहुल्य के साथ किया है। शुद्ध ब्रज भाषा में शुद्ध संस्कृत शब्दावली के साथ अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक नहीं जान पड़ता। कवि ने देशज शब्दों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। भाषा में प्रवाह हेतु कवि ने लोकोक्तियों एवं मुहावरों का भी प्रयोग किया है। पंजाबी भाषा के शब्दों का तो काव्य में जाल सा पिरोया हुआ है। एक ही छन्द में भाषा वैविध्य-प्रयोग से चमत्कार-प्रदर्शन के साथ-साथ मनोरंजकता की भी सृष्टि हुई है। गोविन्द रामायण की भाषागत विशेषता भावानुरूपिता है। कवि ने संयुक्ताक्षरों का भी खुलकर प्रयोग किया है तथा निरर्थक शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। भाषा व्याकरणानुकूल है।

गोविन्द रामायण में सौन्दर्य-वृद्धि एवं अर्थ स्पष्टता के लिए अलंकारों का सहारा लिया गया है। शब्दालंकारों में अनुप्रास एवं पुनरुक्ति प्रकाश की प्रधानता है। अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा में कवि की रुचि अधिक है। उसके अतिरिक्त उपमा, सन्देह, प्रतीप, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, अतिशयोक्ति, छेकानुप्रास आदि का भी खुला प्रयोग मिलता है।

छन्द विधान—कवि के अनुसार काव्य में ६८ प्रकार के छन्दों का उल्लेख मिलता है परन्तु गहराई से देखने पर मालूम होता है कि स्थान-स्थान पर एक ही छंद को अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया है। वास्तविकता से इस काव्य में ४८ प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है। इस रचना में लक्षण ग्रन्थों में दिये गये छंदों के अतिरिक्त भी कुछ छंद पाये जाते हैं तथा कुछ छंद स्वनिर्मित भी हैं। गोविन्द रामायण में छंदों का वर्गीकरण इस प्रकार है—वर्णिक सम, वर्णिक विषम, मात्रिक सम, मात्रिक अर्द्ध सम, सोरठा, छप्पय।

गोविन्द रामायण का काव्य रूप—कवि ने अन्य हिन्दी एवं संस्कृत महाकाव्यों के अनुसार राम की जीवन गाथा का अपने काव्य में वर्णन किया है। कवि विशाल कथावस्तु प्राप्त करके भी महाकाव्य रचना में सफलता नहीं पा सका। अधिकांश स्थानों पर कवि ने मार्मिक घटनाओं को छोड़ दिया है कुछ स्थलों का चलता वर्णन किया है। इसलिए कथानक में प्रवाह होते हुए भी अवन्ति का अभाव है। कवि ने युद्धों का ही विस्तार से वर्णन किया है। प्रकृति-चित्रण में कवि का मन नहीं लग पाया। नायक के गुणों में भी पूर्णता नहीं है। भाषा और शैली भी गरिमायुक्त नहीं हैं। इस प्रकार गोविन्द रामायण महाकाव्य का रूप न पाकर एक काव्य तक ही सीमित रह गई है।

३. चण्डी-चरित्र (गुरु गोविन्दसिंह)

कथानक—चण्डी-चरित्र गुरु गोविन्दसिंह का एक रसात्मक खण्ड काव्य है। इसके कथानक का आधार मारकण्डेय पुराण के अन्तर्गत 'दुर्गा सप्तशती' है। खण्ड काव्य के कथानक को छोड़कर उसकी योजना एवं वर्णन सर्वथा मौलिकता का प्रतीक है। कवि ने अपने काव्य को सात अध्यायों में ही समाप्त कर दिया है जब कि मारकण्डेय पुराण १३ अध्यायों में विभाजित है। चण्डी-चरित्र में दुर्गा सप्तशती के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय को, द्वितीय अध्याय में ही वर्णित कर दिया गया है। कवि ने अपनी कल्पना का भी सुविधानुसार प्रयोग किया है। जैसा कि विदित है कि गोविन्दसिंह पहले एक योद्धा हैं और बाद में कवि इसलिए चण्डी-चरित्र का मुख्य उद्देश्य वीर-भावना का प्रसार है।

देवी के अतिरिक्त कुछ अन्य पात्र यथा—महिषासुर, चण्ड-मुण्ड, रक्तविन्दु, शुम्भ-निशुम्भ आदि दानव हैं। कवि ने कहीं भी उनकी चरित्रगत विशेषताओं का वर्णन नहीं किया है।

प्रकृति-चित्रण—चण्डी-चरित्र में प्रकृति चित्रण के लिए अवकाश नहीं मिल पाया है। प्रकृति-चित्रण आलम्बन रूप में न करके बल्कि युद्धादि वर्णन में उपमानों के रूप में किया गया है।

रस-परिपाक—यह खण्ड काव्य वीर-रस प्रधान है। काव्य के कथानक में युद्ध-वर्णन ही विशेष है। वीर-रस के साथ-साथ सहायक रूप में रौद्ररस भी वर्णित है। वीभत्स और भयानक रस का वर्णन करने में कवि ने पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

कला-पक्ष—काव्य में शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। भाषा को प्रौढ़ता प्रदान करने के लिए कवि ने तत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है। कवि ने कुछ शब्दों की इस प्रकार तोड़ मरोड़ की है कि वे सामान्यता की दृष्टि से ग्राह्य नहीं हैं यथा—संथा (संस्था), सतरन (शत्रु), कवलास (कैलास) आदि। अरबी-फारसी भाषा के कतिपय शब्दों का भी प्रयोग मिलता है जो अटपटा प्रतीत होता है। यत्रतत्र खड़ीबोली का प्रयोग भी काव्य में मिलता है। चण्डी-चरित्र में लोकोक्तियों और मुहावरों का साधारण प्रयोग मिलता है।

अलंकारों के प्रयोग से तो काव्य की सज्जा में एक नवीन अध्याय जुड़ गया है। शब्दालंकारों में यमक का प्रयोग बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। वृत्यानुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश तथा उत्प्रेक्षाएं बड़ी स्वाभाविक बन पड़ी हैं। उपमान प्रयोग में कवि ने प्रौढ़ कल्पना का परिचय दिया है। कवि ने कहीं-कहीं एक ही छंद में कई अलंकारों का प्रयोग किया है।

छंद विधान—सवैया और दोहे की इस खण्ड काव्य में प्रधानता है। कवि ने अपने काव्य में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। युद्धों का वर्णन एवं उपमान नियोजन कवि की कल्पना शक्ति और मौलिकता का ही परिचायक है। काव्य में प्रवाह-मयता मिलती है। इस प्रकार यह काव्य एक सफल रचना है।

४. विजय मुक्तावली (छत्रसिंह)

कवि-परिचय—अनुमानतः छत्रसिंहजी का जन्म सं० १७२५ के लगभग माना जाता है। कवि की रचनाओं में से अब तक तीन का पता चल गया है—विजय मुक्तावली, सुधासार तथा विक्रम चरित। कवि भदावर नरेश कल्याणसिंह के आश्रय में रहकर रचना किया करते थे।

कथानक—छत्रसिंह की विजयमुक्तावली का कथानक महाभारत पर आधारित है। कवि ने कल्पना और जनश्रुतियों का सहारा लेकर काव्य में मौलिकता और सजीवता उत्पन्न की है। प्रस्तुत काव्य १० पर्वों में विभाजित है और राजा शान्तनु से लेकर युधिष्ठर के राज्याभिषेक तक की कथा ४३ अध्यायों में वर्णित है। कवि ने

मूलकथानक को अति सूक्ष्म बनाने की कोशिश की है तथा प्रासंगिक कथाओं एवं महाभारत के सभी आख्यानों को छोड़ दिया है। काव्य के प्रारम्भ में गणेश वंदना और अन्त में ग्रन्थ का महात्म्य वर्णित है।

चरित्र-चित्रण—कवि रुचि कथानक को संक्षेप में वर्णन करने के प्रयत्न में पात्रों का वांछित चरित्रांकन नहीं होपाया है। विजय मुक्तावली में निम्न पुरुष पात्र हैं—युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, भीष्म, दुर्योधन तथा कृष्ण प्रमुख हैं। नारी पात्रों में द्रोपदी का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

युधिष्ठर—युधिष्ठर काव्य के नायक हैं। उनका व्यक्तित्व एक नायक की भांति अति प्रभावशाली नहीं है। नायक में जिस शौर्य और प्रताप की अपेक्षा की जा सकती है उसका उनमें सर्वथा अभाव है। वे केवल अपनी ज्येष्ठता के कारण फल प्राप्ति लाभ करते हैं और इसीलिए वे काव्य के नायक हैं। युधिष्ठर की विनय प्रशंसनीय है। कई स्थलों पर उनकी यह विनय कायरता की परिचायिका बन गई है। विराट नरेश द्वारा सिर पर चोट लगने पर भी उन्हें क्रोध नहीं आता। ऐसी विनय खटकने लगती है। एक नायक में इतनी विनय मार्जनीय नहीं है। युधिष्ठर में विनय के साथ-साथ उदारता, दानशीलता, क्षमाशीलता और धर्मप्रियता भी है। वे धर्म के द्वारा सहदेव को जीवित कराके अपने भ्रातृ प्रेम का परिचय देते हैं। युधिष्ठर में द्यूत क्रीड़ा का दुर्व्यसन है।

भीम भी हमारे सामने एक शक्तिमान और बलवान योद्धा के रूप में आता है। उसका शारीरिक बल अपरिमित है जिसका परिचय वह वृक्ष उखाड़कर, लक्षागृह से निकल अपने भाइयों तथा कुन्ती को दस कोस तक अपने ऊपर बिठाकर तथा विराट नरेश के यहां मल्लयुद्ध करके देता है। शारीरिक शक्ति में बलवान होते हुए भी वह हनुमान से हार जाता है। उसका भोजन असाधारण है यानि वह भोजन भट्ट है। युद्ध विद्या में भीम पारंगत है। उसका स्वभाव उद्धत है और उसे बहुत जल्दी क्रोध आजाता है।

भी नहीं हिचकता है। वह द्यूतक्रीड़ा में पारंगत है। नारी का सम्मान करना नहीं जानता क्योंकि वह द्रोपदी को सभा में नग्न कर अपनी जंघा पर बैठने का आदेश देता है। उसे अभिमन्यु एवं द्रोपदी पुत्रों के जन्म पर बहुत दुःख होता है। वह युद्धप्रिय और युद्ध कुशल है।

द्रोपदी—यह पाण्डवों की पत्नी और काव्य की नायिका है। वह अनिन्द्य सुन्दरी है। वह पतिव्रता स्त्री है तथा छाया की भांति अपने पतियों के साथ रहती है तथा सेवा करती है। वह प्रत्युत्पन्नमति एवं वुद्धिमती नारी है जिसका परिचय वह कीचक द्वारा पकड़े जाने पर अपनी रक्षा करने में देती है। वह एक कृष्ण भक्त स्त्री है। उपर्युक्त विशेपताओं के साथ-साथ द्रोपदी की कुछ दुर्वलताएं भी हैं। उसकी उपहास भावना ने समस्त महाभारत युद्ध को जन्म दिया। यदि वह दुर्योधन का उपहास न करती तो युद्ध नहीं होता।

विजय मुक्तावली के अन्य पात्र जिनका चरित्रांकन करने के लिए कवि को तो अवसर नहीं मिला है किन्तु वे अपने व्यक्तित्व से पाठक को सहज ही प्रभावित कर देते हैं, ऐसे पात्रों में भीष्म, कृष्ण तथा कुन्ती आदि प्रमुख हैं।

प्रकृति-चित्रण—प्रकृति-चित्रण का पूर्ण अवसर प्राप्त होते हुए भी कवि ने प्रकृति प्रेम में विशेष रुचि नहीं दिखाई। कवि को लक्षाग्रह के पश्चात् प्रकृति वर्णन का १२ वर्ष का लम्वा समय मिला। कवि ने प्रकृति का वर्णन केवल परिगणन शैली में ही किया प्रतीत होता है। जूआ हारने के पश्चात् पाण्डव जिन वन में पहुँचते हैं उसका अपेक्षाकृत सुन्दर वर्णन मिलता है। कवि ने एक दो स्थान पर प्रकृति के भयानक रूप का भी चित्रण किया है। अन्य कवियों की भांति छत्रसिंह ने भी सौन्दर्य वर्णन में प्रकृति से उपमान ग्रहण किये हैं। प्रकृति का वर्णन केवल चमत्कार प्रदर्शन के लिए किया गया है।

वस्तु-वर्णन—कथानक की अतिशय संक्षिप्तता करने के कारण कवि वस्तु-वर्णन की ओर अपना विशेप ध्यान नहीं दे पाया है। फिर भी जैसा वस्तु-वर्णन है वह अति सुन्दर है। कवि ने राजसी ठाट-वाट, साज-सज्जा आदि का वड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया है। कवि ने राजाओं की रुचिनुसार महल तथा वारात आदि का सुन्दर वर्णन किया है। सभा, युद्ध, वेशभूषा, इन्द्रभवन के सौन्दर्य आदि का अच्छा वर्णन किया है। कवि ने शकुनों एवं स्वप्नों को विशेप मान्यता दी है। कवि ने सौन्दर्य वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, रूपक एवं अनुप्रास आदि का वड़ी सावधानी से प्रयोग किया है। कवि की सफलता का आधार युद्ध वर्णन है, क्योंकि यह काव्य वीर-रस प्रधान है।

रस-परिपाक—'विजय मुक्तावली' में वीर रस की प्रधानता है। उद्योग पर्व के पश्चात् तो युद्धों का ही वर्णन मिलता है। कवि ने युद्ध वर्णन में कुछ भी कमी नहीं आने दी। भीम का पाताल में युद्ध वड़ी सजीवता और स्वाभाविकता के साथ हुआ है। अभिमन्यु वालक का चक्रव्यूह तोड़ना वड़ा ही सुन्दर वन पड़ा है। वीर-रस के पश्चात

कथानक—लाल एक राज दरबारी कवि होने के नाते इन्होंने अपने आश्रयदाता का प्रशस्ति गान किया है। छत्र प्रकाश छब्बीस अध्यायों में वर्णित काव्य है। कवि इतिहास को छोड़कर कल्पना में अधिक रम गया है। काव्य में युद्ध आदि का सजीव वर्णन मिलता है इसके साथ ही साथ विवाहोत्सव, जन्मोत्सव तथा शैशव क्रीड़ाओं का समुचित विवेचन है।

चरित्र-चित्रण—छत्र प्रकाश एक ऐतिहासिक काव्य है इसलिए कवि ने ऐतिहासिक घटनाओं की ओर अधिक ध्यान दिया है अतः चरित्र-चित्रण में विशेष निखार नहीं आ पाया। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से चम्पतिराय और छत्रसाल दो ही प्रमुख पात्र हैं—

चम्पतिराय—काव्य के नायक छत्रसाल के पिता हैं। वे एक वीर पुरुष हैं तथा अपनी शक्तिके वल पर ही उन्होंने अपने खोये हुए बुन्देलखण्ड राज्यको पुनः अर्जित किया। उनकी वीरता का सभी लोग लोहा मानते हैं। युद्ध प्रियता और युद्ध कुशलता उनकी विशेषता है। चम्पतिराय एक उदार व्यक्ति भी हैं जिसका परिचय वे स्वयं वादशाह औरंगजेब से प्रार्थना करके सहारा नरेश इन्द्रमणि को कारागृह से मुक्त कराते हैं। वे अपने जाति भाइयों का खून बहाना पसन्द नहीं करते तथा क्षत्रियत्व की मर्यादा का सदैव ध्यान रखते हैं। वे नियमी और ईश्वर भक्त व्यक्ति हैं।

छत्र-साल—ये चम्पतिराय के पुत्र और काव्य के नायक हैं। उन्हें वाल्यकाल्य से ही युद्ध विद्या में निपुण किया गया था। युद्ध कुशलता के साथ-साथ उनमें भगवद्-भक्ति भी वचपन से ही दिखाई पड़ती है। उनकी भक्ति से प्रभावित होकर गोविन्द की पाषाण मूर्ति भी विगलित हो जाती है और उनके सामने नृत्य करने लगती है। धैर्य और पुरुषार्थ छत्रसाल की वीरता का सम्वल है। वीरों, हिन्दुत्व और स्वतन्त्रता के लिए उनके हृदय में पर्याप्त अनुराग है। उदारता में छत्रसाल अद्वितीय हैं। वे पर्याप्त बुद्धिमान व्यक्ति हैं। चम्पतिराय और छत्रसाल के अतिरिक्त छत्र प्रकाश में पहाड़सिंह, भीम बुन्देला, नारी पात्रों में माता लालकुंवरि और हीरादेवी आदि सहायक पात्र हैं जिनका विशेष महत्व नहीं है।

प्रकृति-चित्रण—कवि लाल के हृदय में प्रकृति के प्रति अनुराग नहीं जान पड़ता है। यदि वे चाहते तो छत्रसाल के आखेट और शिवाजी के पास जाने वाली यात्रा के प्रसंग में पर्याप्त प्रकृति चित्रण कर सकते थे, किन्तु उन्होंने अत्यन्त उदासीनता का ही प्रदर्शन किया है। केवल एक स्थान पर प्रभात का वर्णन मिलता है। कवि ने एक स्थल पर कुंज का वर्णन भी किया है।

वस्तु-वर्णन—कवि ने इतिवृतात्मकता के अतिरिक्त अन्य किसी की ओर ध्यान ही नहीं दिया है। इसीलिए वस्तु-वर्णन की दृष्टि से छत्र-प्रकाश सफल काव्य नहीं है। कवि ने आवश्यक वस्तुओं यथा रण सज्जा, सैन्य संचालन, शस्त्रास्त्र आदि का भी समुचित वर्णन नहीं किया है। युद्ध वर्णन ही कवि ने विस्तार और रुचि से किया है।

२८
रस सम्प्रदाय

१. व्युत्पत्ति और अर्थ।
२. भरतमुनि का रस विवेचन।
३. रस-निष्पत्ति।
४. रस-स्वरूप और गुण।
५. रस और साधारणीकरण।
६. साधारणीकरण की उपयोगिता।
७. रस-भेद।
८. रस-दोष।
९. रस-मैत्री।
१०. रस-विरोध।
११. रसाभास।
१२. उपसंहार।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में काव्य के जिन मूल मानों या काव्य की आत्मा को लेकर जिन सम्प्रदायों ने जन्म लिया उन सब में रस सम्प्रदाय सबसे प्राचीन और प्रमुख है। इसके जन्मदाता या रस-सिद्धांत का प्रतिपादन करने वालों में सर्वप्रथम भरतमुनि का नाम उल्लेखनीय है।

रस : व्युत्पत्ति और अर्थ—संस्कृत वैयाकरणों ने रस की दो व्युत्पित्तियां दी हैं—

१. 'रस्यते इति रसः' अर्थात् जिसका आस्वादन किया जा सके या जो आस्वाद हो सके वह रस है।

२. 'सरते इति रसः' अर्थात् जो बहे वह रस है।

इस प्रकार संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार रस के सम्बन्ध में दो बातें ज्ञात होती हैं। एक तो यह कि रस द्रवणशील होता है और दूसरी यह कि यह स्वाद-युक्त होता है। जहां तक रस शब्द के अर्थ का प्रश्न है, तो यही कहना सुलभ होगा कि यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए वेदों में 'रस' को सोमरस के लिए प्रयुक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में उसे मधु का पर्याय माना गया है—'रसो वै मधु।' उपनिषदों में रस को चिदानन्द प्रकाश (रसः सारः चिदानन्द प्रकाश) कहते हुए, उसे

चम्पतिराय के रणकौशल एवं छत्रसाल की वीरता का कवि ने स्वच्छन्द वर्णन किया है। जलक्रीड़ा एवं बाल सौंदर्य का वर्णन भी मनमोहक ढंग से किया है।

रस-परिपाक—लाल कवि का 'छत्र-प्रकाश' वीर-रस प्रधान काव्य होते हुए भी नीरस ही है। कवि युद्ध वर्णन को छोड़कर अन्य वीर रसात्मक स्थलों की सफल व्याख्या नहीं कर पाया है। रस-परिपाक हृदय को प्रभावित नहीं कर सका है। रौद्र, वीभत्स तथा भयानक रसों का प्रयोग भी कवि नहीं कर पाया है जब कि उसे ऐसा करने का पर्याप्त अवसर मिला है। एक जगह वीभत्स और शान्त रस का उल्लेख मिलता है। वात्सल्य और एक स्थान पर करुणरस का भी छत्र प्रकाश में वर्णन मिलता है।

कलापक्ष—कवि लाल ने छत्र-प्रकाश की भाषा साधारण बोल-चाल की व्रजभाषा ही रखी है। इसके अतिरिक्त अरबी-फारसी, अवधी, बुन्देलखण्डी आदि के शब्दों का भी समुचित प्रयोग किया गया है। संस्कृत के तद्भव और तत्सम शब्द भी पाये जाते हैं। भाषा की सरलता के लिए देशज भाषा, अर्थ स्पष्टि के लिए मुहावरों एवं लोकोक्तियों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है।

कवि ने अनुप्रास अलंकार के अलावा अन्य अलंकारों का न के बराबर प्रयोग किया है। पुनरुक्ति प्रकाश, छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास का भी उल्लेख किया गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के प्रयोग में भी सावधानी बरती है।

छन्द-विधान एवं काव्य रूप—'छत्र-प्रकाश' की रचना कवि लाल ने दोहा और चौपाई छंदों में ही की है। कवि ने अपने छंद को पदाकुलक नाम दिया है। आठ अर्धालियों के बाद एक दोहे का प्रयोग किया गया है।

डा० टीकमसिंह तोमर के अनुसार छत्र प्रकाश एक महाकाव्य है। पर छत्र प्रकाश कहीं भी महाकाव्यीय कसौटी पर खरा नहीं उतरता। न तो उसमें चरित्र चित्रण ही है, न ही रस-परिपाक, प्रकृति चित्रण और वस्तु वर्णन का सर्वथा अभाव है। छत्र-प्रकाश गायक की दृष्टि से अवश्य सफल है। छत्र-प्रकाश की शैली भी प्रौढ़पूर्ण नहीं है।

२८

रस सम्प्रदाय

१. व्युत्पत्ति और अर्थ ।
२. भरतमुनि का रस विवेचन ।
३. रस-निष्पत्ति ।
४. रस-स्वरूप और गुण ।
५. रस और साधारणीकरण ।
६. साधारणीकरण की उपयोगिता ।
७. रस-भेद ।
८. रस-दोष ।
९. रस-मैत्री ।
१०. रस-विरोध ।
११. रसाभास ।
१२. उपसंहार ।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में काव्य के जिन मूल मानों या काव्य की आत्मा को लेकर जिन सम्प्रदायों ने जन्म लिया उन सब में रस सम्प्रदाय सबसे प्राचीन और प्रमुख है। इसके जन्मदाता या रस-सिद्धांत का प्रतिपादन करने वालों में सर्वप्रथम भरतमुनि का नाम उल्लेखनीय है।

रस : व्युत्पत्ति और अर्थ—संस्कृत वैयाकरणों ने रस की दो व्युत्पित्तियां दी हैं—

१. 'रस्यते इति रसः' अर्थात् जिसका आस्वादन किया जा सके या जो आस्वाद हो सके वह रस है।

२. 'सरते इति रसः' अर्थात् जो वहे वह रस है।

इस प्रकार संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार रस के सम्बन्ध में दो बातें ज्ञात होती हैं। एक तो यह कि रस द्रवणशील होता है और दूसरी यह कि यह स्वाद-युक्त होता है। जहां तक रस शब्द के अर्थ का प्रश्न है, तो यही कहना सुलभ होगा कि यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए वेदों में 'रस' को सोमरस के लिए प्रयुक्त किया गया है। क्षतपथ ब्राह्मण में उसे मधु का पर्याय माना गया है—'रसो वै मधु।' उपनिषदों में रस को चिदानन्द प्रकाश (रसः सारः चिदानन्द प्रकाश) कहते हुए, उसे

ब्रह्मानन्द कहा गया है। रामायणकार के मतानुसार अमृत या पेय पदार्थ को रस कहते हैं। महाभारत में जल, गन्ध, पेय, सुरा, काम, स्नेह आदि विभिन्न अर्थों में 'रस' शब्द को ग्रहण किया गया है। आयुर्वेद में 'रस' षटरसों के लिए प्रयुक्त होता है।

लेकिन साहित्य-शास्त्रियों ने रस को जिस अर्थ में प्रयुक्त किया है वह इन सबसे भिन्न है। जिसे विद्वान काव्य-रस, या साहित्य-रस कहते हैं, वह स्वरूप, अर्थ, गुण और प्रभावादि की दृष्टि से इन सबसे एकदम भिन्न है। वैसे वाल्मीकि रामायण के बाल-काण्ड में काव्यगत नव रसों का उल्लेख मिलता है, किन्तु गवेषक विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि काव्य-रसों का यह विवेचन प्रक्षिप्त है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वेदों से लेकर महाभारत काल तक काव्य-रस जैसे किसी पारिभाषिक शब्द से भारतीय चिन्तनधारा नितान्त अनभिज्ञ थी।

काव्य-रस—काव्य-रस का विवेचन सर्वप्रथम भरतमुनि ने किया। वैसे नन्दिकेश्वर द्वारा नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस धारणा के—नाटक में जो आनन्द होता है वह ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर होता है—आधार पर राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्य-मीमांसा में लिखा है कि नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा की आज्ञा से सर्वप्रथम रस का निरूपण किया था। लेकिन यह नाटक-रस क्या होता है? कैसा होता है? इस सब का भरतमुनि के पूर्व कोई शास्त्रीय विवेचन नहीं मिलता है।

भरतमुनि का रस-विवेचन—भरतमुनि रस-सिद्धांत के आदि आचार्य, मूल प्रवर्तक और रस सम्प्रदाय के जनक हैं। उनका निम्नलिखित रस सम्बन्धी सूत्र बहुत महत्वपूर्ण है—

"विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगा रसनिष्पत्तिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों (संचारी भावों) के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। रस-सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए यह सूत्र एक गुरुमन्त्र के समान है और वास्तव में यह सूत्र है भी महत्वपूर्ण। लेकिन इस सूत्र में कुछ ऐसे अभाव हैं जिनके कारण रस के सर्वाङ्गीण स्वरूप को नहीं पहचाना जा सकता।

भाव—'वागंगसत्वायेतान काव्यार्थान भावयंतीति भावा' के अनुसार जो वाणी अंग और अनुभूति के द्वारा काव्यार्थों की भावना कराते हैं, उन्हें भाव कहते हैं। ये ही भाव जब विभाव अनुभाव संचारी भावों से संयुक्त होते हैं तब रस की निष्पत्ति होती है।

स्थायी भाव—रति, हास, क्रोध, उत्साह, भय, विस्मय, जुगुप्सा और शोक, हृदय में सदा अवस्थित इन भावों को स्थायी भाव कहा जाता है। ये भाव स्थायी रूप से सदा हृदय में अवस्थित रहते हैं इसीलिए इनको स्थायी भाव कहा गया है।

विभाव—भाव को उद्दीप्त करने वाले उपकरणों को विभाव कहा जाता है। नाट्य-शास्त्री भरतमुनि ने विभाव की परिभाषा देते हुये लिखा है—

"वहवोऽर्था विभान्यत्रे वागंगाभिनयाश्रयाः
अनेन यस्मात्रेनायं विभावभूति कथ्यते।"

अर्थात् जो वाणी और अंगों के आश्रय में बहुत से अर्थों का अनुभव कराते हैं, उन्हें विभाव कहा जाता है। आचार्यों ने विभाव के दो भेद दिये हैं—

१. **आलम्बन विभाव**—सुषुप्त भावों को जाग्रत कराने वाले उपादानों को आलम्बन विभाव कहा जाता है। यह आलम्बन विभाव दो प्रकार का होता है—विषयालम्बन विभाव और आश्रयालम्बन विभाव।

२. **उद्दीपन विभाव**—सुषुप्त भावों को आलम्बन विभाव के द्वारा जाग्रत अवस्था तक पहुँचाने के पश्चात् जो उन्हें उद्दीप्त करते हैं, उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं।

अनुभाव—अनु उपसर्ग पीछे के अर्थ का द्योतक है। इसलिये अनुभाव का अर्थ भाव के पीछे होने वाला हुआ। दूसरे शब्दों में भाव और अनुभाव में कारण-कार्य का सम्बन्ध होता है। आचार्यों के शब्दों में 'अनुभावयति इति अनुभावाः' या 'अनुभावो विकारस्तु भाव संसूचनात्मकः' यानी भाव की सूचना देने वाले या उसका अनुभव कराने वाले अनुभाव कहे जाते हैं। ये अनुभाव चार प्रकार के माने गये हैं—

१. कायिक—प्रयत्नज वाह्य आंगिक चेष्टायें।
२. मानसिक—कथोपकथन आदि।
३. आहार्य—वेष-भूषा आदि।
४. सात्विक—सहज आन्तरिक शारीरिक विकार।

सात्विक भाव आठ प्रकार के होते हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वर-भंग, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वेद, रोमांच, प्रलय।

भरतमुनि तथा अन्य रस-सिद्धांती आचार्यों के मतानुसार उपर्युक्त तत्व सम्मिश्रित होकर रस की निष्पत्ति करते हैं या इनके संयोग से रस निष्पन्न होता है, रस की निष्पत्ति होती है।

३. रस आनन्द-स्वरूप होता है लेकिन अनुमान के द्वारा अनुकार्य के भावों का ही अनुभव सदा आनन्ददायी नहीं हो सकता। शोक, घृणा, क्रोध आदि भावों के अनुमान से आनन्द कैसे प्राप्त किया जा सकता है? भवभूति जैसे महान् कवियों की करुण-रस वाली कृतियों को पढ़ कर कौन आनन्दित होगा?

४. हमारे पूज्य सांस्कृतिक सीता आदि पात्रों के प्रति रति से भी कौन आनन्द का अनुभव कर सकता है?

५. भट्टलोल्लट ने शंकुक के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि इस मत का सबसे बड़ा अभाव यह है कि अनुमान के लिए किसी कारण का होना आवश्यक है किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से अनुमान का कोई अस्तित्व नहीं होता और यदि होता भी हो तो भी अनुमान कभी आनन्दमय नहीं हो सकता। जिस प्रकार मन के लड्डू खाने से भूख नहीं बुझती उसी प्रकार घोड़े के चित्र को घोड़ा मानकर उस पर चढ़ कर नहीं जाया जा सकता। फिर कल्पना से ही आनन्द की प्राप्ति क्यों कर हो सकती है?

३. भट्टनायक (मुक्तिवाद)—भट्टनायक सांख्यवादी थे। उन्होंने विभावादि और रस में भोजक-भोज्य का सम्बन्ध मानते हुए संयोग का अर्थ भोजकत्व और निष्पत्ति का अर्थ मुक्ति माना है। उनके मतानुसार अनुभव और स्मृति के बिना रस की प्रतीति नहीं की जा सकती।

भट्टनायक ही पहले व्याख्याकार हैं, जिन्होंने सामाजिक में रस की स्थिति को स्वीकार किया। उन्होंने विभावादि के संयोग से स्थायी भाव को रस की संज्ञा से मण्डित करने वाली तीन शक्तियों के सहयोग की कल्पना की—

१. **अभिधा**—इसके द्वारा शब्दार्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् सामाजिक सबसे पहले यह जान लेता है कि यह राम है, यह सीता है।

२. **भावकत्व**—इसके द्वारा विभावादि और स्थायी भाव मेरे-पराये या शत्रु-मित्र अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष के न रह कर सर्व साधारण के बन कर उपभोग्य हो जाते हैं। अर्थात् अभिधा के द्वारा ज्ञात किसी व्यक्ति विशेष के भाव साधारणीकृत हो जाते हैं।

३. **भोजकत्व**—भोजकत्व के द्वारा साधारणीकृत भाव रस रूप में मुक्त किये जाते हैं। इस शक्ति के द्वारा भाव दुर्गुण तथा विकार रहित होकर सतोगुण से युक्त होकर आनन्ददायक बन जाता है।

निष्कर्ष—१. भट्टनायक की सबसे महान् उपलब्धि साधारणीकरण है।

१. भट्टनायक ने तीन शक्तियों के द्वारा पूज्य पात्रों के प्रति रति तथा पात्रों के शोक परक भावों से भी आनन्दानुभूति कैसे होती है, इस प्रश्न का उत्तर बड़ी संजी-दगी के साथ दिया है।

उत्तर दिया जा सकता है कि जब प्रेक्षक ने मूल अनुकार्य को देखा ही नहीं तो अनुकर्त्ता के अभिनय से उस पर आरोप किस तरह किया जा सकता है ? स्थायी भाव के अभाव में अनुकर्त्ता के माध्यम से चमत्कार से हुई आनन्दानुभूति किस प्रकार अलौकिक और मिथ्या से रहित कही जा सकती है ?

२. रस को कार्य मान लेना भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कार्य-कारण के पश्चात् भी विद्यमान रहता है, लेकिन विभावादि के पश्चात् रस नहीं रहता। दूसरे विभावादि का दर्शन और रसानुभूति दोनों साथ-साथ होते हैं, लेकिन कारण-कार्य में पूर्वापर सम्बन्ध आवश्यक रूप से रहा करता है।

३. नट द्वारा अनुकार्य के भावों का अनुकरण करने की बात भी बुद्धि-ग्राह्य नहीं है। वेष-भूषा और शारीरिक चेष्टाओं का अनुकरण तो सम्भव माना जा सकता है, लेकिन अनुकार्य के भावों का अनुकर्त्ता द्वारा अनुकरण कैसे किया जा सकता है, या किस प्रकार किया जाता है ? यह स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता। संक्षेप में भट्ट-लोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद निर्विवाद रूप से त्रुटिपूर्ण है।

२. **शंकुक (अनुमितिवाद)**—शंकुक नैयायिक थे। आपने भट्टलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए न्याय के आधार पर अनुमितिवाद की प्रतिष्ठापना की। शंकुक के मतानुसार निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति और विभावादि तथा रस के परस्पर कारण-कार्य या उत्पादक-उत्पाद्य का सम्बन्ध न होकर अनुमायक-अनुमाप्य का सम्बन्ध होता है। वैसे भट्टलोल्लट की भांति श्री शंकुक भी रस की मूल स्थिति अनुकार्य में ही मानते हैं लेकिन वे विभावादि को रस के जनक या ज्ञापक न मानकर अनुमायक मानने का आग्रह करते हैं। चित्र-तुरङ्ग न्याय के द्वारा सामाजिक अनुकर्त्ता में अनुकार्य का अनुमान करके रसानुभव करता है। अनुमानक या सामाजिक अनुमान्य या अनुकर्त्ता के अनुभवों के द्वारा अनुकार्य का अनुमान करके चमत्कृत हो जाता है और आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार विभावादि और रस के बीच गमक-गम्य का सम्बन्ध होता है।

निष्कर्ष—१. विभावादि अनुमायक, गमक या अनुमान कराने वाले होते हैं और रस अनुमात्य, गम्य या अनुमिति किये जाने वाला होता है।

२. अनुकार्य का अनुमान चित्र-तुरङ्ग न्याय के आधार पर अनुमानक के द्वारा अनुमान्य के अभिनय-कौशल से चमत्कृत होकर किया जाता है।

३. यह अनुमिति है, रसानुभूति कराती है। मूल-भाव अनुकार्य में ही स्थित होता है।

शंकुक के मत की त्रुटियां, दोष और अभाव—१. सामाजिक को शंकुक भी भट्टलोल्लट की भांति गौण-स्थान प्रदान करते हैं।

२. अनुमान बुद्धि जनित होता है जब कि रस का सम्बन्ध मन से होता है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह मत उचित नहीं कहा जा सकता।

३. रस आनन्द-स्वरूप होता है लेकिन अनुमान के द्वारा अनुकार्य के भावों का ही अनुभव सदा आनन्ददायी नहीं हो सकता। शोक, घृणा, क्रोध आदि भावों के अनुमान से आनन्द कैसे प्राप्त किया जा सकता है? भवभूति जैसे महान् कवियों की करुण-रस वाली कृतियों को पढ़ कर कौन आनन्दित होगा?

४. हमारे पूज्य सांस्कृतिक सीता आदि पात्रों के प्रति रति से भी कौन आनन्द का अनुभव कर सकता है?

५. भट्टलोल्लट ने शंकुक के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि इस मत का सबसे बड़ा अभाव यह है कि अनुमान के लिए किसी कारण का होना आवश्यक है किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से अनुमान का कोई अस्तित्व नहीं होता और यदि होता भी हो तो भी अनुमान कभी आनन्दमय नहीं हो सकता। जिस प्रकार मन के लड्डू खाने से भूख नहीं बुझती उसी प्रकार घोड़े के चित्र को घोड़ा मानकर उस पर चढ़ कर नहीं जाया जा सकता। फिर कल्पना से ही आनन्द की प्राप्ति क्यों कर हो सकती है?

३. भट्टनायक (मुक्तिवाद)—भट्टनायक सांख्यवादी थे। उन्होंने विभावादि और रस में भोजक-भोज्य का सम्बन्ध मानते हुए संयोग का अर्थ भोजकत्व और निष्पत्ति का अर्थ मुक्ति माना है। उनके मतानुसार अनुभव और स्मृति के बिना रस की प्रतीति नहीं की जा सकती।

भट्टनायक ही पहले व्याख्याकार हैं, जिन्होंने सामाजिक में रस की स्थिति को स्वीकार किया। उन्होंने विभावादि के संयोग से स्थायी भाव को रस की संज्ञा से मण्डित करने वाली तीन शक्तियों के सहयोग की कल्पना की—

१. **अभिधा**—इसके द्वारा शब्दार्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् सामाजिक सबसे पहले यह जान लेता है कि यह राम है, यह सीता है।

२. **भावकत्व**—इसके द्वारा विभावादि और स्थायी भाव मेरे-पराये या शत्रु-मित्र अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष के न रह कर सर्व साधारण के बन कर उपभोग्य हो जाते हैं। अर्थात् अभिधा के द्वारा ज्ञात किसी व्यक्ति विशेष के भाव साधारणीकृत हो जाते हैं।

३. **भोजकत्व**—भोजकत्व के द्वारा साधारणीकृत भाव रस रूप में मुक्त किये जाते हैं। इस शक्ति के द्वारा भाव दुर्गुण तथा विकार रहित होकर सतोगुण से युक्त होकर आनन्ददायक बन जाता है।

निष्कर्ष—१. भट्टनायक की सबसे महान् उपलब्धि साधारणीकरण है।

१. भट्टनायक ने तीन शक्तियों के द्वारा पूज्य पात्रों के प्रति रति तथा पात्र के शोक परक भावों से भी आनन्दानुभूति कैसे होती है, इस प्रश्न का उत्तर बड़ी संजीदगी के साथ दिया है।

३. भट्टनायक ने ही सर्वप्रथम सामाजिक को महत्व प्रदान किया।

भट्टनायक के मत में त्रुटियां, दोष और अभाव—१. अभिनव गुप्त के मतानुसार 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' इन दोनों व्यापारों का कोई प्रामाणिक, युक्ति-युक्त आधार नहीं मिलता।

२. भावकत्व तो भावों की अपनी विशेषता अपना निजी गुण है और भोजकत्व रस-निष्पत्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। तात्पर्य यह है कि ये दोनों व्यापार भट्टनायक के द्वारा उचित रूप में ग्रहण नहीं किये गये।

४. अभिनव गुप्त (अभिव्यक्तिवाद)—अभिनव गुप्त ने वेदान्त के आधार पर अपने मत का प्रचलन किया। उन्होंने भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व क्रियाओं को काल्पनिक बताते हुए व्यंजना को उचित ठहराया। श्री गुप्त के मतानुसार विभावादि व्यंजक और रस व्यंग्य हैं। अर्थात् संयोग का अर्थ व्यंजित होना और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति, प्रकाशित होना है। इस प्रकार श्री गुप्त के अनुसार भरत-सूत्र का यह अर्थ हुआ कि विभावादि के व्यंजित होने पर रस-अभिव्यक्ति होती है।

अभिनव गुप्त यह मानते हैं कि भाव, वासना या संस्कार के रूप में मनुष्य-मात्र के हृदय में सदा विद्यमान रहते हैं। ये प्रायः सुषुप्तावस्था में रहते हैं और सामान्य अवस्था में मनुष्य को उनकी अनुभूति नहीं होती, लेकिन किसी कारण विशेष की प्रतिक्रिया स्वरूप वे जागृत होकर व्यक्तावस्था में आ जाते हैं और तभी रस अभिव्यक्त होता है।

निष्कर्ष—१. *अभिनव गुप्त रस की निष्पत्ति सहृदय में मानते हैं।*

२. सामाजिक के हृदय में स्थायी भाव वासना या संस्कार के रूप में अनुद्-बुद्धावस्था में रहते हैं।

३. विभावादि से उद्बुद्ध होकर, व्यक्तावस्था को उसी प्रकार प्राप्त हो जाते हैं जिस प्रकार जल के छींटों से मिट्टी की अव्यक्त गन्ध व्यक्त हो जाती है।

४. मनुष्य सहृदय तीन प्रकार से बन सकता है—अभ्यास से, सांसारिक अनुभव से, पूर्व जन्म के संस्कारों से।

५. रसानुभूति भाव के साधारणीकरण के द्वारा ही होती है।

अभिनव गुप्त के मत की समीक्षा—वैसे सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये जो अभिनव गुप्त का मत भट्टनायक के मत से बहुत दूर का प्रतीत नहीं होता। भट्टलोल्लट की भांति श्री गुप्त भी रसानुभूति सामाजिक में मानते हैं, साधारणीकरण को स्वीकार करते हैं, भाव से तमोगुण, रजोगुण का लोप होने पर सत्वगुण ही शेष रह जाने के मत को ज्यों की त्यों श्री गुप्त ने ग्रहण कर लिया है।

लेकिन अभिनव गुप्त ने भट्टनायक की भांति तीन व्यापारों के पश्चात् रस निष्पत्ति न मानकर भाव को पहले से ही सामाजिक के हृदय में स्थित मानते हुए

व्यंजना तथा ध्वनि की प्रतिष्ठापना की है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में श्री गुप्त का मत ही आगे चल कर अधिक मान्य हुआ।

कतिपय अन्य विद्वानों के मत

धनंजय—धनंजय ने रस निष्पत्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और संचारी भावों के द्वारा स्थायी भाव आस्वाद बना दिया जाने पर, हो जाने पर रस की संज्ञा ग्रहण करता है, रस कहलाता है।

धनंजय रस की निष्पति सहृदय में ही मानते हैं क्योंकि काव्य का मुख्य प्रयोजन सहृदय को रसास्वादन कराना होता है। नट तो केवल अनुकरण करता है और अनुकार्य का सम्बन्ध भूतकाल से होता है, इन्हें रस चर्वणा हो ही नहीं सकती। अतः सामाजिक में ही रस निष्पन्न होता है। अभिनय कौशल के द्वारा पाठक या दर्शक इतना तन्मय हो जाता है कि सीता का सीतात्व अपने आप लुप्त हो जाता है और वह एक साधारण स्त्रीमात्र रह जाती है।

पण्डित जगन्नाथ—पंडित जी रस को आत्मानन्द मानते हैं। रस चैतन्य स्वरूप है। उस पर अज्ञान और तमो-रजोगुण का आवरण नहीं होता।

मम्मट—मम्मट के अनुसार काव्य के श्रवण, पठन या दर्शन से सहृदय के हृदय में छिपे हुए, दबे हुए भाव उद्बुद्ध या उमड़कर रस बन कर आनन्द-दायक हो जाते हैं।

विश्वनाथ—विश्वनाथ ने अनुभावन और संचरण नामक दो क्रिया व्यापारों की उद्भावना करते हुए अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि अनुभावन भाव को एक ऐसे रूप में परिणित कर देते हैं जिसे विभावन आस्वादन के योग्य बना देते हैं और फिर संचारण आस्वाद-योग्य भाव का चारण करते हुए रस बना देता है। विश्वनाथ के मतानुसार अनुकार्य, अनुकर्ता, और सामाजिक सभी को एक जैसी रसानुभूति हुआ करती है।

रस का स्वरूप और गुण—संस्कृत-काव्य-शास्त्र में रस के स्वरूप और गुणों को लेकर पर्याप्त विश्लेषण किया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ का संश्लिष्ट मत विशेष रूप से उपादेय है—

सत्त्वोद्रेका खण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्ययः।
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः॥
लोकोत्तर चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवद भिन्न त्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

अर्थात्—

१. रस सत्वगुण से युक्त होता है। इसमें 'अयं निजः परोवा' की भावना और तमोगुण, रजोगुण विनष्ट हो जाते हैं।

२. रस अखण्ड होता है, क्योंकि इसमें विभावादि की पृथक्-पृथक सत्ता नहीं रहती।

३. रस स्वप्रकाशानन्द है। इसके लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती।

४. रस चिन्मय है। अर्थात् चित्मय यानी इच्छा और ज्ञान से युक्त है।

५. रस वेद्यान्तर स्पर्श-शून्य है। अर्थात् वह ज्ञाप्य नहीं है।

६. रस ब्रह्मानन्द सहोदर है, अलौकिक है अनिर्वचनीय है।

७. रस में चित्त-विस्तार, मनोविकास होता है अतः यह लोकोत्तर चमत्कार से युक्त है।

८. रस में ज्ञाता, गेय और ज्ञान में अभेद स्थापित हो जाता है।

डा० भगवानदीन जैसे विद्वान् रस को अलौकिक नहीं मानते क्योंकि काव्य, नट, रस सब कुछ लोक में ही होते हैं, परन्तु डा० श्यामसुन्दरदास इस तर्क से सहमत नहीं हैं। आपके मतानुसार अलौकिक का अर्थ अतीन्द्रिय, पारलौकिक या लोक-बाध्य नहीं है। रस केवल इसलिए अलौकिक है, क्योंकि रसानुभव के कार्य कारण साधारण और लौकिक नहीं होते, उनका अनुभव मधुमति भूमिका में होता है। अलौकिक का सही अंग्रेजी पर्याय 'सुपरनेचुरल' या 'एक्सट्रा ऑर्डिनरी' न होकर 'सुपर सेन्सस' (पर प्रत्यक्ष-गम्य) है।

रस और साधारणी-करण

साधारणी-करण की परिभाषा—किसी विशेष का सामान्य हो जाना ही साधारणीकरण है। भट्टनायक साधारणीकरण के जन्मदाता हैं। उन्होंने अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व में से भावकत्व के द्वारा जो क्रिया सम्पन्न होती है उसे साधारणीकरण कहा है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार किसी भाव विशेष के विषय को इस रूप में लाया जाना कि वह सब के उसी भाव का आलम्बन हो जाय, साधारणीकरण कहलाता है।

दूसरे शब्दों में 'साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय, पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।' यही साधारणीकरण है।

साधारणीकरण किसका ?—कवि की अनुभूति, आलम्बन, आश्रय, विभाव-अनुभाव में से किसका साधारणीकरण होता है, इस सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं।

साधारणीकरण के जन्म-दाता भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त ने स्थायी भाव और विभावानुभाव आदि का साधारणीकरण माना है। यह ऊपर भली-भांति हम स्पष्ट कर चुके हैं।

आचार्य शुक्ल आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने एक शर्त और रखी है कि आलम्बन ऐसा होना चाहिए कि वह सब के भाव का आलम्बन बन सके। शुक्ल जी के इस मत के सम्बन्ध में कुछ शंकाएं उठाई गई हैं—पूज्य आलम्बनों के प्रति रति-भाव सहृदय को किस प्रकार आनन्दित कर सकता है? शुक्ल जी ऐसे अवसर पर आलम्बन के समान धर्म वाली किसी मूर्ति के आगमन की कल्पना करते हैं। लेकिन यह मूर्ति चूंकि प्रत्येक सहृदय की अपनी विशेष होगी फिर आलम्बन सब का आलम्बन कैसे हो सकता है? यहां शुक्ल जी आलम्बन के स्थान पर 'साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है' यह कह कर समस्या का समाधान करते हैं। इसी प्रकार वे रसात्मकता की मध्यमकोटि और मानते हैं। यह वहां होती है जहां कोई दुष्ट आश्रय आलम्बन के प्रति क्रोध, घृणा करता है जैसे रावण का राम के साथ व्यवहार। "ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा।" कहने का तात्पर्य यह है कि आलम्बन के साधारणीकरण में शुक्ल जी को सभी कठिनाइयों का पता तो था, लेकिन उनका वैयक्तिक समाधान वे इस रूप में नहीं कर सके कि वह सबका समाधान हो जाये। शुक्ल जी के मत का खण्डन करते हुए पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है—"....स्पष्ट है कि वे आलम्बनत्व धर्म को प्रधानता देते हैं और स्पष्ट कहते भी हैं कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। इस दशा में वे अपरिमित को परिमित बना देते हैं, विस्तृत को संकुचित कर देते हैं। क्या रसोद्बोध में आलम्बन ही आलम्बन है? यदि अनुभाव विपरीत हो तब? शोकातुर व्यक्ति को ताल-लय से मंच पर गाना गाते देख सभी शोक ग्रस्त हो सकते हैं? यहां तो शोक भाव का आलम्बन सभी का आलम्बन तो है और उससे साधारणीकरण भी होता है। पर उसके अनुभाव से सभी का साधारणीकरण नहीं हो सकता।" शुक्ल जी के द्वारा आलम्बन और आश्रयों का समय अवस्था के अनुकूल परिवर्तन और रस की उत्तम, मध्यम आदि कोटियां न तो शास्त्रीय दृष्टि से सही हैं और न मनोविज्ञान की दृष्टि से ही।

डा० श्यामसुन्दरदास योग की मधुमति भूमिका का साधारणीकरण मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में "जब तक सांसारिक वस्तुओं का अपर प्रत्यक्ष होता है तब तक शोचनीय पदार्थ के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अपनी अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है. परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का पर प्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएं हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बन कर उपस्थित होती हैं उस समय दुःखात्मक क्रोध,

शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़ कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनव गुप्त पादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नहीं।" शब्द अर्थ तथा ज्ञान की पृथक-पृथक प्रतीति को अपर प्रत्यक्ष और सम्बन्ध सम्बन्धी के विलीनीकरण तथा वस्तु-आभास को पर प्रत्यक्ष कहा जाता है। स्पष्ट है कि डा० साहब का रस-विश्लेषण शास्त्रीय न होकर यौगिक हो गया है। विश्लेषण चाहे जितना अच्छा हो लेकिन हमारी समस्याओं का हल प्रस्तुत करने में असमर्थ है।

डा० नगेन्द्र ने इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया है। डा० नगेन्द्र एक मनोवैज्ञानिक आलोचक हैं इसीलिए उनका मत अधिक विश्वस्त प्रतीत होता है। उन्होंने सूक्ष्म विवेचन करते हुए लिखा है कि "विषय अर्थात् रामादि का रूप अज्ञात् ही रहता है, किन्तु कवि अपनी-अपनी भावना के अनुकूल उसका वर्णन करते हैं। उसी कवि की भावना का साधारणीकरण होता है। पाठक कवि की साधारणीकृत भावना का आस्वादन करता है।....हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं। काव्य का आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है, जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो। वह कवि की मानसी सृष्टि है। अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है जिसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है, बस, इसीलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण....।"

डा० त्रिगुणायत आलम्ब, आश्रय, विभावादि सभी का साधारणीकरण मानते हैं। उनके मतानुसार "सच्चा साधारणीकरण वह होगा जो सर्वाङ्गीण हो। साधारणीकरण की अवस्था में विभावादि तो साधारणीकृत होते ही हैं, पाठक आश्रय और कवि आदि का तादात्म्य भी अपेक्षित होता है। यह सर्वाङ्गीण तादात्म्य तभी सम्भव हो सकता है जब कवि को सार्वभौमिक, सार्वकालिक अनुभूतियों का ज्ञान हो तथा परम्परागत संस्कारों की रक्षा और निर्वाह में समर्थ हो।"

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डा० नगेन्द्र का मत अधिक समीचीन है। काव्य का कोई भी पक्ष कवि की अनुभूति से शून्य नहीं होता। दूसरे, कवि जिस प्रकार की अनुभूति या जिस भाव की अभिव्यक्ति करता है, काव्य का हर अंग उसी के अनुसार अपने स्वरूप का निर्माण करता हुआ भाव-प्रेषण करता है। अतः काव्य में कवि अनुभूति ही प्रधान होती है। नट का अभिनय, विभावादि, सभी उसी के अनुरूप प्रभाव-युक्त होते हैं। इसलिए साधारणीकरण कवि-अनुभूति का होता है।

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में इसी को तादात्म्य कहा गया है। तादात्म्य की अवस्था में पाठक अपनी आत्म-चेतना को भूल कर स्वयं को किसी पात्र के रूप में अनुभव करने लगता है। चूंकि पात्र कवि की मानसी सृष्टि होता है अतः उससे

तादात्म्य का अर्थ लेखक और पाठक का तादात्म्य है। 'हाउसवन' ने इन्हीं दोनों की भाव-मैत्री को काव्य का प्रमुख उद्देश्य माना है।

साधारणीकरण की उपयोगिता—साधारणीकरण की सबसे बड़ी उपयोगिता अहं का विनाश है, तमोगुण-रजोगुण का लुप्त होना है और सत्वगुण के फलस्वरूप चित्तवृत्ति में एकतानता तथा विषम में सम की स्थापना करना और विशिष्ट को सामान्य बनाना है। श्री गुलाबराय ने लिखा है—

"साधारणीकरण की उपयोगिता काव्यानुशीलन की उपयोगिता है। इसके द्वारा हमारी सहानुभूति विस्तृत हो जाती है। हम एक दूसरे के साथ भाव-तादात्म्य करना सीखते हैं। हमारे भावों का परिष्कार होकर उनका पारस्परिक सामंजस्य भी होने लगता है। शृङ्गार, जो लौकिक अनुभव में विषयानन्द का रूप धारण कर लेता है काव्य में परिष्कृत हो आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। काव्यानुशीलन करने वाले की रति भी सात्विकोन्मुखी हो जाती है। शास्त्र-वर्णित रति में पारस्परिक आत्म-त्याग द्वारा पूर्ण तादात्म्य की भावना पर बल दिए जाने के कारण सात्विकता आ जाती है। वैयक्तिक कटुता और तीव्रता से शून्य मनोवेगों के ही सामंजस्य की आशा रहती है।"

रस-भेद

रस-शास्त्रियों ने रस के नौ भेद माने हैं, जिनका क्रमशः शास्त्रीय विवेचन इस प्रकार किया गया है—

१. शृङ्गार

(क) व्युत्पत्ति—शृङ्गार दो शब्दों से बना है—शृङ्ग + आर। शृङ्ग का अर्थ कामोद्रेक है। 'आर' शब्द में 'ऋ' धातु है जिसका अर्थ होता है—प्राप्ति। इस प्रकार शृङ्गार का अर्थ हुआ—कामोद्रेक की प्राप्ति।

(ख) परिभाषा—साहित्य दर्पणकार के मतानुसार कामोद्रेक के कारण उत्पन्न उत्तम प्रकृति से युक्त रस, शृङ्गार कहलाता है। भरतमुनि के मत से इस लोक में जो कुछ पावन, उज्ज्वल और दर्शनीय है वही शृङ्गार है। यह शृङ्गार रस की बड़ी सूक्ष्म किन्तु व्यापक परिभाषा है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विभावादि से पुष्ट रति-भाव ही शृङ्गार रस है।

(ग) शृंगार रस का रसराजत्व—शृंगार सब रसों का राजा है, शास्त्रविदों का ऐसा मत है। इसके प्रमुख कारण ये हैं—

(१) अग्नि पुराण के अनुसार परब्रह्म के आदि विकार, अहंकार से उत्पन्न ममता की कोख से सर्वप्रथम रति की उत्पत्ति हुई। इसके बाद तीक्ष्णता से रौद्र, गर्व से वीर, संकोच से वीभत्स की सृष्टि हुई। इसके पश्चात शृंगार ही ने हास्य, रौद्र ने करुण, वीर ने अद्भुत और वीभत्स ने भयानक रस सृष्ट हुआ।

(२) रुद्रट के मतानुसार शृंगार रस बाल-वृद्ध में व्याप्त और सबसे सरस होने के कारण सब रसों से श्रेष्ठ है। इसके बिना काव्य नीरस होता है।

(३) इस रस के स्थायी भाव, रति की सीमा में सम्पूर्ण मानव-जीवन समा जाता है। यह भाव मानव ही नहीं अन्य जड़-चेतन में भी होता है। यह एक शाश्वत और सार्वभौमिक भाव है।

(४) शृंगार के आलम्बन विभाव हमारे जैसे ही होने के कारण अनुभूति को आत्मीयता से युक्त कर देते हैं। इसके उद्दीपन विभावों का क्षेत्र अन्य सभी रसों के विभावों से विस्तृत है, क्योंकि देव, मानव, पशु-पक्षी, ऋतु, जड़-जंगम आदि सभी इसके उद्दीपन विभाव हो सकते हैं।

(५) जितने अनुभावों की अभिव्यक्ति इस रस में होती है, उतनी अन्य में नहीं और अनुभावों के साथ हावों का प्रदर्शन तो केवल इसी रस में होता है।

(६) शृंगार रस के संचारी भी अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। देव ने तो तेतीसों संचारियों को शृंगार के अन्तर्गत ग्रहण कर लिया है।

(७) अन्य रस शृंगार के अंगी रस के रूप में आ सकते हैं।

(८) 'रस रत्नाकर' के अनुसार सभी रसों का जन्म शृंगार से ही होता है और अन्त में वे उसी में तिरोहित हो जाते हैं।

(घ) शृंगार रस का शास्त्रीय विश्लेषण—

स्थायी भाव—इसका स्थायी भाव रति है। शास्त्रकारों ने स्त्री-पुरुष के कामाभिभूत हृदय की रमणेच्छा को, मनोनुकूल वस्तु के प्रति प्रमाद को, स्त्री-पुरुष की पारस्परिक प्रेम नामक चित्तवृत्ति को, रति कहा है।

आलम्बन विभाव—इसके आलम्बन नायक-नायिका होते हैं। हमारे यहां नायक तीन प्रकार के माने गये हैं—पति, उपपति, वैशेषिक पति। वैशेषिक पति के चार प्रकार निश्चित किये गये हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ठ।

नायिकाओं के स्वभाव, प्रकृति, क्रिया, जाति और अवस्था के अनुसार अनगिनत भेद किये गये हैं। केशवदास ने तो इनकी संख्या ३६० तक पहुँचादी है।

उद्दीपन विभाव—प्रकृति का रम्य वातावरण तथा नायिका की वेष-भूषा आदि इसके अनेक उद्दीपन विभाव हो सकते हैं।

संचारी भाव—मरण, उग्रता, आलस्य और जुगुप्सा इन चार के अतिरिक्त शेष रस-संचारी इसके अन्तर्गत माने जाते हैं। देव ने तो इन चार को भी नहीं छोड़ा है।

(ङ) शृंगार रस के भेद—शृंगार के दो भेद किये गये हैं—संयोग शृंगार और वियोग शृंगार।

(१) संयोग शृंगार—मम्मट के मतानुसार नायक-नायिका का परस्पर अवलोकन, आलिंगन, सर्वांग चुम्बन, जलक्रीड़ा तथा ६ ऋतुओं का वर्णन जहां हो, वहां

संयोग शृंगार होता है। इसके अन्तर्गत नायक और विशेष रूप से नायिका के सौन्दर्य का भी वर्णन रहता है जिसके अनुसार नायिका के ज्योतिष-सम्मत ३२ लक्षणों, साहित्य-शास्त्र के २८ अलंकारों व सोलह शृंगार, तथा नख-शिख का वर्णन विशेष रूप से किया जाता है।

(२) **वियोग शृंगार**—प्रिय-संयोग के अभाव में वियोग शृंगार होता है। साहित्य दर्पणकार के मतानुसार उत्कट प्रेम के होने पर भी जहां प्रिय से मिलन नहीं हो पाता, उसे विप्रलम्भ-शृंगार कहा जाता है। यह चार प्रकार का होता है—

(क) पूर्वानुराग—रूप-गुण श्रवण या दर्शन से जब प्रेम हृदय को व्याकुल करने लगता है, तब उसे पूर्वानुराग कहते हैं। दर्शन, प्रत्यक्ष में, स्वप्न में या चित्र में से किसी भी प्रकार से हो सकता है। साहित्य दर्पणकार ने इसके तीन भेद माने हैं—

(१) **नीली राग**—कृत्रिमता से रहित प्रगाढ़ प्रेम।

(२) **मज्जिष्ठा राग**—साज-सज्जा के साथ-साथ प्रेम का होना।

(३) **कुसुम्भ राग**—तड़क-भड़क यदि हो तो शीघ्र ही उसे त्याग दिया जाय।

(ख) **मान**—प्रिय के किसी अपराध पर प्रेम से रूठने को मान कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—

(१) **प्रणय मान**—पूर्ण प्रेम के बावजूद कोप किये जाने को प्रणय मान कहते हैं।

(२) **ईर्ष्या मान**—नायक के किसी अन्य नायिका पर आसक्त होने पर ईर्ष्यावश रूठने को ईर्ष्यामान कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है-लघुमान, मध्यम मान और गुरुमान। गुरुमान पैर छूने पर भंग होता है। नायक पर-स्त्री में अनुरक्त है इसका पता तीन प्रकार से चलता है-(१) नायक के स्वप्न में बड़-बड़ाने से (२) शरीर पर के रति चिन्हों से (३) अकस्मात् उसके मुख से अन्य स्त्री का नाम निकल जाने से।

(ग) **प्रवास**—प्रिय के विदेश चले जाने को प्रवास कहा जाता है। प्रिय के विदेश जाने के तीन कारण होते हैं—१. कार्यवश २. शापवश ३. भ्रमवश।

(घ) **करुण**—जहां प्रिय से समागम की आशा टूट जाती है वहां करुण वियोग होता है।

वियोग कालीन दशायें—आचार्यों ने अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि, मरण इन दस दशाओं के अतिरिक्त अंग-असौष्ठव, अधीरता, अरुचि, अस्थिरता आदि को वियोग-जनित दशायें कहा है।

वियोग शृंगार का महत्व—

(१) वियोग के बिना संयोग शृंगार पुष्ट नहीं होता।

(२) वियोग में प्रेम उत्कटता, एकनिष्ठता और प्रगाढ़ता को प्राप्त होता है।

(३) वियोग में ऐन्द्रियता का प्रभाव बहुत क्षीण हो जाता है।

(४) वियोग में आत्मोत्सर्ग की भावना का उदय होता है।

(५) वियोग के पश्चात् संयोग शृंगार अत्यन्त सुखद बन जाता है।

(६) वियोग में आठ पहर चौसंठ घड़ी प्रिय का ही ध्यान बना रहता है।

(७) वियोग एक ऐसी आग है जिसमें तपकर प्रेम सुगन्धित स्वर्ण जैसा हो जाता है।

(८) वियोग में सत्वगुण का प्राधान्य रहता है।

२. हास्य रस

परिचय—भरतमुनि के अनुसार हास्य, शृंगार रस की अनुकृति है। साहित्य दर्पणकार के मतानुसार इसका आविर्भाव विकृत वाणी, चेष्टा, आकार आदि के द्वारा होता है।

रस राजत्व—कुछ आचार्य हास्य रस को रस-राज मानते हैं। श्री नरसिंह चिंतामणि केलकर ने सर्वप्रथम इसके महत्व पर प्रकाश डाला। हास्य रस का अनुभव मनुष्य आजीवन करता है जबकि शृंगार की सीमा यौवन काल तक ही है। उन्होंने लिखा है—"चाहे मनुष्य मात्र के जीवन में होने वाली भावजागृति के विचार से देखिये, चाहे उससे होने वाले आनन्द और उसके उपयोग की दृष्टि से, हास्य, करुण और वीर ये तीनों रस शृंगार रस की अपेक्षा अधिक महत्व के प्रमाणित होंगे, क्योंकि प्रायः हास्य और शोक में ही मनुष्य मात्र का अनुभव बंटा हुआ है।"

परन्तु हरिऔधजी इससे सहमत नहीं हैं। उन्होंने रस की व्यापकता, आस्वादन और सृजन-शक्ति तथा जन्म आदि विभिन्न दृष्टियों से विचार करते हुए लिखा है—'मेरा विचार है कि जिस पहलू से विचार किया जायेगा शृंगार पर हास्य को प्रधानता न मिल सकेगी।"

शास्त्रीय विश्लेषण

स्थायी भाव—इसका स्थायी भाव 'हास' है। वाणी, भूषण, वेष आदि की विपरीतता तथा विकृति से जो अनुभूति होती है, उसे हास कहा गया है।

आलम्बन विभाव-विपरीतता, विकृति, व्यंग्य आदि इसके आलम्बन कहे गये हैं।

उद्दीपन विभाव—आलम्बन की चेष्टायें उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आती हैं।

अनुभाव—नेत्रों का चांचल्य, मुख का विकास आदि इसके अनुभाव हैं।

संचारी भाव—निद्रा, आलस्य, अवहित्था आदि इसके संचारी होते हैं।

हास्य के भेद-श्री विश्वनाथ ने हास्य के ६ भेद माने हैं। श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये 'स्मित' और 'हासित', मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए 'विहासित' और 'उपहासित' तथा निकृष्ट कोटि के मनुष्यों के लिए 'अपहसित' और 'उपहसित'। इस प्रकार हास्य के ये ६ भेद हुए—१. स्मित २. हसित ३. विहासित ४. उपहासित ५. अपहसित ६. अतिहसित।

३. करुण रस

परिचय—प्रिय के विनष्ट होने पर सतत् वियोग को करुण रस कहा जाता है। धर्म या द्रव्य-नाश से भी करुण रस की निष्पत्ति मानी गयी है।

रस राजत्व—'एको रस करुण ऐव' कहकर भवभूति ने इसे सबसे प्रमुख रस माना है। करुण रस की प्रमुखता के कई कारण माने जाते हैं—

(१) करुण का किसी न किसी रूप में सभी रसों में अस्तित्व होता है।

(२) करुण रस में भावतादात्म्य का गुण सबसे अधिक होता है। 'अयं निः परोवा' की उक्ति इसी रस पर अधिक ठीक बैठती है।

(३) 'महाकवि वही बन सकता है जिसके हृदय में शोक हो, जैसे वाल्मीकि' देखा जाये तो पंत के शब्दों में काव्य का जन्मदाता शोक भाव ही है।

(४) इस रस में आध्यात्मिकता, अलौकिकता सबसे अधिक होती है। यह मानवीय दुर्बलताओं दुर्गुणों का दमन कर अच्छे गुणों का विकास करता है।

शास्त्रीय विश्लेषण

स्थायी भाव—इसका स्थायी भाव 'शोक' है। इष्ट के विनाश से उत्पन्न व्याकुलता को शोक कहा जाता है।

आलम्बन विभाव—विनाश को प्राप्त प्रिय जन।

उद्दीपन विभाव—प्रिय का दाह या उससे सम्बन्धित वस्तुएं, स्थान आदि।

अनुभाव—छाती पीटना, धरती पर पछाड़ खाकर गिरना, निःश्वास आदि।

संचारी—व्याधि, स्मृति, श्रम, ग्लानि, मोह, निर्वेद, अपस्मार, जड़ता, उन्माद आदि।

करुण के भेद—करुण रस के ये ५ भेद माने गये हैं। १. करुण २. अतिकरुण ३. लघुकरुण ४. महाकरुण ५. सुख करुण।

४. रौद्र रस

शास्त्रीय विश्लेषण

स्थायी भाव—इसका स्थायी भाव क्रोध है। प्रतिकूल के प्रति तीक्ष्णता की अनुभूति को क्रोध कहते हैं।

आलम्बन विभाव—अनिष्ट या अनुचित व्यवहार करने वाला व्यक्ति।

उद्दीपन विभाव—प्रतिकूल की चेष्टाएं तथा उक्तियां।

अनुभाव—हथियार-प्रयोग, दांत पीसना, मुट्ठी भींचना आदि।

संचारी—उग्रता, मद, मोह, आवेग, अमर्ष।

५. वीर रस

शास्त्रीय विश्लेषण

स्थायी भाव—उत्साह। कार्य के आदि से अन्त तक जो उल्लास रहता है उसे उत्साह कहते हैं।

आलम्बन विभाव—नायक, याचक, शत्रु और दीन ।

उद्दीपन विभाव—आलम्बन की चेष्टायें । जैसे फौज, हथियार-प्रदर्शन, याचक-न की दशा आदि ।

संचारी भाव—धृति, मति, तर्क, आवेग, स्मृति, गर्व आदि ।

वीर रस के भेद—वीर रस के चार भेद हैं—१. युद्धवीर २. दानवीर ३. धर्म-ार ४. दयावीर ।

६. भयानक रस

शास्त्रीय विश्लेषण

स्थायी भाव—भय । अनिष्ट की आशंका से हुए चित्त-वैकल्य को भय न्हते हैं ।

आलम्बन विभाव—भयंकर मनुष्य, हिंसक जीव आदि ।

उद्दीपन विभाव—आलम्बन की चेष्टायें तथा सुनसान निर्जन स्थल आदि ।

अनुभाव—हकलाना, स्वेद, रोमांच, कम्प, वैवर्ण्य आदि ।

संचारी—जुगुप्सा, आवेग, त्रास, दीनता, ग्लानि, मोह आदि ।

७. वीभत्स रस

शास्त्रीय विश्लेषण

स्थायी भाव—घृणा या जुगुप्सा । घृणित वस्तुओं के देखने से उत्पन्न ग्लानि को जुगुप्सा कहते हैं ।

आलम्बन विभाव—श्मशान, रुण्ड-मुण्ड, रक्त-मांस आदि ।

उद्दीपन विभाव—दुर्गन्ध, कुत्सित रूप, जीव-जन्तुओं की चीखें, मक्खियों की भिनभिनाहट आदि ।

८. अद्भुत रस

शास्त्रीय विश्लेषण

स्थायी भाव—विस्मय । चित्त के विस्फार को विस्मय कहते हैं ।

आलम्बन विभाव—अद्भुत वस्तु, कर्म या दृश्य आदि ।

उद्दीपन विभाव—आलम्वन की चेष्टायें, इन्द्रजाल, या उसके सम्बन्ध में गुण-श्रवण आदि ।

अनुभाव—रोमांच, स्वर-भंग, स्वेद, कम्प, साधुवाद देना आदि ।

संचारी—दैन्य, जड़ता, शंका, मोह, हर्ष, वितर्क, भ्रान्ति औत्सुक्य आदि । धर्मदत्त तथा पंडित नारायण इसके चमत्कार गुण के कारण इसे रस राज मानते हैं ।

९. शान्त रस

धनंजय जैसे आचार्य शान्त रस को नहीं मानते क्योंकि काम के समस्त व्यापारों की समाप्ति होनी चाहिये, किन्तु व्यापार-समाप्ति का अभिनय नहीं किया जा सकता ।

भाव प्रकाश के रचयिता का भी यही मत है। लेकिन ध्वन्या लोककार तथा अभिनव-गुप्त इसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहकर सर्वश्रेष्ठ रस मानते हैं।

शास्त्रीय विश्लेषण

स्थायी भाव—काम। कुछ आचार्य जुगुप्सा और उत्साह को इसका स्थायीभाव मानते हैं। मम्मट तथा संगीत रत्नाकर के लेखक के मत से निर्वेद इसका स्थायीभाव है।

आलम्बन विभाव—परमात्मा, संसार की नश्वरता आदि।

उद्दीपन विभाव—तीर्थयात्रा, सत्संग, किसी की मृत्यु आदि।

अनुभाव—अश्रु, रोमांच, प्राणत्याग, योगासन, भजन गाना आदि।

संचारी भाव—निर्वेद, स्मृति, धृति, मति, दया आदि।

इन रसों के अतिरिक्त दो रस और माने गये हैं—

१. वात्सल्य रस

प्राचीन आचार्यों ने इसका वर्णन नहीं किया है। कृष्ण के बालरूप पर मुग्ध कवियों ने इसे जन्म दिया है।

शास्त्रीय विश्लेषण

स्थायी भाव—स्नेह।

आलम्बन—बालक, पुत्रादि।

उद्दीपन—आलम्बन की क्रियायें।

अनुभाव—आलम्बन का चुम्बन, आलिंगन, उसे थप-थपाना आदि।

संचारी भाव—शंका, गर्व, हर्ष आदि।

२. भक्तिरस

यही स्थिति भक्ति-रस की है। इसे भी आचार्यों ने पृथक अस्तित्व प्रदान नहीं किया, किन्तु भक्त कवियों ने इसे मान्यता प्रदान की है। रूप गोस्वामी ने भक्ति-रस का विस्तार से विश्लेषण भी किया है। उनके मतानुसार इसके आलम्बनों के अलौकिक होने के कारण यह रस शृंगार से भी श्रेष्ठ है। वास्तव में ब्रह्मानन्द सहोदर यही रस है।

स्थायी विश्लेषण

स्थायी भाव—देवादि अलौकिक के प्रति रति।

आलम्बन—राम कृष्ण आदि अवतारी महा-मानव।

उद्दीपन—आलम्बन के अलौकिक कार्य, मानवोद्धार आदि।

अनुभाव—भजन, रोमांच, अश्रु, लीलागान आदि।

संचारी—हर्ष, औत्सुक्य, दैन्य स्मरण आदि। अस्तु।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रस-सम्प्रदाय का साहित्य-समीक्षा की दृष्टि से बहुत महत्व है। काव्य की आत्मा का इतना वैज्ञानिक विवेचन पाश्चात्य समीक्षक नहीं कर

पाये हैं। इस सम्प्रदाय ने समीक्षा का एक ऐसा शाश्वत मानदण्ड प्रस्तुत किया है कि अभी तक कोई भी कवि या समीक्षक इसको नकार देकर महत् उपलब्धि नहीं कर सका है।

रस-दोष—आचार्यों ने इस व्याख्या, स्वरूप, गुण तथा उसकी महत्ता और भेदों के साथ ही रस-दोषों का भी विवेचन किया है। वैसे सभी काव्य-दोषों को रस-दोष कहा जा सकता है लेकिन कुछ विशेष दोष ऐसे हैं जो केवल रस से ही सम्बन्धित हैं। विश्वनाथ के अनुसार ये दोष निम्नलिखित हैं—

(१) वर्णित रस का या उसके स्थायी भाव का उल्लेख।
(२) विरोधी रसों के स्थायी भावों और विभावादि का संकेत।
(३) अनुचित स्थान पर रस-प्रयोग।
(४) रस की पुनः-पुनः दीप्ति।
(५) रस की पूर्ण प्रतीति हुए विना ही अन्य रस का समावेश।
(६) प्रिय का विस्मरण।
(७) दूती-सखी आदि को प्रमुखता देना।
(८) प्रकृति विपर्यय।

रस-मैत्री—एक से अधिक रसों के सम्मिलन को रस-मैत्री कहते हैं। आचार्य देव ने शृंगार और हास्य, करुण और रौद्र, वीर और अद्भुत, वीभत्स और भयानक में परस्पर रस-मैत्री मानी है।

रस-विरोध—जिन रसों की आपस में मैत्री न हो सके उसे रस-विरोध कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—आलम्बन विरोध, आश्रय विरोध और नैरन्तर विरोध। कुछ आचार्यों ने करुण, शान्त, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक को शृंगार का, भयानक और करुण को हास्य का, हास्य, शृंगार और भयानक को रौद्र का, शृंगार, हास्य और वीर को भयानक का, शृंगार को वीभत्स का, शान्त को वीर का विरोधी रस माना है।

रसाभास—अनुचित रीति से रस-प्रयोग को रसाभास कहा जाता है। रस में स्थायी भाव तथा विभावादि का पूर्ण औचित्य होना चाहिए। इसके अभाव में रस पुरस्त हो जाता है।

भावाभास—रसाभास से भंग हुए भावों के आगमन को भावाभास कहते हैं।

भावशान्ति—एक भाव के पूर्ण होने के पूर्व ही अन्य भाव का आगमन।

भावोदय—भावशान्ति के पश्चात् अन्य भाव का उद्भूत होना।

भाव-सन्धि—समान गुण चमत्कार-युक्त दो भावों का एक साथ उदय।

भावशवलता—एक साथ अनेक भावों का एक के बाद एक आकर मिल जाना।

उपसंहार—संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि रस-सिद्धान्त काव्य-शास्त्र का वहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत साधारणीकरण की प्रक्रिया तो और भी महत्त्वपूर्ण है। रस के विवेचन में अन्य जिन वातों का विवेचन किया गया है वे सभी रस के प्रकरण को समझने में सहायक सिद्ध होती हैं। कुछ विद्वानों ने इसके दोषों की ओर भी दृष्टिपात किया है। विद्वानों द्वारा संकेतित न्यूनताएं ये हैं—

१. इसमें पाठक के ही दृष्टिकोण का काव्य के भोगपक्ष का ही विश्लेषण अधिक हुआ है, कवि या काव्य के सर्जन-पक्ष की उपेक्षा की गई है।

२. यह शास्त्रीय सिद्धान्त ही रहा व्यावहारिक नहीं वन सका है।

३. रस-सिद्धान्त मुख्यतः नाटक के दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया है।

४. आधुनिक मनोविज्ञान और पाश्चात्य काव्य शास्त्र के आधार पर भी इसकी शुद्ध रूप में मीमांसा होनी चाहिए।

युगीन संदर्भ में मानदण्ड वदलते रहते हैं किन्तु फिर भी रस-सिद्धान्त एक ऐसा मानदण्ड है जो सभी देशों की समीक्षा का आधार वनने में सफलता का अधिकारी हो सकता है। अतः जव तक साहित्य मानवीय भावों का वाहक है तव तक रस-सिद्धान्त का महत्त्वहै और रहेगा।

२६

ध्वनि सम्प्रदाय

१. व्युत्पत्ति और अर्थ।
२. परिभाषा और व्याख्या।
३. ध्वनि का इतिहास।
४. ध्वनि सम्प्रदाय के सिद्धान्त।
५. ध्वनि के आधारभूत तत्व।
६. ध्वनि के भेद।
७. ध्वनि के आधार पर काव्य-भेद।
८. उपसंहार।

व्युत्पत्तिमूलक अर्थ और व्याख्या—डा० के० सी० पाण्डेय ने अपने शोध प्रबन्ध 'इण्डियन ऐस्थैटिक्स' में तथा डा० नगेन्द्र ने हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका में 'लोचन-कार' के मत को आधार मान कर ध्वनि के निम्नलिखित ५ व्युत्पत्त्यर्थ बताये हैं—

१. **ध्वनित यः सः व्यंजकः शब्दः ध्वनिः**—वह व्यंजक शब्द ध्वनि कहलाता है, जो ध्वनित करता हो या कराता हो।

२. **ध्वनित ध्वनयति वा यः सः व्यंजको अर्थः ध्वनिः**—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।

३. **ध्वन्यते इति ध्वनिः**—जो ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है। इस व्युत्पत्त्यर्थ में व्यंग्यार्थ के वस्तु, रस, अलंकार ये तीनों रूप आ जाते हैं।

४. **ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः**—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है।

५. **ध्वन्यते अस्मिन्निति ध्वनिः**—जिसके द्वारा रस, वस्तु, अलंकार आदि ध्वनित हों वह ध्वनि है।

परिभाषा और व्याख्या—उपर्युक्त व्युत्पत्यार्थों से स्पष्ट है कि जहां अभिधात्मक प्रत्यक्ष वाक्यार्थ में, कोई अन्य ही अर्थ और ध्वनित होता हो उसे ध्वनि कहा जाता है। अर्थात् जो अर्थ एकदम स्पष्ट हो उसके अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थ की ओर जो संकेत करे वही ध्वनि है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुप सर्जनी कृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्य विशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥"

इसका तात्पर्य [यह है कि जहां शब्द अपने अभिधेय अर्थ को, या प्रत्यक्ष अर्थ स्वयं को गौण करके उस (अन्य) अर्थ को व्यक्त करे, विद्वान् उस काव्य विशेष को ध्वनि की संज्ञा प्रदान करते है।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने भी ध्वनि की इसी व्याख्या के आधार पर कुछ शब्द जोड़ कर ध्वनि की व्याख्या इस प्रकार की है—"जहां 'वाच्य' से 'व्यंग्य' में अतिशय अधिक चमत्कार हो उसे ध्वनि कहते हैं।"

ध्वनि सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास—कहने को तो आनन्दवर्धन ध्वनि के प्रथम प्रतिष्ठायक माने जाते हैं, किन्तु उनसे पूर्व भी ध्वनि का विवेचन हो चुका था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। स्वयं आनन्दवर्धन ने लिखा है "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः सभाम्नातपूर्वः" अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है, ऐसा मेरे पूर्ववर्ती आचार्यों का भी मत है। इसके अतिरिक्त अपने ग्रन्थ में उन्होंने ध्वनि विरोधियों तथा ध्वनि सम्बन्धी जिन आपत्तियों का निराकरण किया है वह कोरी कल्पना नहीं कही जा सकती। ये दोनों ऐसे तथ्य हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्धन के पूर्व भी ध्वनि अस्तित्व में आ चुकी थी।

डा० कृष्णमूर्ति ने 'सभाम्नातपूर्व' शब्द में प्रयुक्त 'सभा' उपसर्ग का 'सम्यक्' अर्थ बताते हुए कहा है कि इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ध्वनि पर बहुत पहले भली-भांति विचार किया जा चुका था—आनन्दवर्धन के कथन से यही ध्वन्यर्थ निकलता है।

डा० कृष्णलाल शर्मा ने 'आधुनिक हिन्दी कविता में ध्वनि' नामक अपने शोध प्रबन्ध में आनन्दवर्धन से पूर्व ध्वनि के अस्तित्व का जो प्रमाण मिलता है उसके सम्बन्ध में लिखा है "ध्वनि की परम्परा को पहले से चली आती हुई मानने का एक कारण यह भी है कि आनन्दवर्धन की शती में ही किन्तु कुछ वर्ष पूर्व कन्नड़ भाषा में लिखे दक्षिण के अलंकार ग्रन्थ 'कविराज मार्गा' में ध्वनि का उल्लेख मिलता है। इसके रचयिता 'नृपतुङ्ग' कर्नाटक के राजा थे। उनका जीवन काल ई० सन् ८१५ से ८७० माना गया है। इस तथ्य को प्रमाण स्वरूप ग्रहण कर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि नृपतुङ्ग को ध्वन्यालोक का कोई ज्ञान नहीं था।"

आनन्दवर्धन के पश्चात् तो अनेक विद्वान् इस सम्प्रदाय के सदस्य बन गये। अभिनव गुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' नाम से टीका लिख कर उसके महत्व को स्वीकार किया। भोजराज ने भी अन्य मतों के साथ इसे भी ग्रहण किया, और मम्मट को तो 'ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य' के नाम से पुकारा ही जाता है। विश्वनाथ और जगन्नाथ भी इसी दिशा में अग्रसर हुए।

इस सम्प्रदाय का विरोध भी खूब हुआ। भट्टनायक ने 'ध्वनि ध्वसं' या 'हृदय दर्पण' में इसका खंडन किया। कुन्तक ने इसे वक्रोक्ति का एक भेद मात्र मान कर इसे काव्य की आत्मा के गौरव से वंचित किया। महिम भट्ट ने इसे अनुमान कहकर व्यंजनार्थ को ही नकार दिया। लेकिन सब विरोधों को परास्त करता हुआ यह सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों को शास्त्र में उचित सम्मान दिलाने में पूरी तरह से सफल होकर ही रहा। यही नहीं अपने पूर्ववर्ती अलंकार और रीति आदि सम्प्रदायों को बहुत पीछे ढकेलता हुआ रस-सम्प्रदाय की टक्कर में आ खड़ा हुआ।

ध्वनि सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धान्त—सम्पूर्ण ध्वनि सम्प्रदाय निम्नलिखित प्रमुख तीन सिद्धान्तों को मान्यता देता है—

१. काव्य की आत्मा ध्वनि है। अर्थात् काव्य सौंदर्य व्यंग्यार्थ में निहित होता है।

२. ध्वनि के तीन रूप होते हैं—१. वस्तु-ध्वनि, २. अलंकार-ध्वनि, ३. रस-ध्वनि। इन तीनों में से रस ध्वनि सर्वश्रेष्ठ है।

३. ध्वन्यार्थ के आधार पर काव्य भी तीन प्रकार के होते हैं—

१. ध्वनि-काव्य—उत्तम काव्य।
२. गुणीभूत व्यंग्य-काव्य—मध्यम काव्य।
३. चित्र-काव्य—अधम काव्य।

ये ही तीन मान्यताएं ध्वनि सम्प्रदाय की आधार शिलाएं हैं। ध्वनि-आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार इन्हीं में कुछ परिवर्तन करके, कुछ जोड़ कर या कुछ नवीनता का मिश्रण करके ध्वनि-मत का प्रसार और विस्तार किया है।

ध्वनि के आधारभूत तत्व—उपर्युक्त विवेचन से अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि ध्वनि की व्युत्पत्ति, अर्थ, परिभाषा, व्याख्या तथा इसके सम्बन्ध में आचार्यों की जो धारणा है, उन सबके मूल में दो तत्वों का किसी न किसी रूप में आभास ही सही, पर उनका अस्तित्व वहां पर अवश्य है। ध्वनि के ये आधारभूत तत्व निम्नलिखित हैं—

१. स्फोट—शब्द कौस्तुभ में लिखा है कि जो अर्थ को प्रस्फुटित करे वह स्फोट कहा जाता है। अर्थात् अर्थ को प्रस्फुटित करने वाला तत्व स्फोट कहलाता है। यह स्फोट नित्य होता है। वैयाकरणों के द्वारा उद्भूत स्फोट की इन्हीं विशेषताओं ने ध्वनिकार को अपने ध्वनि-सिद्धान्तों की विवेचना करने में सबसे अधिक सहायता पहुँचाई।

भर्तृहरि ने अपने 'वाक्य पदीय' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि शब्द के संयोग-वियोग से जो स्फोट उद्भूत होगा उसे आचार्यगण ध्वनि नाम से अभिहित करते हैं। अर्थात् जो शब्द उच्चरित शब्दों से उत्पन्न होकर हमारे मन में एक स्फोट करके अर्थ ग्रहण कराते हैं उन्हीं को ध्वनि कहा जाता है।

आनन्दवर्धन के 'सूरिभिः कथितः' इस कथन से भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से प्रेरणा ग्रहण की थी।

स्फोट के आठ भेद माने गये हैं—

१. वर्ण-स्फोट। २. पद-स्फोट। ३. वाक्य-स्फोट। ४. अखण्ड पद-स्फोट। ५. अखंड वाक्य-स्फोट। ६. वर्णजाति-स्फोट। ७. पद जाति-स्फोट। ८. वाक्य जाति-स्फोट।

लेकिन शवर स्वामी ने इनमें से केवल दो स्फोटों को ही मान्यता दी है—

१. वर्ण-स्फोट, २. पद-स्फोट।

श्री स्वामी के मतानुसार प्रत्येक वर्ण में अर्थ निहित होता है। इन्हीं वर्णों से पद और पदों से वाक्य निर्मित होता है, अतः वाक्य स्फोट व्यर्थ है।

किन्तु कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो वाक्य-स्फोट को स्वीकार करते हैं। पतंजलि, नागेश और राजपुरुष के मतानुसार वर्ण और पद से अर्थ का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता, वास्तविक अर्थ-ज्ञान वाक्य-स्फोट से ही होता है।

मीमांसक वर्ग इससे सहमत नहीं है। उनके मतानुसार प्रत्येक वर्ण में अर्थ होता है वह चाहे हमारे अज्ञान के कारण हमें ज्ञात न होता हो। कुमारिल भट्ट ने तो स्पष्ट यह मत व्यक्त किया है कि यदि वाक्य को अखंड माना जायेगा तो वर्ण और पद अनित्य हो जायेंगे। अतः वाक्य-स्फोट के स्थान पर वर्ण और पद-स्फोट उचित प्रतीत होते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो वर्ण-पद-वाक्य स्फोट के ये तीनों ही भेद उचित हैं।

वैयाकरणों ने ध्वनि के पांच भेद किए हैं—

१. व्यंजक शब्द। २. व्यंजक अर्थ। ३. व्यंग्य अर्थ। ४. व्यंजना-व्यापार। ५. व्यंग्य-काव्य।

वास्तव में शब्द-साम्य और समान व्यापार के आधार पर ही ध्वनि-आचार्यों ने वैयाकरणों के स्फोट से बहुत बड़ी प्रेरणा ग्रहण की थी। बस अन्तर यही है कि व्याकरण में उस शब्द को ध्वनि माना है जो अर्थ को अभिव्यक्त करता है, लेकिन साहित्य-शास्त्र में शब्द और अर्थ दोनों के लिए इसे ग्रहण किया गया है।

२. **शब्द-शक्तियां**—स्फोट-सिद्धान्त को समझने के पश्चात् ध्वनि-मत को समझने के लिए शब्द शक्तियों का ज्ञान भी बहुत आवश्यक है। ध्वनि-मत के सम्पूर्ण भवन की ये ऐसी आधारशिलाएं हैं कि यदि इन्हें थोड़ी देर के लिए भी हटा दिया जाय तो सम्पूर्ण भवन बिखर जाय और हटा क्या लिया जाय, हटाने की कल्पना मात्र ही पर्याप्त है।

ये शब्द शक्तियां तीन प्रकार की मानी गई हैं—

१. अभिधा, २. लक्षणा, ३. व्यंजना।

अभिधा—ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्व वैयाकरण उस शक्ति को अभिधा मानते थे, जो शब्द और अर्थ का ज्ञान कराती है। शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध वाच्य-वाचक भाव का होता है। लेकिन ध्वन्याचार्यों ने वाचक शब्द को विशेष महत्व देते हुए इसे कुछ अभिनव रूप में अभिधा मूलक ध्वनि नाम देकर ग्रहण किया। मम्मट ने साक्षात् संकेतित शब्द का ज्ञान कराने वाले को वाचक कहा है। यह साक्षात् संकेतिक शब्द का ज्ञान कराने वाला वाचक शब्द चार प्रकार का होता है—

१. जातिवाचक। २. गुणवाचक। ३. क्रियावाचक। ४. मुख्यवाचक।

और इनसे वाच्यार्थ या संकेत ग्रहण करने के आठ प्रकार या आठ कारण बताये हैं—

१. व्याकरण। २. उपमान। ३. कोष। ४. आप्त वाक्य। ५. व्यवहार। ६. प्रसिद्ध पद का सान्निध्य। ७. वाक्य-शेष। ८. विवृत्ति।

मम्मट ने इस अभिधा शक्ति को बाण के समान अर्थ बेधन करने वाली कहा है। अर्थात् जिस प्रकार बाण उत्तरोत्तर बेधन व्यापार करता हुआ बढ़ता जाता है उसी प्रकार अभिधा शक्ति भी अर्थ का उत्तरोत्तर अभिव्यंजन करती जाती है।

मम्मट के अनुसार इस अभिधा मूलक ध्वनि-अर्थ के पन्द्रह नियामक तत्व होते हैं—

१. संयोग २. विप्रयोग ३. साहचर्य ४. विरोध ५. अर्थ ६. प्रकरण ७. लिंग ८. अन्य सन्निधि ९. सामर्थ्य १०. औचित्य ११. देश १२. काल १३. व्यक्ति १४. स्वर, १५. चेष्टा या अभिनय।

वे ऐसे नियामक तत्व हैं जो शब्द को एक निश्चत अर्थ प्रदान करते हैं। यदि इनका शब्द के साथ प्रयोग न हो तो एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। उदाहरण

के लिए 'अयोध्यावासी राम एक वीर पुरुष थे।' यहां अयोध्यावासी की 'सन्निधि' से राम का अर्थ न तो परशुराम हो सकता है और न बलराम। इसी प्रकार मधु का अर्थ शहद भी होता है और मदिरा भी लेकिन जब हम किसी व्यक्ति को 'मधु से मतवाला' कहें तो यहां मतवाला करने की 'सामर्थ्य' के अनुसार मधु का अर्थ मदिरा होगा और जब किसी रोगी को दवा के लिए मधु मंगाया जाये तो 'प्रकरण' या प्रसंगवश मधु का अर्थ मदिरा न होकर शहद होगा। इसीलिए उपर्युक्त तत्वों को अर्थ नियामक तत्व कहा गया है।

यह तो हुई पृथक-पृथक पदों के अर्थ के ज्ञान प्राप्त करने की बात। अब प्रश्न उठता है कि सम्पूर्ण वाक्य का अभिधेयार्थ कैसे जाना जाता है। आचार्यों ने बताया है कि सम्पूर्ण वाक्य का अभिधेय निम्नलिखित तत्वों पर निर्भर होता है—

१. **योग्यता**—पदार्थों के परस्पर अन्वय सम्बन्ध की बिना किसी अनुपपत्ति के स्थापना जिससे होती है उसे योग्यता कहते हैं।

२. **आकांक्षा**—जहां सम्पूर्ण अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अतिरिक्त पदों की आवश्यकता पड़े उसे आकांक्षा कहते हैं। जैसे 'मेरे लिए पानी' यहां 'लाओ' या 'चाहिए' पदों के बिना अर्थ पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं होता।

३. **आसक्ति**—दो या दो से अधिक भिन्न पदों की निकटता को आसक्ति कहते हैं। इससे अर्थ ग्रहण में व्यवधान उपस्थित होता है। यह व्यवधान चार प्रकार का होता है—

१. कालकृत।
२, उच्चारण दोष-जन्य।
३. अप्रसक्त शब्दोद्भव।
४. दूरान्वयाश्रित।

४. यदि प्रसंग से लक्ष्यार्थ की आवश्यकता प्रतीत हो।

लक्षणा पर मीमांसकों ने भी विस्तार से विचार किया है। उन्होंने अभिधात्मक या मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ तक पहुँचने के कई प्रकार बताये हैं—१. ममत्व लक्षणा, २. देश लक्षणा, ३. धर्म या गुण लक्षणा, ४. काल और कर्म लक्षणा, ५. कार्य और करण या साध्य और साधन लक्षणा, ६. सजातीय लक्षणा, ७. लिंग लक्षणा आदि। लेकिन संस्कृत आचार्यों ने मीमांसकों से वैयाकरणों की अपेक्षा कम ही प्रेरणा ली है या उन पर मीमांसकों की अपेक्षा वैयकरणों का प्रभाव अधिक पड़ा।

वैयाकरण मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध को 'तद्योग' कहते हैं। पतंजलि ने इस सम्बन्ध को चार प्रकार का माना है—

१. **तत्स्यता**—आधार-आधेय सम्बन्ध।

२. **तद्धर्मता**—गुण-क्रिया साम्य से अन्य में अन्य का आरोप।

३. **तत्साहचर्य**—दो वस्तुओं के साहचर्य के कारण एक के सम्बन्ध से दूसरी का भी बोध।

४. **तत्समीयता**—निकटवर्ती स्थानादि का बोध।

विद्वानों ने इसी प्रकार के अनेक तद्योगों की चर्चा की है। उनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—१. मान (परिमाण) लक्षणा २. तादर्थ्य लक्षणा ३. धारण लक्षणा ४. साधन लक्षणा ५. योग लक्षणा ६. आधिपत्य ७. अंगांगी भाव ८. स्वस्वामी भाव ९. वैपरीत्य।

लक्षणा-भेद—लक्षणा के प्रयोजन के आधार पर दो भेद किये गये हैं—

१. रूढ़ा (रूढ़ी) लक्षणा।

२. प्रयोजनवती लक्षणा।

आचार्यों ने इन दोनों लक्षणाओं के अनेक उपभेद किये हैं। किन्तु ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य कहे जाने वाले मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में लक्षणा के भेदों का जो वर्गीकरण किया वह अधिक संक्षिप्त और वैज्ञानिक है उन्होंने मुहावरों और परम्परागत वाक्यांशो का रूढ़ि के अन्तर्गत मानते हुए इसके अन्य उपभेद नहीं किये हैं। उनके मतानुसार प्रयोजनवती लक्षणा के जिन उपभेदों का विवेचन किया गया है, उनका मानचित्र इस प्रकार बनाया जा सकता है—
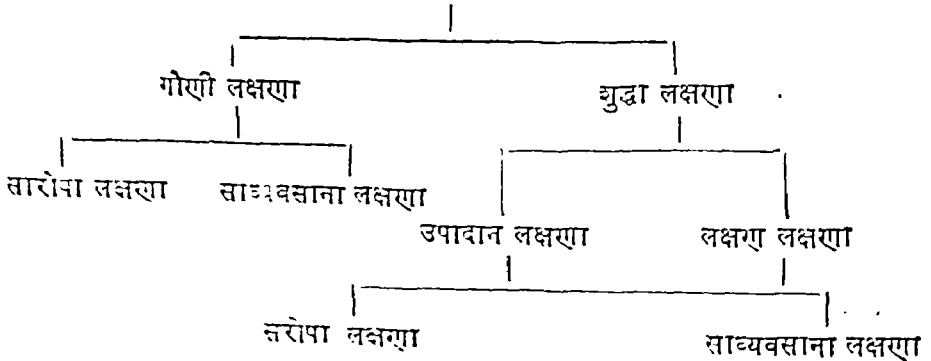
गौणी लक्षणा—इसमें गुण-साम्य का सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है।

शुद्धा लक्षणा—अन्य सभी सम्बन्धों का ग्रहण।

उपादान लक्षणा—जहां मुख्यार्थ पूर्णरूपेण बोधित न हो।

लक्षण लक्षणा—जहां मुख्यार्थ का पूर्ण-त्याग हो।

सारोपा लक्षणा—जहां विषयी और विषय या दोनों आरोप्यमाण और आरोप दोनों के वाचक शब्द हों।

साध्यवसाना लक्षणा—जहां आरोप का कथन हो और आरोप्यमाण लुप्त हो।

काव्य प्रकाशकार ने इन लक्षणाओं के गूढ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या भेद करते हुए इनकी संख्या १२ कर दी है। विश्वनाथ ने लक्षणा के ८० भेद किये हैं।

व्यंजना—यदि यह कहा जाय कि ध्वनि-मत इसी व्यंजना शक्ति के आधार पर टिका हुआ है तो कोई अत्युक्ति न होगी। व्यंजना के प्रतिष्ठायक आनन्दवर्धन माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त अभिनव गुप्त और मम्मट ने इसके महत्व को और भी बढ़ाते हुए इसे शास्त्र में विरोधों के बावजूद सुदृढ़ एवं निश्चित् स्थान देने का कार्य किया।

आचार्यों ने मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न या पूर्ण अर्थ को प्रत्यायित करने वाली वृत्ति को व्यंजना कहा है। अर्थात् जहां अभिधा और लक्षणा पूर्ण अर्थ-सिद्धि के लिए अपनी असमर्थता प्रगट कर देती है वहां व्यंजना उदित होकर सर्वथा नवीन अर्थ को व्यक्त करती है। मम्मट ने व्यंजना की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिस प्रयोजन या फलार्थ के हेतु लक्षणा का सहारा लिया जाता है वह शब्द व्यापार व्यंजना कहा जाता है। व्यंजना की इस शास्त्रीय परिभाषा को भली-भांति समझने के लिए श्री कन्हैयालाल पोद्दार का यह मत उल्लेखनीय है—"अभिधा और लक्षणा के विरत हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ का बोध होता है, वह शब्द में और अर्थ में रहने वाली शक्ति व्यंजना कही जाती है।"

व्यंजना का महत्व—श्री पोद्दार ने आचार्यों के मतों का सारांश देते हुए व्यंजना के महत्व को इन शब्दों में उद्घाटित किया है—

६. वाच्यार्थ केवल शब्द में ही रहता है, पर व्यंग्यार्थ शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना विशेष में भी रहता है।

७. वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान मात्र से ही हो सकता है, परन्तु व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य-मार्मिकों को ही भासित हो सकता है।

८, वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ही ज्ञान होता है, पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनन्द का आस्वादन) उत्पन्न होता है।

व्यंजना के भेद–शब्द और अर्थ के आधार पर व्यंजना के दो भेद किए गए हैं—

१. शाब्दी व्यंजना। २, आर्थी व्यंजना। शाब्दी व्यंजना भी दो प्रकार की होती है—अभिधा मूला। २, लक्षणा मूला।

अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना—जब अनेक अर्थ वाले किसी शब्द का एक अर्थ अर्थ-नियामक तत्वोसंयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध आदि के अनुसार स्पष्ट होता है तब वहां पर अर्थ-व्यक्त करने वाली शक्ति को अभिधामूला शाब्दी व्यंजना कहा जाता है।

लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना—जिस शक्ति के द्वारा प्रयोजन का अर्थ स्पष्ट होता हो उसे लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। अर्थात् इसके द्वारा प्रयोजनवती लक्षणा में भी प्रयोजन का उद्घाटन होता है।

आर्थी व्यंजना—जहां काकु, देशकाल, सन्निधि, वक्ता, वाच्य आदि के आधार पर अर्थ का बोध या स्पष्टीकरण होता है वहां आर्थी व्यंजना होती है।

ध्वनि-भेद—आचार्यों ने ध्वनि के प्रमुख रूप से तीन भेद माने हैं—

१. रस ध्वनि। २. अलंकार ध्वनि। ३. वस्तु ध्वनि।

लेकिन मोटे तौर पर इन तीनों तथा अन्य ध्वनि रूपों का निम्नलिखित ध्वनि भेदों के अन्तर्गत समावेश हो जाता है—

१. अभिधामूला ध्वनि। २. लक्षणा मूला ध्वनि।

अभिधा मूला ध्वनि—अभिधा शक्ति के आधार पर इसे वाच्य ध्वनि भी कहा जाता है। जहां वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को स्पष्ट करने में सहायक होता है उसे अभिधामूला ध्वनि कहा जाता है। इसके दो भेद माने गये हैं।

१. असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि।

२. संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि—जहां वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम अस्पष्ट होता है वहां यह ध्वनि होती है। इसके आठ भेद माने गये हैं—

१. रस ध्वनि, २. भाव ध्वनि, ३. रसाभास, ४. भावाभास, ५. भावशक्ति, ६. भावोदय, ७. भाव संधि, ८. भावशबलता।

इन सबका विस्तार से विवेचन प्रस्तुत निबन्ध के पूर्ववर्ती निबन्ध—'रस-सम्प्रदाय'—के अन्तर्गत दिया जा चुका है। अतः यहां इनके सम्बन्ध में कुछ लिखना व्यर्थ है।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि—इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम स्पष्ट रहा करता है। शब्दशक्ति और अर्थशक्ति के आधार पर इसके तीन भेद किए गए हैं—

१. शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि—एकमात्र प्रयुक्त शब्द के द्वारा ही व्यंग्यार्थ अभिव्यक्त हो अर्थात् पर्यायवाची शब्द जहां व्यंग्यार्थ को स्पष्ट करने में असमर्थ हों, वहां शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि होती है। इस ध्वनि के भी दो उपभेद हैं—(क) वस्तु ध्वनि, (ख) अलंकार ध्वनि।

(क) वस्तु ध्वनि—"जहां केवल कोई वास्तविक या यथार्थता का अर्थ प्रतीत हो", वहां वस्तु ध्वनि होती है। ध्वनि आचार्यों ने इसका विस्तार से विवेचन नहीं किया है। इस पर खेद व्यक्त करते हुए डा० कृष्णलाल ने वस्तु ध्वनि के दो भेद किए हैं—

१. विचारात्मक ध्वनि। २. चित्रात्मक ध्वनि।

चित्रात्मक ध्वनि के प्रमुख रूप से ६ उपभेद माने हैं—

१. पदार्थ, २. रूप-गुण, ३. घटना, ४. व्यापार, ५. आकार पर बल देने वाली, ६. वर्ण तथा संवेदनों पर ध्यान देने वाली।

(ख) अलंकार ध्वनि—"अलंकार ध्वनि उसे कहते हैं जब प्रयुक्त किया हुआ शब्दार्थ वर्णनात्मक या इतिवृत्तात्मक न होकर शुद्ध काल्पनिक हो, अर्थात् जो अन्य शब्दों में व्यक्त किए जाने पर अलंकार का रूप ग्रहण कर लेता है।

इससे भी ऊपर पहुँच गई है। साहित्य-दर्पण में ही संकर ध्वनि के ५३०४ भेद माने है, किन्तु आचार्यों ने धर्म को काव्य की आत्मा मानते हुए 'रस ध्वनि' को सर्वश्रेष्ठ माना है। वैसे मम्मट ने संकर ध्वनि के तीन प्रमुख रूप बताये हैं—१. संशयास्पद रूप, अनुग्राह्यानुग्राहक रूप, ३. एक व्यंजकानुप्रदेश रूप।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि ध्वनि सम्प्रदाय प्रमुख रूप से शब्द-शक्तियों पर आधारित है, तथा ध्वनि के समस्त रूपों में से रस-ध्वनि को श्रेष्ठ मानता है। तो जब ध्वन्याचार्य ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते हैं तब वे प्रकारान्तर से काव्य की आत्मा रस है, रसवादियों की इसी मान्यता को दूसरे शब्दों में स्वीकृति प्रदान करते हैं।

ध्वनि के आधार पर काव्य-भेद—व्यंग्य के संस्पर्श की मात्रा के आधार पर आनन्दवर्धन ने काव्य के तीन भेद किये हैं—

१. **ध्वनि-काव्य**—जिसमें वाच्यार्थ या प्रत्यक्ष अर्थ की अपेक्षा प्रतीय्मान अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होकर व्यक्त होता है उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं।

२. **गुणीभूत व्यंग्यकाव्य**—जिसमें प्रतीपमान अर्थ अस्फुट से प्रतीत हो और वाच्यार्थ अंग बन जाता है उसे गुणीभूत व्यंग्य-काव्य कहते हैं। अर्थात् इस प्रकार के काव्य में व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है। मम्मट ने इसके आठ उपभेद माने हैं—

१. **अगूढ़ व्यंग्य**—जिसे असहृदय भी शीघ्र समझले।

२. **अपरंग व्यंग्य**—जिसमें व्यंग्यार्थ वाक्यार्थ से अन्य किसी प्रधान अर्थ का उत्कर्ष करे।

३. **वाच्यसिद्धङ्ग व्यंग्य**—जिसमें व्यंग्यार्थ अपूर्ण वाच्यार्थ को पूर्णता प्रदान करे।

४. **अस्फुट व्यंग्य**—जिसमें निहित व्यंग्यार्थ को सहृदय भी न समझ सके।

५. सन्दिग्ध प्राधान्य व्यंग्य—जिसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता सन्देहास्पद हो।

६. तुल्य प्राधान्य व्यंग्य—जिसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों की प्रधानता समान हो।

७. काक्वाक्षिप्त व्यंग्य—जिसमें काकु से व्यंग्यार्थ स्पष्ट हो।

३. असुन्दर व्यंग्य—जिसमें व्यंग्यार्थ असुन्दर हो।

चित्र काव्य—व्यंग्य स्पर्श से रहित काव्य को चित्रकाव्य या अधमकाव्य

आचार्य मम्मट ने उत्तम, मध्यम, अवर नाम से इनः
चित्रकाव्य को उन्होंने काव्यानुकृति कहा है। विश्वनाथ ने चित्रव
माना। उन्होंने काव्य के केवल दो भेद माने हैं—

१. सर्वोत्तम काव्य ध्वनि।

२. अनुत्तम काव्य गुणीभूत।

विस्तारवादी पण्डित जगन्नाथ ने काव्य के पांच भेद किये

१. उत्तमोत्तम काव्य, २. उत्तम काव्य, ३. मध्यम काव्य,
५. अधमाधम काव्य।

अप्पय दीक्षित ने काव्य के तीन भेद किए हैं—

१. अर्थ चित्र, २. शब्द चित्र, ३. उभय चित्र।

लेकिन ये सब भेद केवल भेद के लिए ही किए गए थे, इसलिए
नहीं हो सके। वस्तुतः काव्य के प्रथम तीन भेदों या उन्हीं को उत्तम
कह कर काव्य-कोटि निर्धारण करने वाले विद्वानों का मत ही उचित

प्रसंगवश एक बात और जान लेनी चाहिए, वह यह कि ध्वनि-
और अलंकारों पर भी प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार गुण के नित्य
काव्य के अनित्य धर्म हैं। वे काव्य की दृष्टि से गुणों को बहुत महत्व प्र
अलंकारों को तो वे बाह्य शोभा को बढ़ाने वाले साधन के रूप में ही म
काव्य का आन्तरिक सौंदर्य तो गुणों में ही निहित होता है।

उपसंहार—यदि ध्वनि सम्प्रदाय की मान्यताओं का मूल्यांकन स
जाय तो यह कहा जा सकता है कि रस-सम्प्रदाय के बाद काव्य की आ
आकर्षण और प्रभाव का जितना सुन्दर और सही अभिव्यंजन इस सम्प्रद
उतना और किसी ने नहीं। एक दृष्टि से तो यह सम्प्रदाय रस-सम्प्रदाय से
शक्तिशाली सिद्ध किया जा सकता है। रस सम्प्रदाय ने काव्य के अन्य मा
दिया था लेकिन इसने रस को प्रधानता देते हुए भी अन्य काव्य-मानों को
कर अपनी व्यापक सीमा का परिचय दिया है।

३०

अलंकार सम्प्रदाय

१. परिभाषा और महत्त्व।
२. संक्षिप्त इतिहास।
३. अलंकार-वर्गीकरण।
४. अलंकार और गुण-भेद।
५. अलंकार और रस।
६. उपसंहार।

अलंकार : परिभाषा और महत्त्व

परिभाषा—अलंकार शब्द 'अलं' और 'कार' इन दो शब्दों के योग से बना है। इनके आधार पर अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—'अलंकरोतीति अलंकारः' अर्थात् जो सज्जित करे वह अलंकार है। वैयाकरणों के मतानुसार 'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः' अर्थात् जिनके द्वारा शोभा में वृद्धि की जाय उन्हें अलंकार कहते हैं। भामह के मतानुसार शब्द-अर्थ-वैचित्र्य को अलंकार कहते हैं। दण्डी ने अलंकार की परिभाषा देते हुए लिखा है-'काव्य शोभा करान् धर्मानलंकारान प्रचक्षते।' अर्थात् काव्य-शोभा को बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहा जाता है। वामन ने 'सौन्दर्य-मलङ्कारः' कहकर सौन्दर्य को ही अलंकार माना है। इन परिभाषाओं के आधार पर अलंकार की दो विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है—

१. अलंकार काव्य के अनिवार्य धर्म हैं।
२. अलंकार काव्य-शोभा को उत्कर्ष प्रदान करते हैं।

महत्त्व—अलंकारवादी आचार्य अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हैं। भामह ने काव्य का प्राण अलंकार ही माना है और अलंकार का प्राण वक्रोक्ति को। दण्डी ने 'काव्यग्राह्यमलंकारात्' कहकर अलंकारों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। आचार्यों ने अलंकार के लक्षणों का विवेचन करते हुए इसे अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण काव्य-तत्त्व घोषित किया है। उन्होंने अलंकार-महत्त्व की सीमा में रस तक को बांध दिया है। उनके द्वारा प्रतिपादित रसवत्, प्रेयस् ऊर्जस्व आदि अलंकार इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

जयदेव तो अलंकार के बिना काव्य का अस्तित्व ही नहीं मानते। उन्होंने लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्यादनुष्णमनलंकृती ॥

अर्थात् जो शब्द-अर्थ वाले अलंकार विहीन काव्य को भी काव्य मानते हैं, वे यह क्यों नहीं मानते कि आग ठण्डी होती है । अलंकारवादी ही नहीं वेदव्यास जैसे पुराण-रचयिता ऋषि भी अलंकार के बिना शब्द की मनोहरता और सुन्दरता अर्थात् काव्य-शोभा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते । यही नहीं उन्होंने यहां तक लिखा है कि 'अर्थालङ्कार रहिता विधवेव सरस्वती' अर्थात् काव्य ही नहीं सम्पूर्ण सरस्वती, वाणी अलंकारों के बिना विधवा स्त्री के समान होती है । वाग्भट और हेमचंद्र ने 'सालङ्कारौ काव्यम्' कहकर इनके महत्त्व को स्वीकार किया है । राजा भोज ने अलंकार-लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि अलंकार शब्द-अर्थ-गाम्भीर्य को स्पष्ट करते हैं, काव्य को रमणीयता प्रदान करते हैं । और अन्त में अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार लक्षण तथा महत्व का विस्तार पूर्वक विवेचन करते हुए कतिपय शब्दों में यह कहकर 'अलंकारमेव काव्यम्' सब धारणाओं का समाहार कर दिया ।

समीक्षक वर्ग इसे अलंकारवादी आचार्यों का दुराग्रह, पक्षपात और एकांगी दृष्टिकोण कहकर अलंकार-महत्त्व पर आक्षेप लगा सकता है । क्योंकि अपने मत को अपनी धारणा और सिद्धान्तों को कौन बुरा कहता है ? किसी वस्तु का वास्तविक महत्व तो तब स्वीकार किया जाना चाहिये जब उसके विरोधी भी उसके कायल होजायें । अतः अलंकार-महत्त्व का सही मूल्यांकन करने के लिए हमें रसवादी तथा अन्य आचार्यों के मत को भी जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है ।

रसवादी आचार्य अलंकार को काव्य का अनिवार्य धर्म नहीं मानते, फिर भी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि अलंकार रसानुभूति में सहायक होते हैं, काव्य-शोभा के उत्कर्षक होते हैं । विश्वनाथ ने 'रसादीनुपकुर्वन्तो' कहकर यह स्वीकार किया है कि अलंकार शरीर की शोभा बढ़ाने वाले आभूषणों की भांति काव्य की शोभा ही नहीं बढ़ाते, वरन् काव्य की आत्मा रस का भी उपकार करते हैं । मम्मट ने भी अलंकारों को रस अस्थिर धर्म के रूप में स्वीकार किया है ।

धिक तीव्र अनुभव करने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है ।" पंत के शब्दों में "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने इनके व्यापक महत्त्व को इन शब्दों में स्वीकार किया है–"अलंकार वह निश्चल योजना है जिसके अन्तर्गत काव्य का स्वरूप, उसके विविध अंग, अंगों के प्रकरण, प्रकरणों के अन्तर्गत कथा, वर्णन, सम्वाद और उन सब में व्याप्त एक विशेष उद्देश्य की अभिव्यक्ति सब आ जाते हैं और यह सब पूरी योजना भाषाओं के जिन अनेक विधानों से पूरी होती है उन सबकी समष्टि ही अलंकार है।" अस्तु।

अलंकार सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास—अलंकार-ज्ञान और प्रयोग के आधार यदि इस सम्प्रदाय का विकास देखा जाय तो हम ऋगवेद से इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ मान सकते हैं। पाश्चात्य समीक्षक डा० डिके ने ऋगवेद को लेकर जो गवेषणा की है, उसके आधार पर उन्होंने बताया है कि उसमें रूपक, उपमा और अनुप्रास का प्रयोग मिलता है। सायण ने ऋगवेद में प्रयुक्त 'उपमा' शब्द का अर्थ उपमान या दृष्टान्त बताया है। उपमा का 'निघण्टु' में भी प्रयोग हुआ है। अलंकार-प्रयोग के प्रारम्भिक काल में अलंकारों को शोभाकारक तत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया था। दण्डी का 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' यह कथन इसका प्रमाण है।

भरत ने 'नाट्य-शास्त्र' में चार अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक, यमक। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक ये ही अलंकार प्रयुक्त होते थे। यदि और भी होते तो भरत उनका उल्लेख अवश्य करते। यह भी माना जा सकता है कि अन्य अलंकारों का प्रयोग तो होता था लेकिन महत्त्व इन्हीं चार को दिया गया था।

स्पष्ट है कि भरतमुनि तक अलंकार का विशिष्ट शास्त्रीय रूप और उसके महत्त्व का आकलन नहीं हो पाया था। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो अलंकार-शास्त्र के प्रथम प्रतिष्ठायक-भामह हैं। इनके पश्चात् एक लम्बी शास्त्रीय परम्परा चली और अलंकार-मत ने एक सम्प्रदाय का रूप ग्रहण कर लिया। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य और उनके मत नीचे दिये जारहे हैं।

भामह—कश्मीर निवासी भामह ने 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। इस ग्रन्थ में अलंकारों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। अलंकार सम्बन्धी भामह के मत को पं० बलदेव उपाध्याय ने संक्षेप में इस प्रकार स्पष्ट किया है–

(क) शब्द-अर्थ युगल का काव्य होना। शब्दकौ काव्यम्।

(ख) भरत प्रतिपादित दश गुणों का ओज, माधुर्य तथा प्रसाद—इन गुणत्रय के भीतर ही समावेश।

(ग) वक्रोक्ति का समस्त अलंकारों का मूल होना जिसका विकास कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवित' में दीख पड़ता है।

(घ) दशविध दोषों का सुन्दर विवेचन।

दण्डी—दण्डी ने 'काव्यादर्श' की रचना की थी। ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। इन्होंने कुल ३५ अलंकारों का अस्तित्व स्वीकार किया है। कई स्थलों पर दण्डी भामह से सहमत नहीं हैं। उन्होंने भामह कृत अनेक अलंकारों के उपभेदों को छोड़ दिया है और भामह द्वारा अस्वीकृत लेश, सूक्ष्म और हेतु को भी अलंकार घोषित किया है। उन्होंने अलंकारों का प्राण भामह की वक्रोक्ति को न मानकर अतिशय को स्वीकार किया है।

उद्भट्—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालंकार सार' शीर्षक से सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अलंकार-विवेचन किया गया है। उद्भट् ने परम्परागत अलंकारों के उपभेद करते हुए दृष्टान्त, काव्यलिंग और पुनरुक्तावदाभास नामक नये अलंकारों की भी उद्भावना की है। कुछ अलंकारों का स्थान भी परिवर्तित कर दिया है। कुल मिलाकर इन्होंने ४१ अलंकार माने हैं।

रुद्रट—रुद्रट ने भी भामह की तरह ही अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' रखा है। अलंकार व्यवस्था और वर्गीकरण के तो रुद्रट एक मात्र वैज्ञानिक-आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने अलंकारों की संख्या ५० तक बढ़ाई है। अलंकारों के साथ-साथ उन्होंने अलंकार दोषों का भी विवेचन किया है। सहोक्ति और सम्मुचय अलंकार को वे वास्तव और औपम्य दोनों वर्गों में रखने के पक्षपाती हैं। रुद्रट ने अलंकारों को चार प्रमुख वर्गों में रखा है—

१. वास्तव। २. औपम्य। ३. अतिशय। ४. श्लेष।

रुद्रट की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने रस तथा भाव को—'रसवत्' या 'प्रेयस'-अलंकार नहीं माना है।

भोजराज—भोजराज ने दो अलंकार ग्रन्थों का प्रणयन किया—'सरस्वती-कण्ठाभरण', 'शृंगार प्रकाश'। आपने २४ शब्दालंकार २४ अर्थालंकार और २४ ही उभयालंकार अर्थात् ७२ अलंकार माने हैं। भोज ने 'रीति' काव्यालंकार के अन्तर्गत

में अलंकार सम्बन्धी मान्यताओं में विषमता दिखाई देती है। इनमें से विद्वानों ने उनके 'अलंकार सर्वस्व', में विवेचित अलंकारों, उनकी परिभाषा आदि से ही प्रेरणा ग्रहण की है। रुय्यक ने शब्दालंकार ६ माने हैं और अर्थालंकार ७५। इस प्रकार रुय्यक कहीं-कहीं मम्मट से सहमत नहीं हैं। और कहीं-कहीं मम्मट को ज्यों का त्यों ग्रन्थ में उतार दिया गया है। काव्यलिंग, चित्र, समाधि, व्याजोक्ति आदि की परिभाषाएं मम्मट जैसी ही हैं। रुय्यक के 'अलंकार सर्वस्व' पर ध्वनि-मत का प्रभाव है और अन्य ग्रन्थों पर वक्रोक्ति का उन्होंने वक्रोक्ति के प्रभाव में आकर समस्त अर्थालंकारों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना है और शब्दालंकारों की संख्या १० तक बढ़ादी है।

जयदेवः—जयदेव घोर अलंकारवादी थे, अन्ध अलंकार समर्थक थे। इनका ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' है। उन्होंने रसवादियों का अत्यन्त तीक्ष्णता के साथ खण्डन किया और अलंकारों को काव्य के लिए अनिवार्य माना।

'चन्द्रालोक' में ४ शब्दालंकार—अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, चित्र और ७५ अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। जयदेव ने रुय्यक के विचित्र और विकल्प को ग्रहण किया। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनुगुण, अर्थानुभास, परिकरांकर, विकस्वर, विपादन, स्फुटानुप्रास, हुंकृति, पूर्वरूप, प्रदर्पण, अवज्ञा आदि अलंकारों को ग्रहण कर अलंकार–विकास की दिशा में एक कदम आगे बढाया।

विश्वनाथः—'साहित्य दर्पण' के प्रणेता विश्वनाथ यद्यपि अलंकारवादी नहीं थे, तो भी उन्होंने इनका सम्यक् विवेचन किया है। आपने १२ शब्दालंकार ७१ अर्थालंकार और ७ रसवत् अलंकारों का विवेचन किया है। उन्होंने दो अर्थालंकार—अनुकूल, निश्चय तथा श्रुति, भाषासम आदि शब्दालंकारों की भी नवीन उद्भावना की है।

जगन्नाथः—श्री जगन्नाथ ने अपने 'रस गंगाधर' में काव्य प्रकाश और अलंकार सर्वस्व की खूब धज्जियां उड़ाई हैं। पंडित जगन्नाथ अलंकारों की संख्या ७० मानते हैं। आपने एक नवीन अलंकार की भी उद्भावना की है—तिरस्कार।

अप्पय दीक्षितः—इनके अलंकार-ग्रन्थ का नाम 'कुवलयानन्द' है। आपने बड़ी गम्भीरतापूर्वक और विस्तारपूर्वक अलंकारों का विवेचन किया है। इन्होंने अलंकारों की संख्या–११८ मानी है, जिनमें से अधिकांश तो पूर्व आचार्यों द्वारा विवेचित अलंकार है और १८ अलंकार नवीन हैं—अनुज्ञा, अल्प, गूढोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रस्तुतांकुर, प्रतिषेध, मिथ्याध्यवसित, मुद्रा, युक्ति, रत्नावली, वारक दीपक, व्याप्त निन्दा, विशेषक, विवृतोक्ति, विचित्रोक्ति और ललिता आपने शब्दालंकारों का विवेचन नहीं किया है।

अलंकार-वर्गीकरणः—प्रायः सभी आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार अलंकारों का वर्गीकरण किया है, जिसमें परस्पर साम्य भी है और वैषम्य भी। अलंकार-वर्गी-

करण करने वाले आचार्यों में निम्नलिखित आचार्यों का नाम विशेष रूप से उल्लेख-नीय है—

रुद्रटः—रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में अलंकारों को चार आधारों पर वर्गीकृत किया है—

(१) **औपम्यः**—उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तर न्यास, भ्रांतिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय आदि अलंकारों को रुद्रट ने औपम्य वर्ग के अन्तर्गत रखा है।

(२) **वास्तवः**—जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, कारणमाला, सार, सूक्ष्म, अवसर, एकावली आदि को इस वर्ग के अन्तर्गत स्थान दिया है।

(३) **अतिशयः**—विभावना, अधिक, तद्गुण, विरोध, पिहित, व्याघात, पूर्व, विशेष आदि को इस वर्ग का अलंकार माना है।

(४) **श्लेषः**—श्लेष के रुद्रट ने आठ भेद माने हैं—वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन।

रुय्यकः—'अलंकार सर्वस्व' में रुय्यक के द्वारा किया गया अलंकार-वर्गीकरण और भी स्पष्ट रूप में हमारे सामने आता है। रुय्यक ने ६ शब्दालंकार माने हैं—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, यमक, लाटानुप्रास और चित्र। अर्थालंकारों को उन्होंने सात वर्गों में रखा है।

(१) सादृश्य गर्भः—उपमा आदि।

(२) विरोध गर्भः—विरोधाभास आदि।

(३) शृंखलाबद्धः—एकावली, कारणमाला आदि।

(४) तर्क न्यायमूलकः—काव्य-लिंग आदि।

(५) वाक्य न्याय मूलकः—सम्भावना, परिसंख्या, पर्याय आदि।

(६) लोक न्याय मूलकः—समाधि, विशेष, मीलित आदि।

(७) गूढार्थ प्रतीतिमूलकः—वक्रोक्ति, अन्योक्ति आदि।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी इसी वर्गीकरण को ग्रहण किया है।

किया है। अतः यह आवश्यक है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से अलंकारों के भेद करते हुए विषय को सुस्पष्ट और सुबोध बनाया जाय। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो हमें यह ज्ञात होता है कि आचार्यों ने सम्पूर्ण अलंकारों को तीन वर्गों में विभाजित किया है और फिर उन्हीं के अनेक उपभेद भी किये हैं।

१. शब्दालंकार, २. अर्थालंकार, ३. उभयालंकार।

१. शब्दालंकारः—जहां शब्दों में सौन्दर्य और चमत्कार निहित होता है वहां पर प्रयुक्त अलंकारों को शब्दालंकार कहा जाता है। शब्दालंकारों में प्रमुख रूप से निम्नलिखित अलंकारों की गणना की जाती है—

अनुप्रासः—जहां व्यंजन या वर्ण-साम्य हो वहां अनुप्रास अलंकार होता है। इस अलंकार के पांच भेद माने गये हैं—

१. छेकानुप्रासः—अक्षर या अक्षरों की एक बार आवृति जहां होती है, वहां छेकानुप्रास होता है।

२. वृत्यानुप्रास (वृत्ति):—एक से अधिक बार आवृति को वृत्यानुप्रास कहते हैं। वृत्ति-आधार पर यह तीन प्रकार का होता है—

(क) उपनागरिका वृत्तिः—माधुर्य गुण की व्यंजना करने वाले वर्ण-वर्णों की आवृत्ति में उपनागरिका वृत्ति होती है।

(ख) परुषावृत्तिः—ओजगुण सम्पन्न व्यंजनों की आवृति परुषा-वृत्ति कह-लाती है।

(ग) कोमलावृत्तिः—उपर्युक्त दोनों वृत्तियों वाले वर्णों की आवृत्ति।

३. श्रुत्यानुप्रासः—एक ही वर्ग के वर्णों की आवृत्ति जहां हो।

४. लाटानुप्रासः—जहां शब्द के अर्थ में अन्तर न पड़ते हुए भी अन्वय करने से पद का अर्थ बदल जाय वहां लाटानुप्रास अलंकार माना जाता है।

५. अन्त्यानुप्रासः चरण के अन्त में तुकसाम्य को कहते हैं।

यमकः—जब एक ही शब्द भिन्न स्थानों पर प्रयुक्त होकर भिन्न अर्थ प्रगट करे तो यमक अलंकार होता है।

(स) सभ तद्रूपः—इसके भी तीन भेद किये गये हैं—

(१) सावयव या साङ्गः—उपमेय पर उपमान का आरोप अवयव सहित हो।

(२) निरवयवया निरङ्गः—यह दो प्रकार का होता है—

(क) शुद्ध रूपकः—एक उपमेय में एक उपमान का आरोप।

(ख) माला रूपकः—एक उपमेय में अनेक उपमानों का आरोप।

(३) परम्परित रूपकः—एक आरोप को दूसरे आरोप का कारण बनाना।

(१) अपह्नुतिः—उपमेय का निषेध और उपमान की स्थापना। इसके ६ भेद हैं—

(i) शुद्धापह्नुतिः—किसी गुण के कारण उपमेय का निषेध और उपमान की स्थापना।

(ii) हेत्वपह्नुतिः—उपमेय का सकारण निषेध और उपमान की स्थापना।

(iii) पर्यस्तापह्नुतिः—उपमेय के धर्म का निषेध करके अन्य में आरोपित किया जाय।

(iv) भ्रन्त्यापह्नुतिः—सत्य कथन के द्वारा भ्रांति का निराकरण करना।

(v) छेकापह्नुतिः—सत्य का निषेध असत्य की प्रस्थापना करना।

(vi) कैतयापह्नुतिः—मिस, व्याज, शब्दों के द्वारा किसी के स्थान पर अन्य का कथन। इनके अतिरिक्त परिणाम, सन्देह, भ्रांति और उल्लेख इसी वर्ग के अन्तर्गत माने गये हैं।

(२) अध्यवसायमूलः—इसमें उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति दो अलंकार माने गये हैं—

उत्प्रेक्षाः—इसमें प्रस्तुत में अप्रस्तुत की सम्भावना की जाती है। उत्प्रेक्षा के तीन भेद माने जाते हैं—

(१) वस्तुप्रेक्षाः—प्रस्तुत के लिए वलपूर्वक अप्रस्तुत की सम्भावना करना। इसके दो भेद होते हैं—

(क) उक्त विषयाः—इसमें उत्प्रेक्षा के विषय का अप्रस्तुत के पूर्व ही कथन होता है।

(ख) अनुक्त विषयाः—कथन के विना ही उत्प्रेक्षा कर लेना।

(२) हेतूत्प्रेक्षाः—अहेतु को हेतु मानकर उत्प्रेक्षा करना। इसके भी दो भेद हैं—

(क) सिद्धास्पदः—जहां उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध हो।

(ख) असिद्धास्पदः—जहां उत्प्रेक्षा का आधार असिद्ध हो।

(३) फलोत्प्रेक्षाः—अफल में फल की उत्प्रेक्षा करना। इसके भी सिद्धास्पद और असिद्धास्पद दो भेद होते हैं।

अतिशयोक्तिः—लोक मर्यादा से परे जाकर अतिरंजित वर्णन करना। इसके ६ भेद माने गये हैं—

द्वितीयः—उपमेय में उपमान के गुणों को स्थापना।

तृतीयः—उपमान के अंग में उपमेय के गुणों की स्थापना।

चतुर्थः –सद्व्यवहार से उपदेश कथन।

पंचमः--असत् क्रिया से असत् अर्थ की व्यंजना।

(३) **भेद प्रधानः**—इस वर्ग के व्यतिरेक, सदोक्ति और विनोक्ति अलंकार हैं।

व्यतिरेकः—उपमेय में उपभान की अपेक्षा सकारण उत्कृष्ठता का द्योतन।

सदोक्तिः—एक पदार्थ का अन्य से सार्थक शब्दों द्वारा कथन।

विनोक्तिः—एक के अभाव में अन्य के शोभन—अशोभन का कथन।

(४) **विशेषण वैचित्र्यः**—इसमें समासोक्ति, परिकर अलंकार आते हैं—

समासोक्तिः—प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति कराना। इसके दो भेद हैं—

(क) श्लिष्टः—श्लेष के द्वारा प्रतीति।

(ख) अश्लिष्टः—श्लेष के बिना प्रतीति।

परिकरः—साभिप्रांय विशेषणों का कथन।

(५) **विशेषण विशेष्य वैचित्र्यः**—श्लेष (अर्थ श्लेष) अलंकार इसी वर्ग का है।

(६) **अप्रस्तुत प्रशंसाः**—अप्रस्तुत वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति। इसके पांच भेद हैं--

(१) कार्य निबन्धनाः – कार्य-कथन से कारण का संकेत।

(२) कारण निबन्धनाः—कारण द्वारा कार्य का कथन।

(३) सामान्य निबन्धनाः—सामान्य के कथन द्वारा विशेष की व्यंजना।

(४) विशेष निवन्धनाः—विशेष के कथन द्वारा सामान्य की व्यंजना।

(५) सारूप्य निबन्धनाः—समान अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना।

(७) **अर्थान्तरन्यासः**—सामान्य में विशेष और विशेष में सामान्य का वर्णन।

(८) **पर्यायोक्ति, व्याज स्तुति और आक्षेपः**—

पर्यायोक्तिः—किसी बात को सीधे न कह कर चातुर्य से कहना।

व्याज स्तुतिः—निन्दा के बहाने प्रशंसा करना।

(२) **निरोध मूलकः**—इस वर्ग में १२ अलंकार आते हैं। जिनमें से प्रमुख ये हैं—

विरोधाभासः—अविरोध होते हुए भी विरोध दिखाना।

विशेषोक्तिः—कारण होने पर भी कार्य का न होना। यह अनुक्त निमित्ता, उक्त निमित्ता और अचिन्त्य निमित्ता तीन प्रकार की होती है।

विभावनाः—इसके ६ भेद हैं—

पहली विभावनाः—कारण के बिना ही कार्य का हो जाना।

दूसरी विभावनाः—अपूर्ण कार्य से कार्य का पूर्ण होना।

द्वितीयः—उपमेय में उपमान के गुणों को स्थापना।

तृतीयः—उपमान के अंग में उपमेय के गुणों की स्थापना।

चतुर्थः –सद्व्यवहार से उपदेश कथन।

पंचमः—असत् क्रिया से असत् अर्थ की व्यंजना।

(३) **भेद प्रधानः**—इस वर्ग के व्यतिरेक, सदोक्ति और विनोक्ति अलंकार हैं।

व्यतिरेकः—उपमेय में उपभान की अपेक्षा सकारण उत्कृष्ठता का द्योतन।

सदोक्तिः—एक पदार्थ का अन्य से सार्थक शब्दों द्वारा कथन।

विनोक्तिः—एक के अभाव में अन्य के शोभन—अशोभन का कथन।

(४) **विशेषण वैचित्र्यः**—इसमें समासोक्ति, परिकर अलंकार आते हैं—

समासोक्तिः—प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति कराना। इसके दो भेद हैं—

(क) श्लिष्टः—श्लेप के द्वारा प्रतीति।

(ख) अश्लिष्टः—श्लेप के विना प्रतीति।

परिकरः—साभिप्राय विशेपणों का कथन।

(५) **विशेषण विशेष्य वैचित्र्यः**—श्लेप (अर्थश्लेप) अलंकार इसी वर्ग का है।

(६) **अप्रस्तुत प्रशंसाः**—अप्रस्तुत वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति। इसके पांच भेद हैं—

(१) कार्य निवन्धनाः – कार्य-कथन से कारण का संकेत।

(२) कारण निवन्धनाः—कारण द्वारा कार्य का कथन।

(३) सामान्य निवन्धनाः—सामान्य के कथन द्वारा विशेप की व्यंजना।

(४) विशेप निवन्धनाः—विशेप के कथन द्वारा सामान्य की व्यंजना।

(५) सारूप्य निवन्धनाः—समान अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना।

(७) **अर्थान्तिरन्यासः**—सामान्य में विशेप और विशेप में सामान्य का वर्णन।

(८) **पर्यायोक्ति, व्याज स्तुति और आक्षेपः**—

पर्यायोक्तिः—किसी वात को सीधे न कह कर चातुर्य से कहना।

व्याज स्तुतिः—निन्दा के वहाने प्रशंसा करना।

(२) **विरोध मूलकः**—इस वर्ग में १२ अलंकार आते हैं। जिनमें से प्रमुख ये हैं—

विरोधाभासः—अविरोध होते हुए भी विरोध दिखाना।

विशेपोक्तिः—कारण होने पर भी कार्य का न होना। यह अनुक्त निमित्ता, उक्त निमित्ता और अचिन्त्य निमित्ता तीन प्रकार की होती है।

विभावनाः—इसके ६ भेद हैं—

पहली विभावनाः—कारण के विना ही कार्य का हो जाना।

दूसरी विभावनाः—अपूर्ण कार्य से कार्य का पूर्ण होना।

(१) भेदकातिशयोक्तिः—अनिर्वचनीय भाव का वर्णन।

(२) सम्बन्धातिशयोक्तिः—योग्य में अयोग्यता और अयोग्य में योग्यता का वर्णन।

(३) चपलातिशयोक्तिः—कारण के ज्ञान मात्र से ही कार्य हो जाना।

(४) अक्रमातिशयोक्तिः—कारण-कार्य का एक साथ होना।

(५) रूपकातिशयोक्तिः—केवल उपमेयों का वर्णन।

(६) अत्यन्तातिशयोक्तिः—कारण के पहले ही कार्य का हो जाना।

गम्यमान औपम्यः—इसमें साधर्म्य गुप्त रहता है। इसके आठ प्रकार हैं।

(१) **पदगत गम्य औपम्यः**—इस वर्ग में दो अलंकार आते हैं—तुल्य योगिता और दीपक।

तुल्ययोगिताः—एक ही गुण क्रिया द्वारा अनेक का धर्म स्थापित किया जाता है। इसके चार भेद हैं—

प्रथम तुल्ययोगिताः—अनेक उपमेयों में एक ही धर्म का कथन।

द्वितीय तुल्ययोगिताः—अनेक उपमानों का एक ही धर्म द्वारा कथन।

तृतीय तुल्ययोगिताः—एक ही वस्तु की अनेक से साम्म।

चतुर्थ तुल्ययोगिताः—हित अनहित दोनों में एक ही धर्म की स्थापना।

दीपकः—उपमेय उपमान का एक ही धर्म बताया जाय। दीपक के चार भेद हैं—

(१) कारक दीपकः—अनेक क्रियाओं में एक ही क्रिया।

(२) माला दीपकः—एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी वस्तु में समान धर्म हो।

(३) आवृत्ति दीपकः—इसके तीन भेद हैं—

(क) पदावृत्तिः—भिन्न अर्थ वाले एक ही क्रिया पद की आवृत्ति।

(ख) अर्थावृत्तिः—एक ही अर्थ वाले भिन्न शब्दों की आवृत्ति।

(ग) पदार्थावृत्तिः—उपर्युक्त दोनों रूपों की आवृत्ति।

(४) देहरी दीपकः—एक पद के द्वारा प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों की सार्थकता बताना।

(२) **पदार्थगत औपम्यः**—इसमें तीन अलंकार आते हैं—

प्रतिवस्तूपमाः—उपमेय उपमान का पृथक शब्दों से एक ही धर्म बताना।

दृष्टान्तः—उपमेय-उपमान धर्म का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव दिखाना।

निदर्शनाः—वाक्यों के भिन्नार्थ में समता भाव का आरोप। इसके पांच भेद हैं—

प्रथमः—असम वाक्यों में 'जो', 'सो' 'वे' आदि पदों द्वारा समता लाना।

द्वितीयः—उपमेय में उपमान के गुणों की स्थापना।

तृतीयः—उपमान के अंग में उपमेय के गुणों की स्थापना।

चतुर्थः -सद्व्यवहार से उपदेश कथन।

पंचमः—असत् क्रिया से असत् अर्थ की व्यंजना।

(३) **भेद प्रधानः**—इस वर्ग के व्यतिरेक, सदोक्ति और विनोक्ति अलंकार हैं।

व्यतिरेकः—उपमेय में उपमान की अपेक्षा सकारण उत्कृष्ठता का द्योतन।

सदोक्तिः—एक पदार्थ का अन्य से सार्थक शब्दों द्वारा कथन।

विनोक्तिः—एक के अभाव में अन्य के शोभन—अशोभन का कथन।

(४) **विशेषण वैचित्र्यः**—इसमें समासोक्ति, परिकर अलंकार आते हैं—

समासोक्तिः—प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति कराना। इसके दो भेद हैं—

(क) श्लिष्टः—श्लेष के द्वारा प्रतीति।

(ख) अश्लिष्टः—श्लेष के बिना प्रतीति।

परिकरः—साभिप्राय विशेषणों का कथन।

(५) **विशेषण विशेष्य वैचित्र्यः**—श्लेष (अर्थ श्लेष) अलंकार इसी वर्ग का है।

(६) **अप्रस्तुत प्रशंसाः**—अप्रस्तुत वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति। इसके पांच भेद हैं—

(१) कार्य निबन्धनाः - कार्य-कथन से कारण का संकेत।

(२) कारण निबन्धनाः—कारण द्वारा कार्य का कथन।

(३) सामान्य निबन्धनाः—सामान्य के कथन द्वारा विशेष की व्यंजना।

(४) विशेष निबन्धनाः—विशेष के कथन द्वारा सामान्य की व्यंजना।

(५) सारूप्य निबन्धनाः—समान अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना।

(७) **अर्थान्तरन्यासः**—सामान्य में विशेष और विशेष में सामान्य का वर्णन।

(८) **पर्यायोक्ति, व्याज स्तुति और आक्षेपः**—

पर्यायोक्तिः—किसी बात को सीधे न कह कर चातुर्य से कहना।

व्याज स्तुतिः—निन्दा के बहाने प्रशंसा करना।

(२) **विरोध मूलकः**—इस वर्ग में १२ अलंकार आते हैं। जिनमें से प्रमुख ये हैं—

विरोधाभासः—अविरोध होते हुए भी विरोध दिखाना।

विशेषोक्तिः—कारण होने पर भी कार्य का न होना। यह अनुक्त निमित्ता, उक्त निमित्ता और अचिन्त्य निमित्ता तीन प्रकार की होती है।

विभावनाः—इसके ६ भेद हैं—

पहली विभावनाः—कारण के बिना ही कार्य का हो जाना।

दूसरी विभावनाः—अपूर्ण कार्य से कार्य का पूर्ण होना।

तीसरी विभावना:— बाधा होने पर भी कार्य का होना।
चौथी विभावना:— अन्य के कारण से कार्य का होना।
पांचवीं विभावना:—विरुद्ध कारण से कार्य का होना।
छठी विभावना:—कार्य से कारण का होना।

इनके अतिरिक्त सम, विभिन्न, अधिक, अन्योन्य, विशेप, व्याघात, असंगति, विषम आदि इसी वर्ग के अलंकार हैं।

३. श्रृंखलाबद्ध मूलक:—इस वर्ग के प्रमुख अलंकार ये हैं—
कारणमाला:—वस्तुओं के कारण-कार्य का परस्पर सम्बन्ध बताते हुए चलना।
एकावली:—पूर्व कथित पदार्थ के बाद के पदार्थ का स्थापन या निषेध।
सार:—श्रृंखलाबद्ध पदार्थों के उत्कर्ष-अपकर्ष का वर्णन।

४. न्यायमूल:—इस वर्ग के ये अलंकार हैं—
काव्य लिंग:—समर्थनीय अर्थ का अन्य अर्थ द्वारा समर्थन। अनुमान भी इसी वर्ग का अलंकार है।

५. काव्य न्यायमूल:—इस वर्ग के ये अलंकार हैं—
यथासंख्य:—क्रमपूर्वक पदार्थों का वर्णन और अन्वय हो।
परिसंख्या:—किसी वस्तु, धर्म, जाति, गुण को स्वाभाविक स्थिति से हटाकर किसी विशेष स्थान पर स्थापित करना।

इस वर्ग में पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प समुच्चय और समाधि आदि अलंकार भी आते हैं।

६. लोक न्यायमूलक:—इस वर्ग के ये अलंकार हैं—
प्रतीप:—यह उपमा से उल्टा अलंकार है। इसके पांच भेद हैं—
पहला:—उपमान को उपमेय रूप में ग्रहण करना।
दूसरा:—उपमान को उपमेय रूप में लाकर उपमेय से उपमान को बढ़ा कर कहना।
तीसरा:—उपमेय के द्वारा उपमान का खण्डन या उसकी लघुता बताना।
चौथा:—उपमेय की तुलना में उपमान की असमर्थता को दिखाना।
पांचवां—उपमान को उपमेय की तुलना में व्यर्थ बताना।
मीलित, प्रत्यनीक, सामान्य, तद्‌गुण, अदतगुण, उत्तर आदि इसी वर्ग के अलंकार हैं।

७. गूढार्थ प्रतीति मूलक:—इसके अन्तर्गत सूक्ष्म और व्याजोक्ति आदि अलंकार आते हैं।

३. उभयालंकार:—ये दो हैं—(१) संसृष्टि अलंकार। (२) संकर अलंकार।
१. संसृष्टि अलंकार:—जहां दोनों प्रकार के कई अलंकारों की योजना हो। इसके तीन भेद हैं—

(क) शब्दालंकार संसृष्टि—जहां अनेक शब्दालंकारों की योजना हो।

(ख) अर्थालंकार संसृष्टिः—जहां अनेक अर्थालंकारों की योजना हो।

(ग) शब्दार्थालंकार संसृष्टिः—जहां शब्दार्थालंकारों की योजना हो।

२. संकर अलंकार—जहां अनेक अलंकार नीर-क्षीर न्यायानुसार मिले हुए हों। इसके भी तीन भेद हैं—

(क) अङ्गांङ्गीभाव संकरः—जहां कई अलंकार एक दूसरे पर निर्भर हों।

(ख) सन्देह संकरः—अनेक अलंकार इस प्रकार एकत्र हों कि किसी एक अलंकार का निश्चय न हो सके।

(ग) एकवाचकानुप्रवेश संकरः—जहां अनेक अलंकारों का चमत्कृत कर देने वाला समीकरण हो।

आचार्य रूय्यक ने इन दोनों अलंकारों के साथ ही, स्वाभावोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवत्, प्रेयस्, अर्जस्व, समाहित, भावोदय, भावसंधि, भावशवलता को किसी भी वर्ग में नहीं माना है।

आचार्यों द्वारा अलंकार और गुण-भेद निरूपणः—वामन से पूर्व आचार्यों ने इन दोनों में कोई भेद नहीं माना है। भामह ने भाविक, अलंकार के लिए 'गुण' शब्द का ही प्रयोग किया है। दण्डी ने अलंकार और गुण दोनों के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है।

अग्निपुराण में 'गुणों' को काव्य में महती शोभा का समावेश करने वाले कारण कहा गया है। इधर आचार्यों ने इसी को अलंकार कहा है। लेकिन वामन ने इन दोनों की पृथकता को बताते हुए कहा है कि काव्य के शोभा-कारक धर्म को गुण कहते हैं। अलंकार तो उस शोभा को बढ़ाने वाले होते हैं। इसीलिए वामन तथा भोज आदि ने गुणों को काव्य के लिए अनिवार्य माना है। अलंकार बिना उन्होंने काव्य की किसी भी हानि को स्वीकार नहीं किया है। उद्भट अलंकार और गुण दोनों में अभेद मानते हैं। मम्मट गुणों को रस के उत्कर्षक धर्म और अलंकारों को शब्द-अर्थ के अस्थिर धर्म कहते हैं। उनके मत से इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर है—

१. गुण रस के धर्म है। अलंकार शब्द-अर्थ के अनित्य धर्म हैं।

२. गुण रस के साथ सदा ही रहा करते हैं। अलंकार नीरस काव्यों में भी होते हैं।

३. गुण काव्य के आन्तरिक और अलंकार उसके वाह्य पक्ष से सम्बन्धित होते हैं।

इस प्रकार अलंकार और गुण के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों के मतों को संक्षेप में यों रखा जा सकता है—

१. अलंकारवादी, दोनों को एक मानते हैं।

२. रीतिवादी, गुण को रीति का और अलंकार को गुण का उत्कर्षक मानते हैं।

३. रसवादी, गुण को रस का नित्य धर्म और अलंकार को शब्द-अर्थ का अनित्य धर्म मानते हैं।

४. ध्वनिवादी गुण को व्यंग्यार्थ और अलंकार को ध्वनि विशेष मान कर गुण को अधिक महत्व प्रदान करते हैं।

अलंकार और रसः—अलंकारवादी आचार्यों ने रसवत्, प्रेयस आदि अलंकारों के अन्तर्गत ही रस को माना है। वैसे सभी ने काव्य में रस की स्थिति को भलीभांति स्वीकार किया है। वैसे यह तो नहीं माना जा सकता कि रस अलंकार है, लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अलंकार रसानुभूति में योग देते हैं—

(१) सादृश्यगत या औपम्यमूलक अलंकार मनोवृत्तियों के उद्दीपन और लय कराने में बड़े सहयोगी होते हैं।

(२) रस का प्रमुख गुण भी चमत्कार है और अलंकार का भी। इसलिए अलंकार रस के इस गुण को और भी उत्कर्ष प्रदान करते हैं।

(३) अनुप्रास आदि की प्रवाहमयी वर्णयोजना रसानुभूति की बाधाओं को हटा कर सहज रूप में उसे साधारणीकृत करने में सहयोग देती है।

उपसंहारः—निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अलंकार सम्प्रदाय साहित्य-शास्त्र में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अलंकारों को अत्यधिक आग्रह से ग्रहण न करके वैज्ञानिक दृष्टि से यदि इन्हें साहित्य-मानों के रूप में प्रस्तुत किया गया होता तो यह कई दोषों से बच जाता। इसका सबसे बड़ा अभाव—जिसे यह अपनी सबसे बड़ी उपलब्धि मानता है—यह है कि इसने रस तक को अलंकार मान लिया। रस को अलंकार किस प्रकार माना जा सकता है, समझ में नहीं आता। अलंकारों की जो परिभाषा इस सम्प्रदाय ने की है, रस उसके अन्तर्गत भी नहीं आता।

फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शैली पक्ष के सौन्दर्य का विवेचन करने में इस सम्प्रदाय की उपलब्धियों ने बहुत बड़ा सहयोग दिया है।

३१

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

१. स्वरूप और ऐतिहासिक विकास।
२. परिभाषा।
३. आचार्य कुन्तक और वक्रोक्ति।
४. वक्रोक्ति के भेद।
५. वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद।
६. मूल्यांकन और निष्कर्ष।

वक्रोक्ति शब्द 'वक्र' और 'उक्ति' के प्रयोग से बना है। इसका सीधा सादा अर्थ वक्र उक्ति या टेढी बात होता है। जब आनन्दवर्धन ने रस, अलंकार और रीति आदि सबका ध्वनि के अन्तर्गत समावेश कर दिया, तब ही कुन्तक ने इस मत का विरोध करते हुए 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' को जन्म दिया।

वक्रोक्ति का स्वरूप, महत्व और ऐतिहासिक विकास:—शब्द के रूप में वक्रोक्ति का प्रयोग संस्कृत साहित्य में अत्यन्त प्राचीनकाल से होता आ रहा है। बाण ने अपनी 'कादम्बरी' में वक्रोक्ति का प्रयोग 'परिहास-जल्पित' के अर्थ में किया है। अमरुशतक में भी इसे इसी अर्थ में—क्रीड़ाकलाप—प्रयुक्त किया गया है।

भामह ने वक्रोक्ति को 'इष्टावाचामलंकृति' अर्थात् शब्द और अर्थ का वैचित्र्य मानते हुए इसकी सभी अलंकारों के मूल में उपस्थिति को स्वीकार किया है। उन्होंने काव्य-सौन्दर्य के लिए वक्रोक्ति को अनिवार्य माना है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनमार्थो विभाव्यते।
भलोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽवयाविना॥

भामह ने वक्र अर्थ में शब्दों के प्रयोग को अलंकार मानते हुए इसके महत्व को बहुत बढ़ा चढ़ा कर स्वीकार किया है। वक्रोक्ति के बिना वाक्य को भामह काव्य नहीं मानते। उसे उन्होंने 'वार्ता' कहा है।

महा कवि दण्डी ने तो सम्पूर्ण वाङ्मय को ही दो प्रकार का माना है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। दंडी वक्रोक्ति को कितना महत्व प्रदान करते थे यह इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने 'रसवत्' जैसे अलंकार को भी वक्रोक्ति के अन्तर्गत स्वीकार किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को कोई विशेष अलंकार न मानकर सम्पूर्ण अलंकारों का सामूहिक अभिधान माना है।

वामन ने वक्रोक्ति को एक विशेष अर्थालंकार माना है। वे वक्रोक्ति को सादृश्य पर आश्रित लक्षण मानते हैं—'सादृश्या श्रयात् लक्षण वक्रोक्तिः'। लेकिन रुद्रट, मम्मट, वाग्भट, विद्याधर, हेमचन्द्र, और जयदेव आदि आचार्य वक्रोक्ति को शब्दालंकार मानने के पक्ष में हैं। रुद्रट ने इसके दो भेद माने हैं—काकु और श्लेष। अग्नि पुराण में भी इसे शब्दालंकार के रूप में ग्रहण किया गया है। अभिनव गुप्त ने वक्रोक्ति के दो प्रकार बताये हैं—शब्द वक्रता और अभिधेय वक्रता।

परिभाषा—भामह ने लोक-कथन से भिन्न उक्ति को वक्रोक्ति कहा है—

'लोकातिक्रान्त गोचरं वचनम् वक्रोक्तिः।' आचार्य वामन ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—'सादृश्याश्रयात् लक्षणा वक्रोक्तिः' अर्थात् सादृश्य पर आधारित लक्षणा वक्रोक्ति कही जाती है।

रुद्रट ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि 'जब कोई किसी का कथन सुन कर उसके शब्दों का कोई भिन्न अर्थ लगाते हुए असंगत उत्तर देता है तब वक्रोक्ति होती है।'

कुन्तक और वक्रोक्ति—आचार्य कुन्तक वक्रोक्तिवाद के प्रवर्तक हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्ति जीवित' में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है। अन्य सम्प्रदायों के स्वमत आग्रह की भांति ही इन्होंने भी काव्य की आत्मा को अपने मतानुसार ही वक्रोक्ति कहते हुए स्पष्ट रूप में लिखा है—'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' अर्थात् वक्रोक्ति काव्य का प्राण है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए लिखा है कि—'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गीभणितिरूच्यते'। अर्थात् वाक्वैदग्ध्यपूर्ण उक्ति ही वक्रोक्ति है। काव्य की परिभाषा करते हुए भी उन्होंने वक्रता को विशेष रूप से स्थान दिया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवास्थितौ काव्यं तदविदाह्लाद कारिणि॥

अर्थात् कवि के वक्र व्यापार से युक्त सहृदयों को आनन्दित करने वाले व्यवस्थित किए हुए शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप ही काव्य होता है। उन्होंने अपने इसी मत को विश्लेषित करते हुए लिखा है कि अलंकारवादी ने कवि कौशल से कल्पित कमनीय शब्द को ही काव्य मान लिया है और अन्यों के मतानुसार चमत्कारी वाच्य को काव्य माना गया है। लेकिन कुन्तक को ये मत स्वीकार नहीं हैं, क्योंकि जिस प्रकार तेल का अस्तित्व हर एक तिल में होता है उसी प्रकार काव्य की स्थिति शब्द और अर्थ दोनों तत्वों में होती है, किसी एक में नहीं होती।

इससे स्पष्ट है कि कुन्तक शब्द और अर्थ को अलंकार्य मानते हैं और वक्रोक्ति को उनके अलंकरण का साधन। अपनी इस धारणा को कुन्तक ने इन शब्दों में और भी स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है—

उमावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भङ्गीभणितिरुच्यते॥

अर्थात् शब्द और अर्थ अलंकार्यों को अलंकृत करने वाली वैदग्ध्यभङ्गीभणिति वक्रोक्ति है। यहां उन्होंने वक्रोक्ति की एक विशेषता की ओर संकेत कर दिया है कि वाग्वैदग्ध्य या चमत्कार पूर्ण उक्ति ही वक्रोक्ति होती है। दूसरे शब्दों में कुन्तक ने 'वैदग्ध्यभङ्गी भणिति' को चमत्कार युक्त उक्ति के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने अपने इस मत को कि वक्रोक्ति चमत्कारमूलक होती है—निम्नलिखितपंक्तियों में रचना के प्रयोजन के सन्दर्भ में और भी स्पष्ट कर दिया है—

लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्य सिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥

आचार्य कुन्तक ने इस लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण, आह्लादकारी वैचित्र्य की सिद्धि के लिए तीन बातों को अति आवश्यक माना है—

१. कवि प्रतिभा या कौशल।

२. चमत्कार।

३. वक्रोक्ति—"वैदग्ध्यं विदग्ध भावः कवि कर्म कौशलं तस्य विच्छित्तिः भणितिः विचित्रैव अभिधा वक्रोक्तिः।" कुन्तक इन्हीं के संयोग से उत्पन्न काव्य-वैचित्र्य को आनन्द प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। अस्तु।

कुन्तक की वक्रोक्ति सम्बन्धी उपर्युक्त धारणाओं से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१, वक्रोक्ति काव्य का प्राण है।

२. वक्रोक्ति में चमत्कार होना आवश्यक है।

३. यह वक्रोक्ति गत वैचित्र्य ही आनन्द प्राप्ति का साधन है।

४. इस वैचित्र्य के लिए कवि-व्यापार चमत्कार और उक्ति का होना अपेक्षित है।

५. वक्रोक्ति अलंकरण है काव्य और अर्थ अलंकार्य हैं।

६. शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्य होता है।

७. कुन्तक के मत से जहां कवि-व्यापार आदि होंगे वहां वक्रोक्ति अवश्य होगी। जहां वक्रोक्ति होगी वहां वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार की सृष्टि अवश्य होगी और रस का यही प्रमुख गुण है। अतः जहां वक्रोक्ति होगी वहां काव्य तो होगा ही साथ ही वह सरस भी होगा।

काव्य में कोई सरसता नहीं होती। इसलिए कुन्तक का यह मत कि वक्रोक्ति ही काव्य है उचित नहीं जान पड़ता। इसके साथ सरस वक्रोक्ति का प्रयोग होना चाहिए था। क्योंकि वक्रोक्ति नीरस भी तो हो सकती है। इसीलिए कुन्तक ने वस्तु परिगणन का काव्य दृष्टि से निषेध किया है। और फिर महत्पूर्ण तथ्य तो यह है कि कुन्तक ने अलंकारवादी आचार्यों के वक्रोक्ति अलंकार को ही अपने मत का आधार माना है। इसीलिए वे रस की अवहेलना तो नहीं कर पाये लेकिन काव्य और वक्रोक्ति का प्राण और शरीर का वह सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं कर सके जिसके लिए उन्होंने इस सम्प्रदाय को जन्म दिया था। यही कारण है कि अनेक आचार्यों को यह मत त्रुटि पूर्ण लगा।

डा० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि—"काव्य का प्राण रस ही रहेगा—वक्रोक्ति उसका अनिवार्य माध्यम होती हुई भी उसका जीवन नहीं हो सकती। कुन्तक धुर-मूल तक न पहुँच कर उससे एक मंजिल पहले ही रुक गये हैं, और उसी को आखिरी मंजिल मान बैठे हैं। उनके सिद्धान्त का यही दोष है। पश्चिमीय आलोचना की शब्दावली में कहें तो यह कह सकते हैं कि उन्होंने कल्पना तत्व को भाव तत्व की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। वैदग्ध्य कवि-कौशल आदि पर जहां इतना बल दिया गया है वहां वास्तव में कल्पना तत्व को ही महत्व दिया गया है।"

वक्रोक्ति के भेद—आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के निम्नलिखित भेद किये हैं—

१. वर्ण विन्यास वक्रता, २. पद पूर्वार्द्ध वक्रता, ३. पद परार्घ वक्रता ४. वाक्य वक्रता, ५. प्रकरण वक्रता, ६. प्रबन्ध वक्रता।

१. वर्ण विन्यास वक्रता—वर्ण विन्यास वक्रता का सम्बन्ध व्यंजन-वर्ण-सौंदर्य से है। इस सौंदर्य के अन्तर्गत आचार्य कुन्तक के अनुप्रास और यमक अलंकार को परिगणित किया है। अनुप्रास-योजना के विषय में आचार्य कुन्तक ने अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किये हैं—

नातिनिर्वन्धविहिता नाप्यपेशल भूषिता।
पूर्वावृत्त परित्याग नूतनावर्तनोज्जवला॥

अर्थात् अनुप्रासगत सौन्दर्य-योजना में कवि को अत्यन्त निर्वन्ध नहीं होना चाहिए। वर्ण-योजना मधुर और सुन्दर होनी चाहिए, और पूर्व आवृत्त वर्णों का प्रयोग आवश्यक है, तथा यह अनुप्रास योजना रीति और गुण के अनुरूप की जानी चाहिए।

इसी प्रकार कुन्तक ने यमक-योजंना के लिए तीन वातों को आवश्यक वताया है—

१. प्रसाद गुण, २. सुकुमारता, ३. औचित्य।

अपना मत व्यक्त करते हुए आचार्य कुन्तक ने यमक-सौंदर्य के हेतु इन्हीं तीन गुणों को आवश्यक वताते हुए, इस प्रकार लिखा है—

समानवर्णमन्यार्थं प्रसाद श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादि नियतस्थान शोभियत्॥

अर्थात् यमक को वाक्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रसाद गुण, कर्ण मधु होने के लिए सुकुमार वर्णों से युक्त और औचित्यपूर्ण होना चाहिए।

२. **पद पूर्वार्द्ध वक्रता**–इसमें पद के पूर्वार्द्ध में वक्रता रहती है। इस वक्रता के अन्तर्गत पर्याय (समानार्थक शब्द) रूढ़ि, उपचार, विशेषण, सवृत्ति, भाव, लिंग तथा क्रिया आदि के विशिष्ट प्रयोग आते हैं। पद पूर्वार्द्ध वक्रता के अनेक भेद होते हैं, इनमें से कुछ प्रमुख भेद ये हैं—

१. रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता, २. पर्याय वक्रता, ३. उपचार वक्रता, ४. संवृत्ति वक्रता, ५. प्रत्यय वक्रता, ६. वृत्ति वक्रता, ७. भाव वैचित्र्य वक्रता, ८. विशेषण वक्रता, ९. लिंग वैचित्र्य वक्रता, १०. क्रिया वक्रता।

क्रिया वक्रता के भी अनेक भेद हैं, जिनमें से ये प्रमुख हैं—उपचार मनोज्ञता, कार्यादिगुप्ति, कर्त्रन्तर विचित्रता, कर्तुरन्तरङ्गत्वम् आदि।

३. **पदपरार्द्ध वक्रता**—पद के उत्तरार्द्ध में प्रत्यय के विशिष्ट प्रयोग को पद परार्द्ध वक्रता या प्रत्यय वक्रता कहते हैं। इसके प्रमुख भेद ये हैं—

१. काल वैचित्र्य वक्रता	२. कारक वक्रता
३. संख्याव क्रता	४. पुरुष वक्रता
५. उपग्रह वक्रता	६. प्रत्यय वक्रता ७. पद वक्रता।

४. **वाक्य वक्रता**—सम्पूर्ण वाक्य में वक्रता को वाक्य वक्रता कहते हैं। यह वक्रता काव्य के लिए बड़ी महत्वपूर्ण है इसीलिए कुन्तक ने इसे कवि प्रतिभा पर आश्रित माना है। कवि प्रतिभा पर आश्रित होने के कारण ही कुन्तक ने इसके अनेक भेद माने हैं, लेकिन उन्होंने प्रमुख रूप से अलंकार और वस्तु वक्रता - जिसका एक रूप रस वैचित्र्य है—ही की विशद व्याख्या की है—कुन्तक ने लिखा है—

वाक्यस्य वक्रता वाण्या भिद्यते या सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्पति ॥

कुन्तक ने वाक्य वक्रता के अन्तर्गत यह बताया है कि अलंकारों में चारुत्व और वैचित्र्य होना चाहिए। कुन्तक ने अनेक अलंकारों को दो भेदों में रखा है—वाच्य अलंकार तथा प्रतीपमान। जहां अभिधा के सहयोग से अलंकार व्यक्त हो वहां वाच्य और जहां व्यंजना के से हो वहां प्रतीपमान अलंकार होता है। वाक्य वक्रता के अन्तर्गत वस्तु वक्रता का भी कुन्तक ने विस्तार से विवेचन किया है। वस्तु के उन्होंने दो भेद माने हैं—

१. स्वभाव प्रधान—इसमें स्वभावोक्ति अलंकार आता है।

२. रस प्रधान—इसके अन्तर्गत रस-वैचित्र्य या रस-चमत्कार आता है।

वाक्य वक्रता के इस संक्षिप्त परिचय से यह सिद्ध है कि कुन्तक ने इसे बहुत अधिक महत्व प्रदान किया है।

५. **प्रकरण वक्रता**—प्रबन्ध के किसी एक अंश को प्रकरण कहा जाता है। दूसरे शब्दों में प्रबन्ध के किसी विशिष्ट वर्ण्य विषय को प्रकरण कहते हैं। एक प्रबन्ध

में अनेक प्रकरण हो सकते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि प्रबन्ध-सौन्दर्य के लिए उसके प्रकरणों का सुन्दर होना आवश्यक है। प्रकरणों में यह सौन्दर्य या वक्रता कई प्रकार से लाई जा सकती है। उदाहरण के लिए—

१. नये प्रकरणों की उद्भावना के द्वारा।
२. कथानक को पुष्ट बनाने के लिए मधुर प्रकरणों के प्रयोग द्वारा।
३. नायक के उदात्त चरित्र में लालित्य और दीप्ति का संयोग करके।
४. रस-युक्त प्रसंगों के समावेश के द्वारा।
५. गर्भाङ्क योजना के द्वारा।
६. अनेक प्रकरणों में परस्पर भावात्मक सम्बन्ध-स्थापन द्वारा।

६. **प्रबन्ध वक्रता**—जब सम्पूर्ण प्रबन्ध में वक्रता दृष्टिगोचर होती है तब उसे प्रबन्ध वक्रता कहा जाता है। कुन्तक ने इस सम्बन्ध में लिखा है सम्पूर्ण प्रबन्ध में सौंदर्य सृष्टि आवश्यक होती है—

वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वाऽपि यादृशः।
उच्यते सहसाहार्य सौकुमार्य मनोहरः॥

वास्तव में देखा जाय तो उपर्युक्त पांचों तरह की वक्रताएं इसके अन्तर्गत समाहित हो जाती हैं। वे सभी एक साथ संयुक्त होकर प्रबन्ध वक्रता को सुष्टता और दीप्ति प्रदान करती हैं।

संक्षेप में वक्रोक्ति के ये ही प्रमुख रूप उल्लेखनीय हैं। चूंकि काव्य-सौंदर्य के साधन संख्यातीत हैं इसलिए वक्रोक्ति के भेद भी अनगिनत हो सकते हैं। संस्कृत साहित्य-शास्त्र की सीमाओं को पार कर जब यह धारा हिन्दी में अग्रसर हुई तो इसे केवल अलंकार मात्र कह कर ही संकुचित कर दिया गया। महा कवि केशव ने वक्रोक्ति के कुन्तक द्वारा प्रदत्त विशाल अर्थ को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इसके सम्बन्ध में लिखा है—

केशव सूधी वात में वरनत ढेढो भाव।
वक्रोक्ति तासों कहत, कही सबै कविराय॥

केशव के अतिरिक्त अन्य हिन्दी आचार्यों ने भी वक्रोक्ति को एक शब्दालंकार के रूप में ही स्वीकार किया है।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद—ऊपर अभी हम वक्रोक्तिवाद पर पर्याप्त विचार-विमर्ष कर चुके हैं। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का परस्पर तुलनात्मक विवेचन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि पहले अभिव्यंजनावाद क्या है, इस प्रश्न पर विचार किया जाय।

अभिव्यंजनावाद का संक्षिप्त इतिहास—अभिव्यंजनावाद एक पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रीय सिद्धांत है। रूप और शैली को लेकर पाश्चात्य साहित्य में दो प्रमुख वादों का जन्म

हुआ—१. अभिव्यंजनावाद २. कलावाद। डा० गोविन्द त्रिगुणायत के मतानुसार "सर्वप्रथम लैसिंग ने अपने सौन्दर्यवाद की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त सामने रखा कि आत्मा का सौन्दर्य ही कला और काव्य के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से होती है।" आगे डा० त्रिगुणायत ने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य के आधार पर अपना मत दिया है कि "साहित्य या काव्य को सौंदर्य की अभिव्यक्ति स्वीकार करके दोनों ही देशों में अभिव्यंजनावाद को काव्य का प्राण भूत तत्व स्वीकार किया गया है। भारत में भवभूति के 'वाणी को आत्मा की कला' कहने से भी एक दृष्टि से अभिव्यंजनावाद की पुष्टि होती है।" 'विकलमैन' नामक पाश्चात्य विद्वान् ने भी इसी सिद्धान्त की ओर प्रकारान्तर से अपना झुकाव दिखाया है। प्रकाण्ड विद्वान् कांट ने तथा कालरिज ने ज्ञान और कल्पना का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए अभिव्यंजनावाद का मार्ग प्रशस्त किया।

और इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर खड़े होकर क्रोचे ने इस वाद का झण्डा हाथ में लेकर समीक्षा-शास्त्र-जगत में हलचल उत्पन्न कर दी। क्रोचे एक दार्शनिक थे। उन्होंने आत्मा की दो क्रियाएं मानीं—१. विचारात्मक २. व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के उन्होंने दो रूप बताये—१. सहजानुभूति २. तर्क। तथा व्यवहारात्मक के भी दो रूप—१. आर्थिक २. नैतिक—स्थापित किये। इसी प्रकार ज्ञान के भी दो रूप—१. स्वयं प्रकाश ज्ञान २. कलात्मक ज्ञान बताते हुए क्रोचे ने कलात्मक ज्ञान की उद्भावना को अभिव्यंजना कहा। और साथ ही उसे आत्मा की सहज क्रिया स्वीकार किया। इनके मतानुसार "मन की शक्ति क्रिया में प्रगट होती है।.. ..अन्तःप्रेरणात्मक ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब वह कोई न कोई रूप ग्रहण करता है। अर्थात् अन्तः प्रेरणा किसी निश्चित रूप में प्रगट होती है और यह रूप ही अभिव्यंजना कहलाता है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर विचार करते हुए उसकी विशेषताओं को इन शब्दों में रखा है—"कला या काव्य में अभिव्यंजना ही सब कुछ है। जिसकी अभिव्यंजना की जाती है वह कुछ नहीं।... .. अभिव्यंजनावादियों के के अनुसार जिस रूप में अभिव्यंजना होती है, उसका भिन्न अर्थ आदि का विचार कला में अनावश्यक है।.... .. अभिव्यंजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ कर केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़ कर चला है।" संक्षेप में क्रोचे के मत का सार शुक्लजी के विवेचन के आधार पर यह है—

१. क्रोचे के मतानुसार आत्मा की दो क्रियाओं और ज्ञान के दो भेदों में से तर्क या कल्पना के स्वयंप्रकाश ज्ञान पर कोई बन्धन नहीं होता। स्वयंप्रकाश ज्ञान के द्वारा प्राप्त सहजानुभूति को कलात्मक ज्ञान के द्वारा व्यक्त करना ही अभिव्यंजना है।

३. अभिव्यंजना अपने आप में पूर्ण है। अभिव्यंज्य उसके सामने कुछ भी नहीं है।

४. सफल और सुन्दर अभिव्यंजना को ही अभिव्यंजना कहा जा सकता है। इसके भेद नहीं किये जा सकते। क्रोचे के मतानुसार—'यदि कला के विभाजन सम्बन्धी सभी ग्रन्थों को जला भी दिया जाय तो भी कोई हानि न होगी।'

५. कला आन्तरिक होती है। वह सहज ज्ञान है। कला एक आध्यात्मिक क्रिया है। अभिव्यंजना इसी का पर्याय है।

६. स्वयं प्रकाश ज्ञान का सांचे में ढल कर व्यक्त होना ही कल्पना है। कल्पना आत्मा की ऐसी क्रिया है जो रूप का सूक्ष्म सांचा खड़ा करती है।

७. यदि सचमुच स्वयं प्रकाश ज्ञान हुआ है, भीतर अभिव्यंजना हुई है तो वह बाहर भी प्रकाशित हो सकती है।

क्रोचे के मत की समीक्षा—इस मत पर मनोवैज्ञानिकों ने जो आरोप लगाये हैं उनमें से दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहला तो यह कि सहज ज्ञान को बौद्धिकता से अछूता मानना उचित नहीं है। ऐसी किसी भी मानसिक या हार्दिक क्रिया का होना मनोविज्ञान की दृष्टि से अवैज्ञानिक तथ्य है। दूसरा आरोप यह है कि क्रोचे का यह कहना कि सहज ज्ञान रूपाभित होता है—ठीक है, लेकिन यह सहज ज्ञान स्थान, काल और धारणा से अतीत होता है, ठीक नहीं है, क्योंकि इनके बिना किसी रूप की कल्पना असम्भव है।

आचार्य शुक्ल ने इस मत की समीक्षा करते हुए जो तर्क दिये हैं वे संक्षेप में ये हैं—

१. कल्पना भावक्षेत्र की उपज होती है ज्ञान क्षेत्र की नहीं। 'कल्पना है काव्य का एक क्रियात्मक बोध पक्ष, जिसका विधान हमारे यहां के रसवादियों ने भाव के योग में ही माना है।'

२. क्रोचे का यह मत भी ठीक नहीं कि काव्यगत दुखात्मक भावों की अनुभूति दुखात्मक ही होती है। शुक्ल जी के अनुसार 'साधारणीकरण व्यापार से प्रभावित होने के कारण काव्यगत अनुभूति सुखात्मक हो जाती है।'

३. 'अभिव्यंजना में ढंग का अनूठापन ही सब कुछ है। जिस वस्तु या भाव की अभिव्यंजना की जाती है वह क्या है? कैसा है? यह सब कुछ काव्य क्षेत्र के बाहर की वस्तु है।' अनूठी उक्ति की अपनी अलग सत्ता होती है। उसे किसी दूसरे कथन का पर्याय नहीं समझना चाहिये।

डा० त्रिगुणायत ने भी उसके अभावों के सम्बन्ध में लिखा है—"पहली बात तो यह है कि इसमें व्यंज्य को कोई महत्व नहीं दिया गया है।........भारतीय दृष्टि में तो व्यंज्य, व्यंजकता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व की वस्तु है। यदि ऐसा न होता तो

कबीर, जायसी आदि कवि ही न कहलाते। मैं व्यंजना सम्बन्धी अखण्डता को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हूँ। भारतीय दृष्टि से आत्मा के अतिरिक्त और कोई अखण्ड तत्व नहीं है। अभिव्यंजना आत्मा की तुलना में नहीं आ सकती।' इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिव्यंजनावाद में अनेक ऐसी त्रुटियां हैं जिनका मनोविज्ञान, दर्शन और साहित्य तीनों दृष्टियों से कोई भी समाधान नहीं किया जा सकता।

वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद—इन दोनों वादों की तुलना करते हुए अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रगट किये हैं। बड़ी गम्भीर दृष्टि से इनके साम्य और वैषम्य पर प्रकाश डाला है। इन विद्वानों में से प्रमुख विद्वानों के मतों के आधार पर इनकी परस्पर तुलना प्रस्तुत की जा रही है—

साम्य—१. आचार्य शुक्ल अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का पाश्चात्य अनुवाद और वक्रोक्तिवाद को अभिव्यंजनावाद का भारतीय अनुवाद मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि—"क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' सच पूछिये तो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है। संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में कुन्तक नाम के आचार्य 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्' कह कर उठे थे।"

२. डा० नगेन्द्र ने इन दोनों में तीन दृष्टियों से साम्य माना है—

१. क्रोचे और कुन्तक दोनों ने ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया माना है, जो अनिर्वचनीय है।

२. दोनों ने ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यंजना को अधिक महत्व दिया है। अर्थात् उक्ति में काव्यत्व (सौन्दर्य) मानते हैं, वस्तु या भाव में नहीं।

३. दोनों ही सौन्दर्य में श्रेणियां नहीं मानते, क्योंकि सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है और सफल अभिव्यंजना केवल एक हो सकती है।

वैषम्य—१. आचार्य शुक्ल और डा० नगेन्द्र के मत का विरोध डा० त्रिगुणायत ने किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में शुक्ल जी के मत का खण्डन करते हुए लिखा है—"अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद को एक समझने की भूल आचार्य शुक्ल जैसे पंडितों से भी हो गई है। उन्होंने उसे वक्रोक्तिवाद का विलायती रूप तक कह डाला है। उनकी दृष्टि में वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद में इतना ही अन्तर है कि वक्रोक्तिवादी व्यंजना का विशेष रूप से उपयोग करते थे और अभिव्यंजनावादी लक्षणा को प्रधानता देते थे।"

डा० नगेन्द्र के मत का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है कि "दोनों में यह बात लागू नहीं होती कि सौन्दर्य की श्रेणियां नहीं होती। अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध में तो यह बात लागू होती है, किन्तु वक्रोक्ति को हम अखण्ड नहीं मानते। आचार्यों ने उसके अनेक भेदोपभेद गिनाए हैं। जिस रचना में जितने अधिक प्रकार की वक्रोक्ति पाई जायेगी वह रचना उतनी ही सुन्दर होगी। मात्रा-भेद के आधार पर हम श्रेणी भेद भी स्वीकार कर सकते हैं।"

डा० त्रिगुणायत ने इन दोनों वादों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'स्वरूप-भेद के अतिरिक्त अभिव्यंजना और वक्रोक्ति के कार्य क्षेत्रों में भी अन्तर है। वक्रोक्ति केवल काव्य कला की वस्तु है, अन्य ललित कलाओं में उसका नियोजन असंभव है। किन्तु अभिव्यंजना सभी कलाओं में अपेक्षित और सुलभ है।

... .किन्तु काव्य कला के अन्तर्गत वक्रोक्ति का क्षेत्र अभिव्यंजना की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'काव्य जीवित' कह कर इसे काव्य के अन्तरङ्ग तत्व प्राण-रूप में प्रतिष्ठित किया है। रस, ध्वनि, चमत्कार, रीति, अलंकार, गुण आदि अन्य सभी तत्व वक्रोक्ति से ही अधिकृत माने हैं।

वक्रोक्तिवादी वस्तु और उक्ति दोनों को एक दूसरे से भिन्न मानते हैं किन्तु अभिव्यंजनावाद में दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं स्वीकार किया जाता। वक्रोक्ति शब्दों, अर्थों या शब्दार्थों के सहारे अभिव्यक्त अवश्य होती है, किन्तु अभिव्यंजना अभिव्यक्त होकर केवल मानसिक भी रह सकती है, या शब्दार्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे माध्यम से भी अभिव्यक्त हो सकती है।

२. स्वयं डा० नगेन्द्र ने इन दोनों में निम्नलिखित वैषम्य स्वीकार किया है—

(१) 'वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का मुख्य अन्तर तो यह है कि वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध उक्ति वक्रता से है, अभिव्यंजना का केवल उक्ति से है। वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिकवाद है। अभिव्यंजनावाद अभिव्यंजना की फिलासफी। वक्रोक्ति जहां एक प्रकार का कवि-कौशल है, वहां अभिव्यंजनावाद एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।

(२) वक्रोक्तिवाद अलंकार को लेकर चला है, अभिव्यंजनावाद में उसकी सत्ता ही अमान्य है वहां यदि वह आ भी जाता है तो अलंकार रूप में नही सहज उक्ति के रूप में ही आता है।

(३) वक्रोक्तिवाद में वस्तु की उक्ति (कवि-कौशल) से पृथक सत्ता मानी है। कुन्तक ने वस्तु के सहज और आहार्य दो भेद किए हैं ... .. परन्तु अभिव्यंजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है।

(४) वक्रोक्तिवाद में कला की समस्या को बाहर से छेड़ा गया है, अभिव्यंजनावाद में भीतर से। इसीलिए वक्रोक्तिवाद जहां काव्य अथवा कला के मूर्त्त रूपों पर ही केन्द्रित है, वहां अभिव्यंजनावाद उनके प्रति उदासीन होकर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया को ही सब कुछ मानता है।

(५) अभिव्यंजनावाद सहजानुभूति अर्थात् भाव भंकृतियों की अन्विति पर आश्रित है, अतएव रस से उसका सम्बन्ध अन्तरङ्ग और तात्विक है, परन्तु वक्रोक्तिवाद कवि-कौशल पर आश्रित है, इसलिए उसका रस से सम्बन्ध बहिरङ्ग एवं औपाधिक है।'

३. पण्डित सीताराम चतुर्वेदी भी इसी मत के हैं—"क्रोचे का यह अभिव्यंजनावाद वक्रोक्ति से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि........

(१) वक्रोक्ति में शुद्ध रूप से शब्दार्थ के कौशलपूर्ण नियोजन की बात कही गई है, जिसका विवेकवर्ती बुद्धि से ही पूर्ण सम्बन्ध है। अन्तः प्रेरणा से नहीं।

(२) दूसरी बात यह है कि वक्रोक्ति में अभ्यन्तर अभिव्यक्ति की बात ही नहीं उठती।

४. श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने और भी स्पष्ट शब्दों में इन दोनों वादों के वैषम्य पर प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है—

(१) 'वक्रोक्तिवाद को प्रकृति अलंकार की ओर विशेष तत्पर दिखाई देती है, लेकिन अभिव्यंजनावाद का वाच्य रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। अलंकारी अनुगामी होकर अभिव्यंजना के पीछे चल सकता है, वक्रोक्तिवाद की भांति सहगामी होकर नहीं।

(२) अभिव्यंजना में वक्रतापूर्ण उक्तियों का तो मान है ही, साथ ही स्वभावोक्तियों के लिए भी यथेष्ठ स्थान है। जिस उक्ति से किसी दृश्य का मनोरम बिम्ब ग्रहण हो वह वक्रता हीन रहने पर भी अभिव्यंजनावाद की चीज है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों वादों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। और होना भी स्वाभाविक है। एक का जन्म भारत में हुआ है दूसरे का इटली में। दोनों की भौगोलिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक और साहित्यिक परम्परायें भी तो भिन्न हैं, और दूसरी बात यह है कि दोनों वादों के मूल या बीज ही पृथक-पृथक हैं। एक का जन्म साहित्य की कोख से हुआ है, दूसरे ने दर्शन से जन्म पाया है। स्पष्ट है कि जब बीज और जमीन दोनों ही भिन्न हों तो वहां उगने वाले पौधों में क्या समानता हो सकती है, सिवाय इसके कि वे दोनों पौधे हैं, दोनों में पत्ते हैं, तना है, छाल है, हरियाली है। बस कुछ ऐसा ही साम्य इन दोनों वादों में दृष्टिगोचर होता है।

सफल अभिव्यंजना में सौन्दर्य देखना, सौन्दर्य और कला को एक मानना, कला को अनिर्वचन कहना आदि कुछ ही ऐसी बातें है जो इन्हीं दोनों में नहीं अन्य भी बहुत से परस्पर विरोधी मतों में मिल जाती हैं। किन्तु इन स्थूल और मोटी समानताओं के आधार पर हम वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद को एक दूसरे का पर्याय कहने की शुक्ल जी जैसी भूल कदापि नहीं कर सकते।

स्वरूप, प्रकृति, सीमा, आधार, प्रभाव और पहुँच तथा उपलब्धि सभी की दृष्टि से विवेच्य वादों में बहुत बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है। फिर भी न मालुम क्यों पंडितवर शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद को 'वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान' कह दिया। छोटे-मोटे वैषम्य को छोड़ भी दें तो कम से कम उद्देश्यगत वैषम्य को तो नहीं भुलाया जा सकता। अभिव्यंजनावाद अपना उद्देश्य स्वयं है जबकि वक्रोक्तिवाद का उद्देश्य चित्त को चमत्कृत करना है। स्पष्ट है कि दोनों वादों में महान् अन्तर है। साम्य न के बराबर है।

मूल्यांकन और निष्कर्ष—ऐसी स्थिति में यह निर्णय देना कि कौनसा वाद अधिक महत्वपूर्ण है, या उपयोगी है ? बड़ा कठिन है। दोनों के सिद्धान्त पृथक हैं फिर किसे महत्वपूर्ण घोषित किया जाय ?

यदि त्रुटियों और अभावों की दृष्टि से देखा जाय तो दोनों वादों में से कोई भी अकेला बाजी नहीं मार सकता। एक केवल मानसिक, आन्तरिक, आध्यात्मिक आदि विशेषणों से सजा कर अपने मत की पुष्टि करता है तो दूसरा शब्द-अर्थ की वक्रता के विश्लेषण के द्वारा।

वस्तुतः देखा जाये तो दोनों ही अपूर्ण सिद्धान्त हैं। यदि दोनों के संयोग से से कोई मत स्थापित किया जाय तो वह पूर्ण अवश्य हो सकता है। इस प्रकार ये दोनों वाद एक दूसरे के पूरक सिद्ध होते हैं। अपने-अपने स्थान पर वैसे दोनों ही महत्वपूर्ण हैं, किन्तु एक के बिना कोई भी दूसरा सम्पूर्ण महत्व का अधिकारी नहीं बन सकता है। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद से कई दृष्टियों से अधिक महत्वपूर्ण है। जिन पर हम ऊपर विचार व्यक्त कर चुके हैं।

लेकिन वक्रोक्ति केवल काव्य के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद से क्षेत्र की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व की सिद्ध होती है। फिर भी स्वरूप की दृष्टि से काव्य-क्षेत्र में भी अभिव्यंजनावाद वक्रोक्तिवाद से आगे निकल जाता है। कुल मिला कर अभिव्यंजनावाद अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, लेकिन अपने स्थान पर वक्रोक्तिवाद भी कम नहीं है।

३२
रीति—सम्प्रदाय

१. व्युत्पत्ति और अर्थ।
२. परिभाषा और स्वरूप।
३. रीति का इतिहास।
४. रीति के भेद।
५. रीति के नियामक तत्व।
६. रीति और प्रवृत्ति।
७. रीति और वृत्ति।
८. रीति और शैली।
९. उपसंहार।

रीति शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ—रीति शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए 'सरस्वती कण्ठाभरण' में महाराजा भोज ने लिखा है—

'वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरूच्यते ॥'

तात्पर्य यह है कि रीति शब्द की व्युत्पत्ति 'रीङ्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगा कर हुई है। रीङ् धातु गत्यर्थक है। इसलिए रीति शब्द का अर्थ पन्थ, मार्ग, गति आदि हुआ।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में रीति शब्द का प्रयोग लेखक द्वारा विषय के प्रतिपादन के ढंग, अपनी बात के कहने के तरीके, या लेखन शैली के अर्थ में हुआ है।

परिभाषा और स्वरूप—रीति सम्प्रदाय के जनक कहे जाने वाले आचार्य वामन ने रीति की परिभाषा इस प्रकार की है—

'विशिष्ट पद रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।'

अर्थात् विशिष्ट पद-रचना को रीति कहते हैं। यह वैशिष्ट्य गुणों पर आधारित होता है। आचार्य कुन्तक ने रीति को 'कवि प्रस्थान हेतु' अर्थात् कवि-कर्म-विधि कह कर उसकी व्याख्या की है। आचार्य आनन्दवर्धन ने 'वाक्य वाचक चारुत्व हेतु' कहा है और उसे रस की सहयोगिनी माना है—

'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्...॥'

अर्थात् रीति या पद-रचना माधुर्य आदि गुणों पर आश्रित होती है और रस की अभिव्यंजना में योग देती है। आचार्य विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन के मत का ही पक्ष लेते हुए रीति की व्याख्या इस प्रकार की है—

पद संघटना रीतिः अंग संस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम् ....॥

अर्थात् 'पद-संघटना' या रीति काव्य-सौन्दर्य की उत्कर्षिका और रस की उपकर्त्री होती है। आचार्य मम्मट ने प्रसाद गुण पर आश्रित रीति को महत्व दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से रीति के सम्बन्ध में यह सरलता पूर्वक कहा जा सकता है कि—

१. विशिष्ट पद-रचना को रीति कहते हैं।

२. विशिष्ट से तात्पर्य गुण-युक्त से है।

३. गुणों में प्रसाद और माधुर्य प्रमुख रूप से रीति के लिए अनिवार्य हैं। ओज पर आश्रित रीति को आचार्यों ने महत्व नहीं दिया है।

४, रीति काव्य-सौन्दर्य और रस का उत्कर्षक उपादान है। गुण-विशेष के आश्रय से रीति अभिव्यंजना को सरस बनाती है।

५. आचार्य वामन के मतानुसार रीति काव्य की आत्मा है—रीतिः आत्मा काव्यस्य।

६. लेकिन रसवादी रीति के इस स्वरूप से सहमत नहीं हैं। जैसा कि विश्वनाथ ने लिखा है—पद संघटना या पद-मेल को रीति कहते हैं। काव्य-शरीर में शब्द और और अर्थ का उसी प्रकार उचित संयोजन होना चाहिए, जिस प्रकार शरीर में सभी अंग अपने-अपने स्थान पर सुनिर्मित रूप में स्थित होते हैं।'

७. निष्कर्ष रूप में हम डा० नगेन्द्र के शब्दों में रीति की परिभाषा और उसके स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—"रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है, जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस-दशा तक पहुँचती हैं।"

रीति-सम्प्रदाय का इतिहास—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वामन हैं। किन्तु वामन से पूर्व और उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी रीतियों का विवेचन किया है। पं० बलदेव उपाध्याय ने अपने 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' नामक ग्रन्थ में रीतियों के विकास को बताते हुए उनके इतिहास को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—

१. भौगोलिक विशेषताओं से समन्वित शैलियों का युग—इस युग में लेखक-वर्ग प्रान्तीय भाषाओं में रचना किया करते थे। इसके प्रमुख आचार्य बाण, भामह, दण्डी, वामन आदि हैं।

२. वर्ण्य वस्तु के अनुरूप शैली प्रयोग का युग—इस युग के रुद्रट, राज शेखर, भोजराज और वहुरूप मिश्र आदि आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। इस युग में रीतियों का स्वरूप निर्धारित हो गया था।

३. कुन्तक का युग-कुन्तक तथा उनके अनुवर्ती आचार्यों ने शैली में व्यक्तित्व को प्रधानता दी।

रीति सम्प्रदाय का संक्षेप में यही इतिहास-परक परिचय है। अब हम इन आचार्यों द्वारा रीति और गुण सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन अभीष्ट समझते हैं।

बाणभट्ट—बाणभट्ट ने सर्वप्रथम भिन्न-भिन्न प्रान्तों की साहित्यिक विशेषताओं का विवेचन किया। 'हर्ष चरित्त' में उन्होंने लिखा है—

> श्लेषप्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
> उत्प्रेक्षादक्षिणात्येषु, गौड़ेष्वक्षर उम्बरः ।।

स्पष्ट है कि श्री भट्ट ने चार प्रकार की शैलियों की ओर संकेत किया है। लेकिन वाणभट्ट इन चारों के समन्वित रूप के पक्षपाती थे। उनके मतानुसार नवीन अर्थ, स्वभावोक्ति, श्लेष, विकट अक्षर तथा स्फुट रस, इन सब का समन्वय करके ही श्रेष्ठ कविता की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि वाणभट्ट सभी रीतियों के सुन्दर तत्वों को लेकर नई शैली के प्रयोग पर बल देते थे।

भामह—अलंकार सम्प्रदायवादी आचार्यों में से भामह ने सबसे पहले 'काव्यालंकार' में रीति विवेचन किया। उन्होंने रीति को मार्ग कहते हुए, उसके दो भेद माने हैं—१. वैदर्भ मार्ग २. गौड़ीय मार्ग। इसके साथ ही उन्होंने पांच गुणों को श्रेष्ठ काव्य के लिए आवश्यक बताया है—

१. अलंकार वत्ता—अलंकार युक्त होना।
२. अग्राम्यत्व—ग्राम्य दोष रहित।
३. अर्थ्यत्व—अर्थ वक्रता।
४. न्यायत्व—सर्व सम्मत सिद्धान्तों का प्रयोग।
५. अन्यकुलत्व—शब्दाडम्बर का अभाव।

उन्होंने लिखा है कि यदि ये गुण गौड़ीय मार्ग में भी हों तो वह भी प्रशंसनीय है और यदि वैदर्भी मार्ग इनसे युक्त न हो तो वह श्रेष्ठ होते हुए भी त्याज्य है—

> "अलंकारवद ग्राम्यम् अर्थ्यं न्यायमनाकुलम् ।
> गौड़ीयमपि साधीयः वैदर्भमपि नान्यथा ।।"

दण्डी—दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' में रीति के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। इन्होंने भी भामह के मार्ग-भेदों को स्वीकार किया है। लेकिन गुणों के आधार पर दोनों मार्गों का सविस्तार विवेचन किया है। उनका यह विवेचन गुणों पर आश्रित है।

दण्डी ने भरतमुनि के द्वारा प्रतिपादित दस गुणों को स्वीकार करते हुए, उन्हें वैदर्भी के लिए आवश्यक बताया है। दण्डी के मतानुसार—

१. श्लेष २. प्रसाद ३. समता ४. माधुर्य ५. सुकुमारता ६ अर्थव्यक्ति ७. उदारता ८. ओज ९. क्रान्ति १०. समाधि। ये दस गुण वैदर्भी मार्ग के प्राण हैं—'इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशः गुणाः स्मृताः।' भरतमुनि ने इन गुणों को काव्य मात्र के लिए आवश्यक माना था। लेकिन दण्डी ने गौड़ी मार्ग को निकृष्ट मानते हुए उसे इन गुणों से वंचित रखा है।

वामन—वामन रीति-सम्प्रदाय के जनक हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि रीति-काव्य की आत्मा है। उन्होंने विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हुए पद-रचना-वैशिष्ट्य को गुणों से सम्बन्धित कर दिया है। वामन ने गुणों के दो भेद किए हैं—१. शब्द-गुण २. अर्थ-गुण। वामन के मतानुसार अर्थ-गुण वैदर्भी का प्राण है। अर्थ-गुण रस का उत्कर्षक है। गौड़ी में शब्द-गुण होता है—वामन ऐसा मानते हैं। गुणों में वामन ने बन्ध-गुण, अलंकार और रस का समावेश करते हुए रीति को काव्य का अनिवार्य गुण बनाने का प्रचरण किया है। वैसे वामन तीन प्रकार की रीतियां मानी है—

१. वैदर्भी—समग्र गुण, 'समग्रगुणा वैदर्भी।

२. गौड़ी—ओज, क्रान्ति युक्त, ''ओजः क्रान्तिमती गौड़ीया।

३. पांचाली—माधुर्य सौकुमार्य युक्त, ''माधुर्य सौकुमार्योपपन्न पांचाली।

रुद्रट—रुद्रट ने रीति विवेचन अपने ही ढंग से किया है। उन्होंने रीति-वर्गीकरण समस्त पद और असमस्त पद के आधार पर करते हुए समस्त पद के तीन भेद किये हैं—१. लघु समास २. मध्य समास ३. दीर्घ समास। इसके साथ ही रीति का एक चौथा भेद भी माना है जिसे उन्होंने 'लाटीया' कहा है। वामन के अनुसार पांचाली लघु समास पर, लाटीया मध्य समास पर, गौड़ीया दीर्घ समास पर आधारित होती है।

रस-दृष्टि से वामन वैदर्भी और पांचाली को माधुर्य, सौकुमार्य गुणों से युक्त होने के कारण शृङ्गार, करुण और भयानक स्थान। अद्भुत रसों के लिए और लाटीया तथा गौड़ी को रौद्र रस के लिए उपयुक्त मानते हैं। शेप रसों में किसी भी रीति का प्रयोग किया जा सकता है—

वैदर्भी पाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकादभुतयोः।
लाटीया गौड़ीये रौद्रे कुयार्द यथौचित्यम्॥

राजशेखर—राजशेखर ने रुद्रट की 'लाटीया' रीति को स्वीकार नहीं किया। यानी उन्होंने तीन प्रकार की ही रीतियां मानी हैं। राजशेखर ने एक भाव-परक-कल्पना-प्रसूत रूपक द्वारा रीति, प्रवृत्ति और वृत्ति का परस्पर, समन्वय बताया है। उनकी उस रूपक-कल्पना के अनुसार साहित्य वधु काव्य-पुरुष की खोज में चारों दिशाओं में घूमने निकली और देश के अनुसार अपना-अपना रूप बदलती रही। तब उसके वेश विन्यास से प्रवृत्ति, विलास से वृत्ति और वचन विन्यास से रीति का जन्म हुआ।

राजशेखर ने तीनों रीतियों का परस्पर भेद बताते हुए लिखा है कि वैदर्भी श्रेष्ठ रीति है। यह असमास, स्थानानुप्रास और योगवृत्ति से युक्त होती है। पांचाली ईषद्समास, ईषद्नुप्रास तथा उपचार से और गौणी समास, अनुप्रास और योगवृत्ति परम्परा से युक्त होती है।

राजशेखर ने वैदर्भी को माधुर्यगुण सम्पन्न, पांचाली में शब्द और अर्थ का समान रूप से सन्निवेश माना है। उन्होंने दो अन्य रीतियों का भी संकेत किया है—मागधी, यह गौड़ी का ही रूपान्तर है और मैथिली, इसमें गौड़ी और वैदर्भी के विशिष्ट गुण होते हैं। लेकिन इसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

भोजराज—भोजराज ने दो नवीन रीतियों की उद्भावना की—

१. अवंतिका—यह वैदर्भी और पांचाली की मध्यवर्तिनी रीति है।

२. मागधी—सब रीतियों का मिश्रित प्रयोग जहां खण्डित हो जाये वह मागधी रीति है।

भोजराज ने लाटीया रीति को भी स्वीकार किया है और उसे सभी रीतियों का मिश्रण बताया है। इन रीतियों के लक्षण भोजराज ने इस प्रकार बताये हैं—

"अन्तराले तु पांचाली वैदर्म्योर्याऽवतिष्ठते।
साऽवन्तिका समस्तैस्याद् द्वित्रैस्त्रचतुरैः पदैः॥
समस्त रीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरिष्यते।
पूर्वरीतेरनिर्वाहि खण्डरीतिस्तु मागधी॥"

बहुरूप मिश्र—मिश्र ने पूर्व आचार्यों का ही अनुसरण किया है। इनकी केवल इतनी देन उल्लेखनीय है कि इन्होंने रीति-भेद करने वाले पांच लक्षणों की उद्भावना की है—

१. समास तारतम्य २. उपचार तारतम्य ३. बन्ध सौकुमार्यादि तारतम्य ४. अनुप्रास भेद ५ योगादि भेद।

कुन्तक—कुन्तक ही पहले आचार्य हैं, जिन्होंने रीति का सम्बन्ध, देश, वेष या भौगोलिक स्थूल परिस्थितियों से न मान कर मनोविज्ञान के आधार पर कवि-स्वभाव से माना है। उन्होंने कवि-स्वभाव को तीन भेदों में विभाजित किया है—

१. सुकुमार—कवि-हृदय का कोमल होना।

२. विचित्र—कवि-स्वभाव में वैचित्र्य और उद्दीप्ति होना।

३. मध्यम—दोनों के बीच के मार्ग वाला।

कवि-स्वभाव के आधार पर ही कुन्तक ने तीन मार्गों की उद्भावना की—

१. सुकुमार मार्ग—इससे सहज, नैसर्गिक मधुरता और सौन्दर्य होता है।

२. विचित्र मार्ग—इसमें अलंकार और उक्ति वैचित्र्य के द्वारा वर्ण्य-विषय में चमत्कार उत्पन्न किया जाता है, किसी नये अर्थ का संकेत नहीं दिया जाता।

३. **प्रसाद**—जहां एकदम अर्थ स्पष्ट हो जाये वहां प्रसाद गुण होता है। मम्मट ने इसे सब रसों रचनाओं में विद्यमान माना है। चिन्तामणि ने इसके स्वरूप के सम्बन्ध में लिखा है—

सूखे ईंधन आग ज्यों स्वच्छ नीर की रीति।
अलकै अच्छर अरथ जो सो प्रसाद गुण नीति॥

इन तीन गुणों के अतिरिक्त आचार्यों ने और भी अनेक गुणों का उल्लेख किया है, जिनमें से प्रमुख ये हैं—

१. श्लेष २. समता ३. सुकामरता ४. अर्थ व्यक्ति ५. कान्ति ६. समाधि ७. उदारता।

'अग्नि-पुराण' में गुणों के १६ भेद माने गये हैं। आचार्य वामन ने गुणों के दो भेद किए हैं–१. शब्द-गुण २. अर्थ-गुण। इन दोनों के दस-दस भेद करते हुए उन्होंने २० गुणों का उल्लेख किया है। भोजराज ने तो गुण-भेद विस्तार करने में कमाल ही कर दिया। उन्होंने २४ शब्द-गुण और २४ अर्थ-गुण मान कर ४८ भेदों का विवेचन किया है।

लेकिन आचार्य भामह ने और उन्हीं का अनुसरण करते हुए मम्मट ने इन सभी का ऊपर विवेचित तीन गुणों के अन्तर्गत ही समावेश करके व्यर्थ के विस्तार का जोरदार विरोध किया और वे सफल भी हुए। इन आचार्यों ने श्लेष और उदारता को ओज के अन्तर्गत, अर्थव्यक्ति को प्रसाद के अन्तर्गत माना है। मम्मट की दृष्टि में 'समता' को दोषपूर्ण होने के कारण गुण नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कान्ति और सुकुमारता को ग्राम्यत्व और कटुत्व दोष हीन मानते हुए विशेष महत्व नहीं दिया। इस प्रकार गुणों के विस्तार को चुनौती देते हुए केवल तीन ही गुण अपना अस्तित्व बनाये रहे और आज तक वही सर्वमान्य होकर अपनी प्रतिष्ठा बनाए हुए हैं।

रीति के नियामक तत्व—कवि या लेखक विषय-प्रतिपादन के लिए जिन साधनों का प्रयोग करता है, उन्हें रीति के नियामक तत्व कहा जाता है। आनन्दववर्धन ने रीति के चार नियामक माने हैं—

१. वक्तृ औचित्य—कवि-स्वभाव और रीति के सामंजस्य को वक्तृ औचित्य कहते हैं। वक्तृ का अर्थ वक्ता या लेखक या कवि है। कवि अपनी रुचि, अनुभूति या प्रकृति के अनुसार शैली का प्रयोग करता है। रीति-सौन्दर्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह कवि-स्वभाव के अनुकूल हो।

२. वाच्य औचित्य—वाच्य का तात्पर्य कथनीय, अभीष्ट वस्तु, अर्थ है। यह वाच्य कई प्रकार का हो सकता है। वाच्य-रूप के अनुकूल ही रीति का प्रयोग करना चाहिए। आनन्दवर्धन ने लिखा है कि कोई वस्तु ध्वनिभूत रस का अंग होती है, या रसाभास का अंग होती है। कोई अभिनय के योग्य होती है, कोई नहीं होती। कुछ

वस्तुएं उत्तम प्रकृति कुछ मध्यम की और कुछ अधम प्रकृति की होती हैं। वस्तु या वाच्य की प्रकृति और रूप के अनुकूल रीति का प्रयोग वांछित होता है।

३. **विषयौचित्य**—काव्य में विशिष्ट-संघटन-विधान को विषयौचित्य कहते हैं। आनन्दवर्धन ने लिखा है—

'विषयाश्रयमप्यन्मद औचित्यं ता निमच्छति।'

काव्य के विशेष रूप और प्रकार के अनुकूल रीति का विधान अपेक्षित है। विषय से यहां तात्पर्य काव्य के विभिन्न स्वरूपां से है। आचार्य मम्मट ने भी लिखा है कि 'शृङ्गार-रस प्रधान कथा में मसृण वर्णों तथा रौद्र-रस प्रधान कथा में उद्धत वर्णों का, प्रयोग नहीं करना चाहिए।' यही विषय औचित्य कहा जाता है।

४. **रसौचित्य रीति**—रस की प्रकृति के अनुकूल रीति-प्रयोग को रस-औचित्य कहा गया है। आनन्दवर्धन के मतानुसार करुण और शृङ्गार में असमास रीति और वीर और रौद्र में दीर्घ समास रीति का प्रयोग वांछनीय होता है। यह रीति का प्रमुख नियामक होता है।

रीति और प्रवत्ति–'नाट्य-शास्त्र' में भरतमुनि ने प्रवृत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि 'जो नाना देशों के वेश भाषा तथा आचार आदि की व्यंजना करती है, उसे प्रवृत्ति कहते हैं। राजशेखर ने भी—'वेश विन्यास क्रमः प्रवृत्तिः' कह कर भरतमुनि के मत का ही अनुसरण किया है।

प्रवत्ति भेद—भरतमुनि ने चार प्रकार की प्रवृत्तियां मानी हैं—

१. अवन्ती—पश्चिमी भारत का वेष विन्यास।

२. दाक्षिणात्या—दक्षिणी भारत का वेष विन्यास।

३. ओड्र मागधी—उड़ीसा और मगध का वेप विन्यास।

४. पांचाली—मध्य प्रदेश का वेप विन्यास।

वाणभट्ट ने इसी देशगत आधार पर रीतियों का विवेचन किया था।

रीति और प्रवृत्ति में भेद—इन दोनों में प्रमुख रूप से दो भेद दिखाई देते हैं। डा० त्रिगुणायत ने लिखा है—

१. रीति का सम्बध काव्य-रचना सौष्ठव से होता है, जबकि प्रवृत्ति व्यक्ति की वेपभूषा, रहन-सहन-गत विशेषताओं से सम्बन्वित होती है।

२. रीति का प्रमुख नियामक रस माना गया है, जबकि प्रवृत्ति के नियामक वस्त्रालंकारादि हैं, रस नहीं।"

इनके अतिरिक्त भी—

३. वेप विन्यास को प्रवृत्ति कहते हैं और जबकि रीति विशिष्ट पद-रचना को कहा जाता है। प्रवृत्ति रीति में वेपविन्यास नहीं वचन-विन्यास होता है।

४. प्रवृत्ति का सम्बन्ध विशेष रूप से दृश्यकाव्य नाटकादि में होता है लेकिन रीति का सम्बन्ध काव्य के सभी रूपों से होता है।

रीति और वृत्ति

वृत्ति का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप–वृत्ति शब्द 'वृत्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय के संयोग से बना है, जिसका अर्थ होता है जीवन। भरतमुनि ने वृत्तियों का विवेचन किया है। बाद में वृत्तियों का प्रयोग नाटक के अतिरिक्त काव्य में भी होने लगा। वैसे वृत्ति जीवन के उस व्यापार को कहा जाता है जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि में सहयोग प्रदान करती है। अभिनव गुप्त ने सम्पूर्ण संसार को केवल चार वृत्तियों से परिव्याप्त बताया है। उन्होंने वृत्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'काव्याङ्ग मनसां चेष्टा एवं सह वैचित्र्येण वृत्तयः' तात्पर्य यह है कि काव्य-पात्रों की कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओं को या व्यापार वैचित्र्य को वृत्तियां कहते हैं।

आनन्दवर्धन तथा धनंजय भी इसी मत के हैं। भरतमुनि ने तो वृत्तियों को इतना महत्व प्रदान किया है कि उन्हें काव्य की मां तक कह डाला है—

'सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृका स्मृताः।,

आचार्य रामचन्द्र ने भी उनके मातृत्व को स्वीकार किया है। उन्होंने वृत्तियों के क्षेत्र में भी विस्तार कर दिया है। वे वृत्तियों का अस्तित्व श्रव्य-काव्य में भी मानते हैं। भोजराज के अनुसार चित्त की विभिन्न अवस्थाओं के अनुकूल पात्रों के व्यवहार को वृत्ति कहते हैं।

वृत्तियों की उत्पत्ति—इन वृत्तियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक पुरानी कथाऐं प्राप्त होती हैं। वैष्णव-शैव भिन्न-भिन्न कथाओं के द्वारा इनके उदय पर प्रकाश डालते हैं। वैष्णवों के अनुसार वृत्तियों का उदय विष्णु और मधुकेटभ राक्षसों के परस्पर युद्ध के कारण हुआ। युद्धरत विष्णु की चेष्टायें ही नाटकीय वृत्तियों को जन्म देने वाली हैं। शैवों के मतानुसार शिव-पार्वती के ताण्डव और लास्य की प्रशंसा करते हुए ब्रह्मा के चार मुखों से चार वृत्तियों का जन्म हुआ। भरतमुनि ने चारों वृत्तियों की उत्पत्ति चारों वेदों से मानी है। राजशेखर ने इनके सम्बन्ध में जो कवि—सुलभ कल्पना पर आश्रित रूपक की सर्जना की है उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

वृत्ति भेद—स्थूल रूप से वृत्तियों के दो भेद किये जा सकते हैं—

१. नाटक से सम्बन्धित वृत्तियां।
२. श्रव्य-काव्य से सम्बन्धित वृत्तियां।

नाटक से सम्बन्धित वृत्तियां—इनके दो भेद किये गये हैं—शब्द वृत्ति और अर्थवृत्ति। शब्द वृत्ति के अन्तर्गत भारतीवृत्ति और अर्थवृत्ति के अन्तर्गत सात्वती, केशकी और आरभटी वृत्तियां आती हैं। इस प्रकार भरतमुनि ने ये चार वृत्तियां मानी हैं—

भारती वृत्ति—भरतमुनि के अनुसार इसके ये प्रमुख लक्षण हैं—

१. संस्कृत शब्द-बहुला हो

२. पुरुष पात्र प्रयोग करते हों।
३. स्त्री पात्रों के लिए जिसका निषेध हो।
४. नटों द्वारा प्रयोग में लायी जाती हो।

अभिनव गुप्त और धनंजय ने भरतमुनि का ही अनुकरण किया है। हां विश्वनाथ ने अवश्य इसमें थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है और वह यह कि उन्होंने 'नट' के स्थान पर इसे 'नराश्रयः' माना है। भरतमुनि ने इस की व्युत्पति कैटभ से युद्ध करते हुए विष्णु की प्रगल्भवाणी और धरती पर अम्बर से लात मारने के आघात से मानी है। वाणी और ध्वनि से उत्पन्न होने के कारण ही इसे शब्द वृत्ति माना गया है। या शब्द वृत्ति होने के कारण उसकी उत्पत्ति वाणी और ध्वनि से मानी गयी है। इस वृत्ति को करुण और अद्भुत रस के लिए भरतमुनि ने उपयुक्त बताया है। लेकिन शारदातनय इसे सब रसों के लिए ठीक मानते हैं—'वृत्तिः सर्वत्रः भारती।'

इस वृत्ति के चार भेद हैं—

१. प्ररोचनाः—प्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा करते हुए श्रोताओं को उन्मुख करना।
२. वीथीः—यह रूपक का एक प्रकार है। यह श्रृंगार-रस प्रधान होता है।
३. प्रहसनः—यह भी एक प्रकार का रूपक है।
४. आमुखः—विदूपक और सूत्राधार का वार्तालाप।

२. सात्वतीः—भरतमुनि के अनुसार यह वृत्ति—

१. सत्त्वगुण प्रधान होती है।
२. न्याय वृत्ति से युक्त होती है।
३. हर्ष की प्रचुरता और शोक का अभाव लिए होती है

इसका प्रयोग सत्विक प्रकृति के पात्र करते हैं। इसका उपयोग वीर और रोद्र में तथा यदा-कदा करुण-श्रृंगार में भी किया जाता है। इसका प्रयोगकर्ता धीरोदात्त नायक होता है। यह भी चार प्रकार की होती है—

१. उत्थापकः—युद्धार्थ शत्रु को उत्तेजित करना।
२. परिवर्त्तकः—प्रारम्भ किये हुए कार्य को छोड़कर अन्य कार्य को करना।
३. संलापकः—अनेक रसों और भावों से युक्त उक्ति।
४. संघातकः—मंत्र आदि अलौकिक शक्ति से संघ-भेदन करना।

३. कैशिकीः—भरतमुनि ने इसके ये लक्षण दिये हैं—

१. नेपथ्य से चित्रित की गयी हो।
२. स्त्री पात्रों से युक्त हो।
३. नृत्य गीत की बहुलता हो।
४. कामोप भोग से सम्पन्न हो।

युद्ध के समय विष्णु द्वारा केशों के बांधने से इसकी उत्पति मानी गयी है। रामचन्द्र ने कैशिक का अर्थ स्त्री करते हुए और उन्ही के उपयुक्त होने के कारण इसे कैशिकी माना है। लेकिन अभिनव गुप्त ने इसे भिन्न रूप से व्यक्त किया है। उनके मत से जैसे केश शरीर की शोभा को बढ़ाते हैं उसी प्रकार नाटक की शोभा के हेतु जो क्रिया-व्यापार किया जाता है उसे कैशिकी वृत्ति कहते हैं। भरतमुनि के अनुसार यह सामवेद से उत्पन्न हुई है। इस वृत्ति के चार भेद हैं—

१. नर्मः—प्रिय की प्रसन्नता के हेतु हास-परिहास करना।

२. नर्मस्फूर्जः—प्रथम समागम में सुख के बाद भय होना।

३. नर्मस्फोटः—कुछ भावों से रस की व्यंजना करना।

४. नर्म गर्भः—प्रयोजन की सिद्धि के लिए नायक का प्रच्छन्न प्रवेश करना।

४. **आरभटी वृत्तिः**—इसके निम्नलिखित लक्षण भरत ने बताये हैं—

१. उछल कूद के चित्रों से युक्त हो।

२. इन्द्रजाल आदि के दृश्य हों।

आरभटी का अर्थ योद्धा होता है। अतः इस वृत्ति का प्रयोग तामसी प्रकृति के लोग करते हैं। यह वृत्ति वीभत्स और भयानक रस के लिए उपयुक्त होती है। भरत के अनुसार यह अथर्वेद से जन्मी है। इसके भी चार भेद हैं—

१. संक्षिप्तक। २. अवघातक। ३. वस्तु स्थापन। ४. संफेट।

कुछ अन्य मतः—कुछ आचार्यों ने वृत्तियों को वाक् प्रधान और चेष्टा प्रधान दो भागों में विभक्त किया है। आचार्य उद्भट ने केवल तीन ही वृत्तियां मानी हैं। उन्होंने वृत्ति-विभाजन चेष्टा और निश्चेष्ट दो अवस्थाओं के आधार पर किया है। चेष्टावस्था दो प्रकार की होती हैं—१. न्यायपूर्ण। २. अन्यायपूर्ण। इन्ही अवस्थाओं के आधार पर उन्होंने वृत्तियों का नाम करण भी किया है।

१. न्यायवृत्ति। २. अन्याय वृत्ति। ३. फल संवित्ति।

तीसरी वृत्ति निश्चेष्ट अवस्था पर आधारित है।

चन करने लगे, ठीक वैसे ही जैसे रीति के साथ गुणों का विवेचन करते थे। प्राचीन आलंकारिकों ने वृत्ति के तीन रूप बताये हैं—

१. अनुप्रास जाति। २. समास जाति। ३. नाट्य वृत्ति।

भामह, उद्भट आदि आचार्यों ने वृत्यानुप्रास के आधार पर तीन वृत्तियों का उल्लेख किया--

१. **परुषाः**—इसमें 'रेफ' तथा परुष वर्णों का प्रयोग होता है।

२. **उपनागरिकाः**—इसमें नागरिक (शहरी) स्त्री के समान आकर्षक और मंजे हुए पद-वाक्य होते हैं।

३. **ग्राम्या;**—इसमें कोमल वर्णों की बहुलता होती है।

आनन्दवर्धन ने इन तीनों को शब्दगत वृत्ति और नाट्य वृत्तियों को अर्थगत वृत्ति माना है। अभिनवगुप्त और मम्भट ने वृत्ति और रीति को और भी निकट ला दिया। उन्होंने उपनागरिका, परुषा और ग्राम्या वृत्तियों को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति कहा है। हेमचन्द्र ने इन तीनों वृत्तियों को 'वर्ण संघटना' कहा है।

रुद्रट ने समास युक्त पदों की संघटना को वृत्ति कहा है। इसके दो भेद हैं—

१. **असमस्ताः**—समासरहित पदों से युक्त। इसी को वैदर्भी कहते हैं—'वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव।"

२. **समस्ताः**—समास वाले पद। इसके तीन भेद हैं—पांचाली, लाटीया और गौड़ीया। रुद्रट के इस विवेचन से स्पष्ट है कि वे रीति और वृत्ति में कोई विशेष भेद नहीं मानते थे। उन्होंने ५ वृत्तियां मानी हैं--१. मधुरा २. प्रौढ़ा ३. परुषा ८. ललिता ५. भद्रा। नेमिसाधु ने रुद्रट की टीका में १. ओजस्विनी २. निष्ठुरा ३. गम्भीरा नयी वृत्तियों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार उन्होने आठ वृत्तियां मानी हैं। महाराजा भोज ने १२ वृत्तियों का उल्लेख किया है--

१. गम्भीरा २. ओजस्विनी ३. प्रौढ़ा ४. मधुरा ५. निष्ठुरा ६. श्लथा ७. कठोरा ८. कोमला ९. मिश्रा १०. ललिता ११. परुषा १२. मिता। इनके अतिरिक्त भोज ने देश-भेद के आधार पर बारह प्रकार की अनुप्रास वृत्तियों का भी उल्लेख किया है—१. कर्णाटी २. कौन्तली ३. कंकी ४. कोंङ्कणी ५ बाण वासिका ६. द्राविपी ७. माथुर ८. मात्सी ९. मागधी १०. ताम्रलिप्तिका ११. औड्री १२. पौन्ड्री। लेकिन भोज ने आगे चलकर इन सब का समाहार गुणों और नाट्य वृत्तियों में कर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रीति और वृत्ति में सामंजस्य तो है और कई विद्वानों ने दोनों को बहुत ही समीप ला दिया है लेकिन फिर भी रीति और वृत्ति दोनों एक दूसरे के पर्याय नहीं बन सके हैं। यह ठीक है कि शब्द वृत्तियां रीति के अत्यन्त निकट हैं फिर भी रीति और वृत्ति में बड़ा भारी अन्तर है। रीति में अन्तः संघटना और वर्ण योजना दोनों तत्त्व होते हैं लेकिन वृत्ति में वर्ण-योजना ही रही है।

३३

औचित्य सम्प्रदाय

१. सामान्य परिचय ।
२. परिभाषा ।
३. परिचयात्मक इतिहास ।
४. औचित्य और रस ।
५. औचित्य के भेद ।
६. प्रमुख भेदों का परिचय ।
७. अनौचित्य परिहार निर्देश ।
८. उपसंहार ।

सामान्य परिचय—रस, अलंकार, ध्वनि और रीति सम्प्रदायों की भांति ही औचित्य सम्प्रदाय भी एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है। पहले चार सम्प्रदायों की भांति ही इस सम्प्रदाय ने भी काव्य में अपने महत्व की स्पष्ट शब्दों में घोषणा की । अलंकार-वादियों ने प्रेयस् और रसवत्, ध्वनिवादियों ने असंलाक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि और रीतिवादियों ने कांति आदि गुणों के अन्तर्गत रस की अटल सत्ता को स्वीकार किया है। इधर औचित्यवादी मानते तो रस को ही काव्य की आत्मा हैं, परन्तु औचित्य को वे रस का भी प्राण कहते हैं।

औचित्य की परिभाषा—औचित्य सम्प्रदाय के प्रतिष्ठायक आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

औचित्यं प्रादुर्चायाः सदृशं किलयस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

अर्थात् आचार्यों ने अनुरूप वस्तु-योग को औचित्य कहा है । तथा उचित के भाव को ही औचित्य नाम से अभिहित किया है।

ग्राचार्यों ने भी इसके महत्व को स्वीकार किया है। रीतिवादियों ने तो ग्रौचित्य को रीति का नियामक तक कहा है।

परिचयात्मक इतिहास

भरतमुनि—ग्रौचित्य पर सर्वप्रथम भरतमुनि ने प्रकाश डाला है। भरत मुनि ने वेश, गति, पाठ्य ग्रौर ग्रभिनय ग्रादि नाटक के सभी ग्रंगों में ग्रौचित्य-विधान को महत्व दिया है। यही नहीं, उन्होंने तो रस-निष्पत्ति तक के लिए ग्रौचित्य को ग्रनिवार्य माना है।

भामह—काव्यालंकारी भामह ने गुण को ग्रौचित्य ग्रौर दोप को ग्रनौचित्य माना है। उन्होंने सभी गुणों का ग्रौचित्य के ग्रन्तर्गत ही सन्निवेश कर दिया है। यही नहीं, उन्होंने तो यहां तक घोषणा कर दी है कि ग्रौचित्य के ग्रनुरूप यदि दोषों का भी प्रयोग किया जाय तो वे दोष नहीं रहते। उनका दोषत्व समाप्त हो जाता है।

दण्डी—दण्डी भी उचित प्रयोग से दोष-परिहार मानते हैं। उन्होने भामह के स्वर में स्वर मिलाते हुए लिखा है—

विरोधस्सकलोप्येष कदाचित्कवि कौशलात्।
उत्क्रम्य दोष गणना गुण वीथी विहागते ।।

यशोवर्मा—कन्नौज के नरेश श्री यशोवर्मा ने 'वचनौचित्य' पर बल दिया है। उन्होंने 'रामाभ्युदय' नाटक में लिखा है—

"ग्रौचित्य वचसां प्रकृत्यंनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता,
पुष्टि स्थवसरे रहस्य च कथामार्गे न घतिक्रमः।
शुद्धि प्रस्तुत संविधान कविधौ, प्रौढिश्च शब्दार्थयोः,
विद्वद्भिः परिभाव्यतायवहितैः एतावदेवास्तु नः।"

ग्रर्थात् वार्तालाप पात्रों की प्रकृति ग्रनुकूल तथा उचित स्थान पर रस की प्रतीति होनी चाहिये।

भट्टलोल्लट—ग्रापने महाकाव्यों में रस-प्रतीति के लिए ग्रौचित्य पर जोर दिया है। वैसे ग्रापने काव्य के सभी उपकरणों में ग्रौचित्य को ग्रनिवार्य माना है।

ग्रानन्दवर्धन—ग्रापके मतानुसार रस, ध्वनि ग्रौर ग्रौचित्य का घनिष्ट सम्वन्ध है। ग्रौचित्य के सम्वन्ध में उन्होंने लिखा है—

"ग्रनौचित्याद कृते नान्यत् रस भंगस्य कारणम्।
ग्रौचित्योप निवन्धस्तु रसस्योप निषत्परा ।।"

ग्रर्थात् रस-विकृति का प्रमुख कारण ग्रनौचित्य है। ग्रौचित्य का काव्य में प्रयोग, रस संचार का एक मात्र रहस्य है। ग्रानन्दवर्धन ने रस-संचार के लिए निम्न-लिखित ग्रौचित्यों को ग्रनिवार्य माना है—

क्षेमेन्द्र—क्षेमेन्द्र ने औचित्य को सबसे अधिक महत्व प्रदान किया है। आप अभिनव गुप्त के शिष्य थे। लेकिन ध्वनि से रस को अधिक महत्व देते थे। जब काव्य की आत्मा का प्रश्न इनके सामने आया तो उन्होंने लिखा—

"औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।"

अर्थात् औचित्य रस का भी प्राण है। तात्पर्य यह है कि काव्य की आत्मा तो रस को ही कहा जायेगा, लेकिन रस की आत्मा औचित्य है। दूसरे शब्दों में काव्य में रस के द्वारा प्राण प्रतिष्ठा होती है तो औचित्य उसके जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है।

एक अन्य स्थल पर क्षेमेन्द्र इसे और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

औचित्यस्य चमत्कार-कारिणश्चारुर्वणे।
रस जीवित भूतस्य विचार कुरुतेऽधुना॥

अर्थात् काव्य-चमत्कार का मुख्य रहस्य औचित्य ही है। यदि काव्य में औचित्य न हो तो न तो काव्य में चमत्कार-सृष्टि ही सम्भव है और न रसास्वादन की क्षमता ही। वास्तव में औचित्य रस का जीवन ही है।

औचित्य और रस—प्रायः सभी सम्प्रदाय के आचार्यों ने रस के लिए औचित्य को अनिवार्य माना है। राजशेखर ने लिखा है कि उचितानुचित के विवेक के बिना रसानुभूति नहीं हो सकती—उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः इति यायावरीयः।

अभिनव गुप्त ने आनन्दवर्धनाचार्य के मत का ही पोषण करते हुए औचित्य से रसास्वाद और अनौचित्य से रसाभास माना है—

"औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेः आस्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसः व्यभिचारिण्या भावः अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्य सीतायामिवरतेः"।

अभिनव गुप्त के गुरु आनन्दवर्धन ने भी रस से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाले उपकरणों में औचित्य का समावेश अनिवार्य माना है—

वाच्यानां, वाचकानां, च यदौचित्येन योजनम्।
रसादि विषयेणैतत कर्म मुख्यं महाकवेः॥

पंडितराज जगन्नाथ ने भी लिखा है कि जो बातें अनुचित हैं, उनको काव्य में लाने से वे रसभंग का कारण होती हैं। अतः अनुचित को कभी-भी काव्य में नहीं आने देना चाहिये। जिस प्रकार शर्बत में किरकिरी वस्तु गिर जाने से वह खटकने लगता है उसी प्रकार रसानुभूति में जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार में लोक-शास्त्र के विरुद्ध तत्त्वों के समावेश से बड़ा व्याघात पहुँचता है। क्योंकि ये फिर अनौचित्य युक्त हो जाती हैं।

आचार्य क्षेमेन्द्र तो औचित्य के बिना रस की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते—

"अलंकारास्त्वलंकारा गुणाः एव गुणाः सदा।
औचित्यम् रस सिद्धस्य.....................॥"

रस ही नहीं अलंकार, गुणों के लिए भी उन्होंने औचित्य को अनिवार्य माना है।

इस संक्षिप्त-विवेचन से स्पष्ट है कि औचित्य और रस के सम्बन्ध में प्रायः सभी आचार्य एक मत हैं। सभी की धारणा है कि रस के लिए ही नहीं काव्य के सभी अंगों के लिए औचित्य एक अनिवार्य तत्त्व है।

औचित्य के भेद—काव्य में जितने अंगों, तत्त्वों या उपांगों की सत्ता मानी गई है, औचित्य के भी उतने ही भेद किये जा सकते हैं। आनन्दवर्धन ने ६ प्रमुख भेदों का निर्देश किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में २७ प्रकार के औचित्यों का उल्लेख किया है—

१. पद औचित्य
२. वाक्य औचित्य
३. प्रबन्धार्थ औचित्य
४. गुण औचित्य
५. अलंकार औचित्य
६. रस औचित्य
७. क्रिया औचित्य
८. कारक औचित्य
९. लिंग औचित्य
१०. वचन औचित्य
११. विशेषण औचित्य
१२. उपसर्ग औचित्य
१३. निपात औचित्य
१४. काल औचित्य
१५. देश औचित्य
१६. कुल औचित्य
१७. व्रत औचित्य
१८. तत्त्व औचित्य
१९. सत्य औचित्य
२०. अभिप्राय औचित्य
२१. स्वभाव औचित्य
२२. सारसंग्रह औचित्य
२३. प्रतिभा औचित्य
२४. अवस्था औचित्य
२५. विचार औचित्य
२६. नाम औचित्य
२७. आशीर्वाद औचित्य।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के इन भेदों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि औचित्य काव्य के लिए एकदम अनिवार्य है। यदि किसी स्थल पर चाहे वह कितना ही ही छोटा क्यों न हो, अनौचित्य आगया तो काव्य-चमत्कार विनष्ट हो जायेगा। यही कारण है कि उन्होंने कुल, नाम, आशीर्वाद, व्रत आदि में भी औचित्य की सत्ता को अनिवार्य कर दिया है।

आचार्य भरत ने रस-संचार के लिए प्रमुख रूप से चार प्रकार के औचित्य माने हैं—

"वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो,
वेषानुरूपश्च गति प्रचारः।
गति प्रचारानुगतं च पाठ्यम्,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।

१. अलंकार औचित्य—उदाहरण।

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई।
छवि ग्रह दीप शिखा जनु वरई॥

यहां उत्प्रेक्षा के प्रयोग में किसी भी प्रकार का अनौचित्य दिखाई नहीं देता। सुन्दर नारी की सुन्दरता के लिए जो उपमान यहां प्रयुक्त हुआ है वह औचित्य के विरुद्ध नहीं है।

२. क्रियागत औचित्य—आचार्य शुक्ल ने सूर के पद की निम्ननिखित पंक्तियों में क्रिया गत औचित्य माना है—

नन्द व्रज लीजै ठोकि वजाइ
देहु विदा मिलि जाहि मधुपुरी जहं गोकुल के राइ।

यहां 'ठोकि वजाई' में अनेक भाव प्रक्रियाएं एक साथ सम्मिलित होकर उचित ढंग से व्यक्त हुई हैं।

३. स्वभावोक्ति औचित्य—महाकवि निराला के काव्य में तथा सूर के पदों में यह औचित्य भरा पड़ा है। निराला की ये पंक्तियां देखिये—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर जाता
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता.......।

यहां भिखारी के लिए जो कुछ कहा गया है उसमें सहजता और स्वाभाविकता से पूर्ण यथार्थ के दर्शन होते हैं। भिखारी के शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के चित्रणों से सम्बन्धित उक्तियों में इसीलिए कोई अनौचित्य दिखाई नहीं देता है।

४. पृष्ठभूमि का औचित्य—किसी पात्र की मानसिक स्थिति के चित्रण के लिए या किसी भाव विशेष की अभिव्यक्ति के लिए कवि जिस वातावरण को पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित करता है, उसे पृष्ठभूमि का औचित्य कहा जाता है। कामायनी की निम्नलिखित पंक्तियां इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं—

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छांह।
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर जल था
एक तरल था एक सघन।
एक तत्त्व ही की प्रधानता
उसे कहो जड़ या चेतन।

यहां हिमगिरि का उत्तुङ्ग शिखर, प्रलय प्रवाह, और 'जड़-चेतन' आदि पदांशों के द्वारा कवि ने मनु की तात्कालिक मनः स्थिति को व्यक्त किया है। पृष्ठभूमि के रूप में यहां जो जलमय वातावरण आया है वह मनु के मनोभावों को सशक्त रूप में अभिव्यक्त करने के लिए लाया गया है। प्रलय-त्रस्त मनु और इस पृष्ठभूमि में किसी भी प्रकार का अनौचित्य दिखाई नहीं देता। दोनों एक दूसरे के अनुरूप और अनुकूल हैं।

अनुकृति औचित्य—डा० सहल ने इन पंक्तियों में अनुकृति औचित्य स्वीकार किया है। पंक्तियां मैथिलीशरण गुप्त की हैं—

"सखि निरखि नदी की धारा
ढलमल ढलमल चंचल अंचल झलमल झलमल तारा
निर्मल जल अन्तस्तल भर के उछल-उछल कर छल-छल करके
थल थल करके, कल-कल करके बिखराता है पारा
सखि निरखि नदी की धारा।"

अब एक प्रकार के ऐसे औचित्य का भी उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है, जहां कोई दोष औचित्य के कारण दोष नहीं रहा हो और गुण की सीमा में आगया हो। तुलसीदास की इन पंक्तियों में देखिये—खग-मृगों से बातें करना लोक-विरुद्ध है अतः यह दोष है। इसे चाहें तो अपार्थ दोष कह सकते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी
तुम देखी सीता मृग नयनी

लेकिन फिर भी यहां यह दोष खटकता नहीं है और न ही भावानुभूति के प्रेषण में बाधा पहुँचाता है। इसका कारण यह है कि यह पात्र की मनःस्थिति के अनुकूल है। यह सीता हरण के प्रसंग में कही गई पंक्तियां है। सीता के वियोग से राम व्याकुल हैं, उन्माद का समावेश हो गया है अतः प्रलाप करने लग गये हैं। अतः उन्मादी या पागल की बकवास (और बालक के आलाप) को दोष युक्त नहीं कहा जा सकता।

आचार्यों द्वारा अनौचित्य परिहार-निर्देश—अनौचित्य का परिहार औचित्य के प्रयोग से होता है। जहां औचित्य होगा वहां अनौचित्य या दोष भी अपना विकृत रूप त्याग कर काव्य-सौन्दर्य के उत्कर्षक बन जाते हैं। फिर भी आचार्यों ने अनौचित्य को दूर करने के लिए कुछ शास्त्रीय नियमों की सर्जना की हैं। उनमें से प्रमुख ये हैं—

१. दण्डी के मतानुसार अनौचित्य का देश, काल पात्र और प्रसंगानुकूल प्रयोग से अनौचित्य दूर हो जाता है।

२. रुद्रट के मतानुसार अनौचित्य-परिहार के लिए दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१. विरोधी रस में अंगी रस का मिश्रण नहीं होना चाहिये। जैसे शृंगार में करुण का मिश्रण अनुचित है।

२. अंग रस की आवश्यकता से अधिक वृद्धि उचित नहीं है।

१. अलंकार औचित्य—उदाहरण।

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई।
छवि ग्रह दीप शिखा जनु वरई॥

यहां उत्प्रेक्षा के प्रयोग में किसी भी प्रकार का अनौचित्य दिखाई नहीं देता। सुन्दर नारी की सुन्दरता के लिए जो उपमान यहां प्रयुक्त हुआ है वह औचित्य के विरुद्ध नहीं है।

२. क्रियागत औचित्य—आचार्य शुक्ल ने सूर के पद की निम्ननिखित पंक्तियों में क्रिया गत औचित्य माना है—

नन्द व्रज लीजै ठोकि बजाइ
देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहं गोकुल के राइ।

यहां 'ठोकि वजाई' में अनेक भाव प्रक्रियाएं एक साथ सम्मिलित होकर उचित ढंग से व्यक्त हुई हैं।

३. स्वभावोक्ति औचित्य—महाकवि निराला के काव्य में तथा सूर के पदों में यह औचित्य भरा पड़ा है। निराला की ये पंक्तियां देखिये—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर जाता
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता……।

यहां भिखारी के लिए जो कुछ कहा गया है उसमें सहजता और स्वाभाविकता से पूर्ण यथार्थ के दर्शन होते हैं। भिखारी के शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के चित्रणों से सम्वन्धित उक्तियों में इसीलिए कोई अनौचित्य दिखाई नहीं देता है।

४. पृष्ठभूमि का औचित्य—किसी पात्र की मानसिक स्थिति के चित्रण के लिए या किसी भाव विशेष की अभिव्यक्ति के लिए कवि जिस वातावरण को पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित करता है, उसे पृष्ठभूमि का औचित्य कहा जाता है। कामायनी की निम्नलिखित पंक्तियां इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं—

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छांह।
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर जल था
एक तरल था एक सघन।
एक तत्व ही की प्रधानता
उसे कहो जड़ या चेतन।

यहां हिमगिरि का उत्तुङ्ग शिखर, प्रलय प्रवाह, और 'जड़-चेतन' आदि पदांशों के द्वारा कवि ने मनु की तात्कालिक मनः स्थिति को व्यक्त किया है। पृष्ठभूमि के रूप में यहां जो जलमय वातावरण आया है वह मनु के मनोभावों को सशक्त रूप में अभिव्यक्त करने के लिए लाया गया है। प्रलय-त्रस्त मनु और इस पृष्ठभूमि में किसी भी प्रकार का अनौचित्य दिखाई नहीं देता। दोनों एक दूसरे के अनुरूप और अनुकूल हैं।

५. अनुकृति औचित्य—डा० सहल ने इन पंक्तियों में अनुकृति औचित्य स्वीकार किया है। पंक्तियां मैथिलीशरण गुप्त की हैं—

"सखि निरखि नदी की धारा
ढलमल ढलमल चंचल अंचल झलमल झलमल तारा
निर्मल जल अन्तस्तल भर के उछल-उछल कर छल-छल करके
थल थल करके, कल-कल करके बिखराता है पारा
सखि निरखि नदी की धारा।"

अब एक प्रकार के ऐसे औचित्य का भी उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है, जहां कोई दोष औचित्य के कारण दोष नहीं रहा हो और गुण की सीमा में आगया हो। तुलसीदास की इन पंक्तियों में देखिये—खग-मृगों से बातें करना लोक-विरुद्ध है अतः यह दोष है। इसे चाहें तो अपार्थ दोष कह सकते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी
तुम देखी सीता मृग नयनी

लेकिन फिर भी यहां यह दोष खटकता नहीं है और न ही भावानुभूति के प्रेषण में बाधा पहुँचाता है। इसका कारण यह है कि यह पात्र की मनःस्थिति के अनुकूल है। यह सीता हरण के प्रसंग में कही गई पंक्तियां है। सीता के वियोग से राम व्याकुल हैं, उन्माद का समावेश हो गया है अतः प्रलाप करने लग गये हैं। अतः उन्मादी या पागल की बकवास (और बालक के आलाप) को दोष युक्त नहीं कहा जा सकता।

आचार्यों द्वारा अनौचित्य परिहार-निर्देश—अनौचित्य का परिहार औचित्य के प्रयोग से होता है। जहां औचित्य होगा वहां अनौचित्य या दोष भी अपना विकृत रूप त्याग कर काव्य-सौन्दर्य के उत्कर्षक बन जाते हैं। फिर भी आचार्यों ने अनौचित्य को दूर करने के लिए कुछ शास्त्रीय नियमों की सर्जना की हैं। उनमें से प्रमुख ये हैं—

१. दण्डी के मतानुसार अनौचित्य का देश, काल पात्र और प्रसंगानुकूल प्रयोग से अनौचित्य दूर हो जाता है।

२. रुद्रट के मतानुसार अनौचित्य-परिहार के लिए दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१. विरोधी रस में अंगी रस का मिश्रण नहीं होना चाहिये। जैसे शृंगार में करुण का मिश्रण अनुचित है।

२. अंग रस की आवश्यकता से अधिक वृद्धि उचित नहीं है।

३. आनन्दवर्धन ने वियोग-शृंगार में यमक अलंकार का प्रयोग अनुचित माना है। उपमा आदि का प्रयोग भले ही किया जा सकता है, लेकिन निम्नलिखित शर्तों के साथ......

१. रस के अंग रूप में उनका वर्णन होना चाहिये।

२. समयानुकूल उनका ग्रहण और त्याग हो।

३. आदि से अन्त तक उनके निर्वाह की इच्छा रखना ठीक नहीं है।

४. यदि संयोगवश आदि से अन्त तक इनका निर्वाह हो भी जाय, तो सावधानी से फिर देख लेना आवश्यक है।

५. सभी गुणों को एक ही रस के आश्रित नहीं कर देना चाहिये।

६. प्रसाद-गुण के अतिरिक्त अन्य गुणों का सभी रसों में प्रयोग अनुचित है।

७. रस-विरुद्ध वर्णों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसे शृंगार के लिए श्रुति कटु शब्दों का निषेध है।

८. ऐतिहासिक कथानक में प्रमुख रस को खण्डित करने वाली यदि कोई स्थिति आजाये तो सत्य कथा को त्याग कर प्रसंगानुकूल नयी कल्पना कर लेनी चाहिये।

९. संधियों आदि का प्रयोग शास्त्रानुसार नहीं रस-व्यंजना की दृष्टि से उचित होता है।

१०. अवसरानुकूल रसों का उद्दीपन और शमन करते रहना उचित है।

११. अलंकारों की योजना रसानुकूल होनी चाहिये।

१२. प्रधान रस की अपेक्षा गौण रस का आधिक्य नहीं होना चाहिये।

१३. विरोधी रस के संचारी यदि आजायें तो शीघ्र उन्हें रसानुकूल बना लेना उचित है।

१४. विरोधी रस की तुलना में न्यूनता करनी चाहिये।

१५. विरोधी रस को भिन्न आश्रय देकर दोषमुक्त हुआ जा सकता है।

१६. "यदि एक ही आश्रय में अविरोधी रस के नैरन्तर्य से दोष आता हो तो बीच में किसी अन्य अविरोधी रस के वर्णन द्वारा परिहार सम्भव है।"

१७. विरोधी रस के नैरन्तर्य को खण्डित कर देने से भी दोष का परिहार हो जाता है।

संक्षेप में ये ही कुछ निर्देश हैं जिनके प्रयोग से काव्य को अनौचित्य-दोष से मुक्त रखा जा सकता है।